Chapter ग्यारह

भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका में प्रवेश

सूत उवाच
आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान्स्वकान् ।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; आनर्तान्—आनर्तान (द्वारका) नामक देश में; सः—वे; उपव्रज्य—निकट पहुँचकर; स्वृद्धान्—अत्यन्त समृद्ध; जन-पदान्—नगर; स्वकान्—अपना; दध्मौ—बजाया; दरवरम्—शुभ शंख (पाञ्चजन्य) को; तेषाम्—उनकी; विषादम्—निराशा को; शमयन्—शान्त करते हुए; इव—मानो।.

सूत गोस्वामी ने कहा : आनर्तों के देश के नाम से विख्यात अपनी अत्यन्त समृद्ध राजनगरी (द्वारका) के निकट पहुँच कर, भगवान् ने अपना आगमन उद्घोषित करने तथा निवासियों की निराशा को शांत करने के लिए अपना शुभ शंख बजाया।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध के कारण भगवान् अपनी समृद्ध राजनगरी द्वारका से दीर्घकाल तक बाहर रहे, जिससे नगर-निवासी उनके वियोग के कारण विषाद से अभिभूत थे। जब भगवान् पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तब उनके नित्य पार्षद भी उनके साथ आते हैं, जिस तरह राजा के साथ उसका पूरा दल चलता है। भगवान् के ऐसे पार्षद नित्यमुक्त आत्मा होते हैं और वे अत्यधिक स्नेह के कारण, क्षण भर भी, भगवान् का विछोह सहन नहीं कर पाते। इस प्रकार द्वारका नगरी के निवासी खिन्न थे और किसी भी क्षण होने वाले भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा में थे। अत: शुभ शंख की उद्घोषक ध्वनि अत्यन्त उत्साहवर्धक थी और इस ध्वनि से उनकी खिन्नता का शमन हुआ। वे सब भगवान् को अपने बीच देखने के लिए अत्यन्त इच्छुक थे और वे सभी उनका ठीक से स्वागत करने के लिए चौकन्ने हो गये। ये भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के लक्षण हैं।

स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।

दाध्मायमान: करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वन: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; उच्चकाशे—स्वच्छ हो गया; धवल-उदर:—सफेद तथा बड़े पेटवाला; दर:—शंख; अपि—यद्यपि वह ऐसा है; उरुक्रमस्य—महान् साहसी का; अधरशोण—उनके होठों के दिव्य गुण से; शोणिमा—लाल हुआ; दाध्मायमान:—बजाया जाकर; कर-कञ्ज-सम्पुटे—कर-कमलों की हथेली द्वारा पकड़ा जाकर; यथा—जिस तरह; अब्ज-खण्डे—कमल-दण्डों से; कल-हंस:—सुन्दर हंस; उत्स्वन:—जोर से शब्द करता।

श्वेत तथा मोटे पेंदेवाला शंख, भगवान् के हाथों द्वारा पकड़ा जाकर तथा उनके द्वारा बजाया जाकर, ऐसा लग रहा था मानो उनके दिव्य होठों का स्पर्श करके लाल हो गया हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई श्वेत हंस लाल रंग के कमलदण्डों के बीच खेल रहा हो।

तात्पर्य : भगवान् के होठों के स्पर्श से श्वेत शंख की लालिमा आध्यात्मिक महत्ता की सूचक है। भगवान् पूरे के पूरे आत्मा हैं और भौतिक पदार्थ इस आध्यात्मिक अस्तित्व का अज्ञान है। वस्तुत: आध्यात्मिक प्रकाश में पदार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है और परमेश्वर श्रीकृष्ण के स्पर्श मात्र से यह आध्यात्मिक अनुभूति तत्काल हो जाती है। भगवान् जगत के कण-कण में व्याप्त हैं और वे किसी में भी अपनी उपस्थिति प्रकट कर सकते हैं। भगवान् के प्रगाढ़ प्रेम तथा भक्तिमय सेवा से या दूसरे शब्दों में भगवान् के आध्यात्मिक स्पर्श से प्रत्येक वस्तु उसी तरह लाल हो जाती है, जिस प्रकार भगवान् के होठों में लगा शंख। *परमहंस* अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष आध्यात्मिक आनन्दरूपी जल में कलहंस के समान है, जो भगवान् के चरणकमलों से नित्य अलंकृत होता रहता है।

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् ।
प्रत्युद्ययु: प्रजा: सर्वा भर्तृदर्शनलालसा: ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; उपश्रुत्य—सुनकर; निनदम्—शब्द को; जगत्-भय—भौतिक संसार का भय; भय-आवहम्—भयभीत बनानेवाला तत्त्व; प्रति—की ओर; उद्ययु:—तेजी से आगे बढ़े; प्रजा:—नागरिक; सर्वा:—सभी; भर्तृ—रक्षक; दर्शन—दर्शन की; लालसा:—इच्छा वाले।

भौतिक जगत में साक्षात् भय को भी भयभीत बनानेवाले, उस शब्द को सुनकर द्वारका के नागरिक उनकी ओर तेजी से दौड़ने लगे, जिससे वे भक्तों के रक्षक भगवान् का चिर अभिलषित दर्शन कर सकें।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् कृष्ण के समय द्वारका में जो नागरिक रह रहे थे, वे सभी मुक्त जीव थे, जो भगवान् के साथ उनके पाषदों के रूप में अवतरित हुए थे। वे सभी भगवान् के दर्शन के लिए लालायित थे, यद्यपि आध्यात्मिक स्पर्श के कारण वे उनसे कभी विलग न थे। जिस प्रकार वृन्दावन की गोपियाँ भगवान् कृष्ण के गो–चारण के समय उनके गाँव से दूर जाने पर सदैव उनके विषय में सोचती रहती थीं, उसी प्रकार द्वारका के नागरिक भी द्वारका से दूर कुरुक्षेत्र युद्ध में भाग लेने के लिए गये हुए कृष्ण के विचारों में तल्लीन रहते थे। बंगाल के कुछ सुप्रसिद्ध कथा लेखकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका के कृष्ण भिन्न–भिन्न व्यक्ति थे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस निष्कर्ष में कोई सचाई नहीं है। कुरुक्षेत्र के कृष्ण तथा द्वारका के कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं।

द्वारका के नागरिक दिव्य नगरी से भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति के कारण, उसी प्रकार शोकाकुल थे, जिस प्रकार रात्रि में सूर्य की अनुपस्थिति के कारण हम सब उद्विग्न हो उठते हैं। भगवान् कृष्ण द्वारा की गयी ध्वनि, प्रभात के समय सूर्योदय जैसी थी। अतएव द्वारका के सारे वासी निद्रा जौसी अवस्था से जाग गये, क्योंकि कृष्णरूपी सूर्य का उदय हो चुका था और वे सब उनका दर्शन पाने के लिए फुर्ती से उनकी ओर आगे बढ़े। भगवद्भक्त भगवान् के सिवा अन्य किसी को अपना रक्षक नहीं मानते।

भगवान् का यह शब्द भगवान् से अभिन्न है, जैसाकि हम भगवान् की द्वंद्वरहित स्थिति की व्याख्या करते समय बता चुके हैं। हमारी वर्तमान भौतिक स्थिति भय से ओत–प्रोत है। आहार, आश्रय, भय तथा मैथुन—भौतिक अवस्था की इन चार समस्याओं में से भय की समस्या हमें सबसे अधिक कष्ट पहुँचाने वाली है। हम अगली समस्या को न जानने के कारण सदैव भयभीत रहते हैं। यह सारा भौतिक जगत समस्याओं से भरा पड़ा है, अतएव भय की समस्या सर्व–प्रमुख रहती है। इसका कारण भगवान् की भ्रामक शक्ति के साथ हमारा सान्निध्य है, जो माया अथवा बहिरंगा शक्ति के रूप में जानी जाती है। फिर भी जैसे ही भगवान् की ध्वनि होती है—जिसका प्रतिनिधित्व उनके पवित्र नाम द्वारा किया जाता है—वैसे ही सारा भय तत्काल दूर हो जाता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने निम्नलिखित सोलह शब्दों द्वारा इसे उच्चरित की थी :

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

हम इन शब्दों का लाभ उठा सकते हैं और संसार की भयावह समस्याओं से उबर सकते हैं।

तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृता: ।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥ ४॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखा: प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भका: ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; उपनीत—अर्पित करके; बलय:—भेंटें; रवे:—सूर्य तक; दीपम्—दीपक; इव—सदृश; आदृता:—आदरपूर्वक; आत्म-आरामम्—आत्म-निर्भर को; पूर्ण-कामम्—पूर्णतया संतुष्ट; निज-लाभेन—अपनी निजी शक्ति से; नित्य-दा—निरन्तर पूर्ति करनेवाले; प्रीति—स्नेह; उत्फुल्ल-मुखा:—प्रसन्नमुख; प्रोचु:—कहा; हर्ष—प्रसन्न हुए; गद्गदया—आह्लादयुक्त; गिरा—वाणी; पितरम्—पिता को; सर्व—सारे; सुहृदम्—मित्रों को; अवितारम्—संरक्षक को; इव—सदृश; अर्भका:—बालक।

सारे नागरिक अपनी-अपनी भेंटें लिये हुए भगवान् के सम्मुख आये और उन्हें उन परम संतुष्ट तथा आत्म-निर्भर भगवान् को अर्पित किया, जो अपनी निजी शक्ति से अन्यों की आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करते रहते हैं। ये भेंटें सूर्य को दिये गये दीप-दान जैसी थीं। फिर भी सारे नागरिक भगवान् के स्वागत में ऐसी आह्लादमयी भाषा में बोलने लगे, मानो बच्चे अपने अभिभावक तथा पिता का स्वागत कर रहे हों।

तात्पर्य : परम भगवान् को यहाँ पर *आत्माराम* कहा गया है। वे आत्म-निर्भर हैं और उन्हें अपने से आगे अन्यत्र सुख की खोज करने की आवश्यकता नहीं है। वे आत्मनिर्भर हैं, क्योंकि उनका दिव्य अस्तित्व ही पूर्ण आनन्दमय है। वे शाश्वत विद्यमान हैं; वे सर्वज्ञ हैं और सर्व-आनन्दमय हैं। अतएव, उन्हें किसी भेंट की आवश्यकता नहीं है, चाहे वह कितनी भी मूल्यवान क्यों न हो। फिर भी वे सबों के शुभचिन्तक हैं, अत: यदि शुद्ध भक्तिमय सेवा में कोई उन्हें कुछ अर्पित करता है, तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता है, क्योंकि वस्तुएँ स्वयं उनकी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। यहाँ पर उपमा दी गई है कि भगवान् को भेंट की जाने वाली वस्तुएँ सूर्यदेव की पूजा हेतु दीप-दान जैसी हैं। जो भी वस्तु प्रज्वलित एवं प्रकाशमय होती है, वह सूर्य की शक्ति का उद्भवन है, तो भी सूर्यदेव की पूजा करने के लिए दीप-दान आवश्यक है। सूर्य की पूजा

करते समय पूजा करनेवाला उनसे कुछ न कुछ माँग करता है, लेकिन भगवान् की भक्ति करने पर दोनों ओर से कोई माँग किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो भगवान् और भक्त के बीच शुद्ध प्रेम तथा स्नेह का प्रतीक है।

भगवान् सभी जीवों के परम पिता हैं, अतएव जो लोग भगवान् के साथ इस जीवन्त सम्बन्ध से अवगत हैं, वे पिता से पुत्र की तरह माँग कर सकते हैं और पिता भी अपने आज्ञाकारी पुत्रों की माँग पूरी करते हुए बिना किसी सौदेबाजी के प्रसन्नता का अनुभव करता है। भगवान् कल्पवृक्ष के तुल्य हैं और उनसे कोई भी व्यक्ति उनकी अहैतुकी कृपा से कुछ भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु परम पिता होने के कारण, भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को कोई ऐसी वस्तु नहीं देत, जो भक्ति के मार्ग में बाधक हो। जो लोग भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगे हैं, वे उनके दिव्य आकर्षण के द्वारा अनन्य भक्ति के पद तक उन्नति कर सकते हैं।

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नताः स्म—हम नतमस्तक हुए थे; ते—आपके समक्ष; नाथ—हे भगवान्; सदा—सदैव; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल; विरिञ्च—ब्रह्मा, प्रथम जीव; वैरिञ्च्य—ब्रह्मा के पुत्र, यथा सनक तथा सनातन; सुर-इन्द्र—स्वर्ग का राजा; वन्दितम्—पूजित; परायणम्—सर्वोपरि; क्षेमम्—कुशल, कल्याण; इह—इस जीवन में; इच्छताम्—इच्छा करनेवाला; परम्—सर्वोच्च; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; कालः—प्रबल काल; प्रभवेत्—अपना प्रभाव डाल सकता है; परः—दिव्य; प्रभुः—परमेश्वर।

नागरिकों ने कहा : हे भगवन्, आप ब्रह्मा, चारों कुमार तथा स्वर्ग के राजा जैसे समस्त देवताओं द्वारा भी पूजित हैं। आप उन लोगों के परम आश्रय हैं, जो जीवन का सर्वोच्च लाभ उठाने के लिए इच्छुक हैं। आप परम दिव्य भगवान् हैं और प्रबल काल भी आप पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता, ब्रह्म-संहिता* तथा अन्य प्रामाणिक वैदिक साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है कि श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं। न तो कोई उनके समान है, न ही कोई उनसे बढ़कर है और यही सारे शास्त्रों का निर्णय है। सारे जीव जो परमेश्वर के अंशस्वरूप हैं और उन पर आश्रित हैं, उन पर

देश–काल का प्रभाव पड़ता है। सारे जीव अधीनस्थ–ब्रह्म हैं और परमेश्वर परम अधिष्ठता हैं। जैसे ही इस सुस्पष्ट तथ्य को भूल जाते है, हम तत्काल मोहग्रस्त हो जाते हैं और तीनों तापों से उसी तरह ग्रस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार किसी को सघन अंधकार में रखा गया हो। सजग जीव की विमल चेतना ईश–चेतना है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य सदैव नतमस्तक हो जाता है।

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भवाय—कल्याण के लिए; नः—हम सबों के; त्वम्—आप; भव—बनें; विश्व-भावन—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा; त्वम्—आप; एव—निश्चय ही; माता—माता; अथ—तथा; सुहृत्—शुभचिन्तक; पतिः—पति; पिता—पिता; त्वम्—आप; सत्-गुरुः—गुरु; नः—हमारे; परमम्—परम; च—तथा; दैवतम्—पूज्य देव; यस्य—जिसके; अनुवृत्त्या—चरणचिह्नों पर चलकर; कृतिनः—सफल; बभूविम—हम हुए हैं।

हे ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा, आप हमारे माता, शुभचिन्तक, प्रभु, पिता, आध्यात्मिक गुरु तथा आराध्य देव हैं। हम आपके चरण-चिह्नों पर चलते हुए सभी प्रकार से सफल हुए हैं। अतएव हमारी प्रार्थना है कि आप हमें अपनी कृपा का आशीर्वाद देते रहें।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा होने के कारण, सबका कल्याण करनेवाले भगवान्, समस्त उत्तम जीवों के कल्याण की भी योजना बनाते हैं। भगवान् इन उत्तम जीवों को आदेश देते हैं कि वे उनके सदुपदेशों का पालन करें। ऐसा करने से वे जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता पाते हैं। भगवान् को छोड़कर किसी अन्य देव की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और यदि वे अपने चरणकमलों के प्रति हमारी आज्ञाकारिता से प्रसन्न हो जाँए, तो वे हमें सभी प्रकार के आशीर्वाद दे सकने में समक्ष हैं, जिनसे हमारे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जीवन सफल हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए मनुष्य जीवन ही वह अवसर है, जिसमें ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझा जा सकता है। उनसे हमारा सम्बन्ध सनातन है; न तो इसको तोड़ा जा सकता है, न विनष्ट किया जा सकता है। भले ही कुछ काल के लिए इसे भुला दिया जाय, लेकिन भगवत्कृपा

से उसे पुनः जागृत किया जा सकता है, यदि हम देश-काल के अनुसार सभी शास्त्रों में दिये गये उनके आदेशों का पालन करें।

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह, यह तो हमारा सौभाग्य है; स-नाथाः—स्वामी के संरक्षण में होना; भवता—आपके द्वारा; स्म—जैसे हम बन चुके हैं; यत् वयम्—जैसे कि हम हैं; त्रैविष्ट-पानाम्—देवताओं को; अपि—भी; दूर-दर्शनम्—बहुत कम दिखाई पड़ते हैं; प्रेम-स्मित—प्रेम से हँसता हुआ; स्निग्ध—स्नेहपूर्ण; निरीक्षण-आननम्—उस प्रकार से दिखनेवाला मुख; पश्येम—देखें; रूपम्—सौन्दर्य; तव—आपका; सर्व—सम्पूर्ण; सौभगम्—सौभाग्य।

अहो! यह तो हमारा सौभाग्य है कि आज पुनः आपकी उपस्थिति से हम आपके संरक्षण में आ गये, क्योंकि आप स्वर्ग के निवासियों के यहाँ भी कभी-कभी जाते हैं। आपके स्मितमुख को देख पाना हमारे लिए अब सम्भव हो सका है, जो स्निग्ध चितवन से पूर्ण है। अब हम आपके सर्व-सौभाग्यशाली दिव्य रूप का दर्शन कर सकते हैं।

तात्पर्य : केवल शुद्ध भक्त ही भगवान् के नित्य साकार रूप का दर्शन कर सकते हैं। भगवान् कभी भी निराकार नहीं होते, अपितु वे भगवान् के सर्वोपरि परिपूर्ण व्यक्तित्व हैं, जिन्हें भक्तिमय सेवा के द्वारा साक्षात् देखा जा सकता है और जो स्वर्ग के निवासियों के लिए भी दुर्लभ हैं। जब ब्रह्माजी तथा अन्य देवता भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश भगवान् विष्णु से परामर्श लेना चाहते हैं, तो उन्हें क्षीरसागर के तट पर जाकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जहाँ भगवान् विष्णु श्वेतद्वीप में शयन कर रहे होते हैं। यह क्षीरसागर तथा श्वेतद्वीप ग्रह इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत वैकुण्ठलोक की प्रतिकृतियाँ हैं। इस श्वेतद्वीप में न तो ब्रह्माजी, न ही इन्द्र जैसे देवता प्रवेश कर सकते हैं, अपितु उन्हें क्षीरसागर के तट पर खड़े होकर क्षीरोदकशायी विष्णु को अपना सन्देश संप्रेषित करना होता है। अतएव उन्हें यदा-कदा ही भगवान् के दर्शन हो पाते हैं, लेकिन द्वारका के निवासी किसी प्रकार के सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन के भौतिक कल्मष से रहित शुद्ध भक्त होने के कारण भगवत्कृपा से उनका साक्षात् दर्शन कर

सकते हैं। यह जीवों की असली स्थिति है और भक्तिमय सेवा के द्वारा अपनी स्वाभाविक तथा आध्यात्मिक जीवन दशा को जागृत करके प्राप्त की जा सकती है।

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब भी; अम्बुज-अक्ष—हे कमलनेत्र; अपससार—आप चले जाते हैं; भो—अरे; भवान्—आप; कुरून्—राजा कुरु के वंशजों को; मधून्—मथुरा (व्रजभूमि) के निवासियों को; वा—अथवा; अथ—अतएव; सुहृत्-दिदृक्षया—भेंट करने के लिए; तत्र—उस समय; अब्द-कोटि—करोड़ों वर्ष; प्रतिमः—सदृश; क्षणः—क्षण; भवेत्—हो जाता है; रविम्—सूर्य; विना—रहित; अक्ष्णोः—आँखों के; इव—समान; नः—हमारी; तव—आपकी; अच्युत—हे अमोघ।

हे कमलनयन भगवान्, आप जब भी अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने मथुरा, वृन्दावन या हस्तिनापुर चले जाते हैं, तो आपकी अनुपस्थिति में प्रत्येक क्षण हमें करोड़ों वर्षों के समान प्रतीत होता है। हे अच्युत, उस समय हमारी आँखें इस तरह व्यर्थ हो जाती हैं मानो सूर्य से बिछुड़ गई हों।

तात्पर्य : हमें अपनी इन्द्रियों पर गर्व है कि हम ईश्वर का अस्तित्व निश्चित करने के लिए उनका प्रयोग करते हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। वे कुछ परिस्थितियों में ही कार्य कर सकती हैं। उदाहरण के लिए हमारी आँखों को लीजिए। जब तक सूर्य का प्रकाश होता है, हमारी आँखें कुछ सीमा तक उपयोगी होती हैं। लेकिन सूर्य-प्रकाश के अभाव में आँखें व्यर्थ हो जाती हैं। आदि भगवान्, परम सत्य होने के कारण, श्रीकृष्ण की तुलना सूर्य से की गई है। उनके बिना हमारा सारा ज्ञान या तो असत्य है अथवा अधूरा है। जिस तरह सूर्य का विलोम (दूसरा पक्ष) अंधकार है, इसी प्रकार कृष्ण का विलोम माया है। कृष्ण द्वारा विकीर्ण प्रकाश से भक्तगण सारी वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त कभी अज्ञान के अंधकार में नहीं रहते। इसलिए यह आवश्यक है कि हम सदा भगवान् कृष्ण की दृष्टि के समक्ष रहें, जिससे हम अपने आपको तथा विभिन्न शक्तियों समेत भगवान् को भी देख सकें। जिस प्रकार सूर्य के अभाव में

हम कुछ भी नहीं देख सकते, उसी प्रकार भगवान् की वास्तविक उपस्थिति के बिना हम कुछ भी नहीं, यहाँ तक कि अपने आपको भी नहीं देख सकते। उनके बिना हमारा सारा ज्ञान माया से ठक जाता है।

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि
प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम्।
जीवेम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम्।
इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत् पुरम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; वयम्—हम; नाथ—हे प्रभु; चिरोषिते—सदैव बाहर रहने के कारण; त्वयि—आपके द्वारा; प्रसन्न—प्रसन्नता; दृष्ट्या—झलक से; अखिल—संसार भर का; ताप—दुख; शोषणम्—नष्ट करने के लिए; जीवेम—जीवित रह सकें; ते—आपका; सुन्दर—सुन्दर; हास—हँसता हुआ; शोभितम्—अलंकृत; अपश्यमानाः—बिना देखे; वदनम्—मुख; मनोहरम्—आकर्षक; इति—इस प्रकार; च—तथा; उदीरिताः—बोलते हुए; वाचः—शब्द; प्रजानाम्—नागरिकों का; भक्त-वत्सलः—भक्तों के प्रति दयालु; शृण्वानः—ऐसा जानकर; अनुग्रहम्—दया; दृष्ट्या—चितवन से; वितन्वन्—वितरित करते हुए; प्राविशत्—प्रवेश किया; पुरम्—द्वारका में।

हे स्वामी, यदि आप सारे समय बाहर रहते हैं, तो हम आपके उस मनोहर मुखमण्डल को नहीं देख पाते, जिसकी मुसकान हमारे सारे कष्टों को दूर कर देती है। भला हम आपके बिना कैसे रह सकते हैं?

उनकी वाणी सुनकर, प्रजा तथा भक्तों पर अत्यन्त दयालु भगवान् ने द्वारकापुरी में प्रवेश किया और उन सबों पर अपनी दिव्य दृष्टि डालते हुए उनका अभिनन्दन स्वीकार किया।

तात्पर्य : कृष्ण का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि एक बार उनसे आकृष्ट हो जाने पर, उनका विछोह सह पाना कठिन हो जाता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि हम उनसे उसी तरह शाश्वत रूप से सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल से सम्बन्धित होती हैं। सूर्य की किरणें सौर विकिरण के आण्विक अंश हैं। इस तरह सूर्य तथा सूर्यप्रकाश को विलग नहीं किया जा सकता। बादलों द्वारा उनका विलगाव क्षणिक तथा कृत्रिम होता है और ज्योंही बादल हट जाते हैं, त्योंही सूर्य की किरणें सूर्य की उपस्थिति में अपना सहज तेज बिखेरने लगती हैं। इसी प्रकार, सारे जीव जो पूर्ण आत्मा के सूक्ष्मांश हैं, वे भ्रामक शक्ति माया के कृत्रिम आवरण के कारण भगवान् से विलग हैं। भ्रामक

शक्ति माया के इस आवरण को हटाना है और ऐसा हो जाने पर, जीव भगवान् को साक्षात् देख सकते हैं और उनके सारे कष्ट तुरन्त ही दूर हो जाएँगे। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन के कष्टों को हटाना चाहता है, लेकिन हम जानते नहीं कि इन्हें किस प्रकार हटाया जाय। यहाँ पर इसका समाधान दिया गया है और यह हम पर निर्भर करता है कि हम इसे आत्मसात् करें अथवा नहीं।

मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मधु—मधु; भोज—भोज; दशार्ह—दशार्ह; अर्ह—अर्ह; कुकुर—कुकुर; अन्धक—अन्धक; वृष्णिभिः—वृष्णि-कुलवालों के द्वारा; आत्म-तुल्य—अपने सदृश; बलैः—शक्ति से; गुप्ताम्—रक्षित; नागैः—नागों द्वारा; भोगवतीम्—नागलोक की राजधानी; इव—सदृश।

जिस प्रकार नागलोक की राजधानी भोगवती नागों के द्वारा रक्षित है, उसी तरह द्वारका की रक्षा कृष्ण के समान बलवान वृष्णि के वंशजों—भोज, मधु, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक इत्यादि—द्वारा की जाती थी।

तात्पर्य : नागलोक पृथ्वीलोक के नीचे स्थित है और ऐसा समझा जाता है कि यहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं। लेकिन उस लोक का अंधकार नागों (स्वर्गिक सर्पों) के शिरों पर स्थित मणियों के प्रकाश से दूर होता है। यह भी कहा जाता है कि, वहाँ पर नागों के भोग-विलास के लिए सुन्दर उद्यान, सरोवर आदि हैं। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि यह स्थान नागरिकों द्वारा अच्छी तरह सुरक्षित है। उसी प्रकार से द्वारकापुरी भी वृष्णि-वंशियों द्वारा सुरक्षित थी, जो भगवान् कृष्ण के ही समान शक्तिशाली थे, जहाँ तक इस धरती पर उनके शक्ति-प्रदर्शन का सम्बन्ध था।

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः ।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; ऋतु—ऋतुएँ; सर्व—समस्त; विभव—ऐश्वर्य; पुण्य—पवित्र; वृक्ष—पेड़; लता—बेलें; आश्रमैः—आश्रमों के साथ; उद्यान—बगीचे; उपवन—पुष्पोद्यान; आरामैः—क्रीडावन (आरामदायक बगीचे) तथा सुन्दर पार्क से; वृत—घिरे हुए; पद्म-आकर—कमलों के जन्म-स्थल या जल के सुन्दर आगार; श्रियम्—सुन्दरता को बढ़ानेवाले।

द्वारकापुरी समस्त ऋतुओं के ऐश्वर्य से पूर्ण थी। उसमें सर्वत्र आश्रम, उद्यान, पुष्पोद्यान, पार्क तथा कमलों से परिपूर्ण जलाशय थे।

तात्पर्य : मानव सभ्यता की पूर्णता प्रकृति के वरदानों का सदुपयोग उनके सहज रूप में करने से सम्भव बनाई जा सकती है। जैसाकि द्वारका के ऐश्वर्य के वर्णन से प्रकट है, उसके चारों ओर पुष्पोद्यान तथा फलों के बगीचे थे और जलाशय थे, जो कमलों से परिपूर्ण थे। यहाँ पर किसी मिल तथा कसाईघर के बल पर चलने वाली फैक्टरी का उल्लेख नहीं है, जो आधुनिक महानगरों के लिए आवश्यक साज-सामग्री है। फिर भी, आधुनिक सुसंस्कृत मनुष्य के अन्त:करण में भी प्रकृति के वरदानों का उपयोग करने की रुचि बरकरार है। आधुनिक सभ्यता के अग्रणी अपने निजी आवासों को ऐसे स्थानों में बनाते हैं, जहाँ सुन्दर बगीचे तथा जलाशय हों, लेकिन सामान्य व्यक्तियों को वे पार्कों तथा बगीचों से रहित दमघोटू स्थानों में रहने के लिए छोड़ देते हैं। लेकिन यहाँ पर हमें द्वारकापुरी का सर्वथा भिन्न वर्णन प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि सारा धाम ऐसे उद्यानों तथा पार्कों एवं कमलों से परिपूर्ण जलाशयों द्वारा घिरा हुआ था। ऐसा लगता है कि सारे लोग प्रकृति द्वारा प्रदत्त फूलों तथा फलों पर निर्भर थे और वहाँ ऐसे उद्योग नहीं थे, जो गन्दी बस्ती तथा झुग्गी-झोपड़ियाँ बढ़ावा देते है। सभ्यता की प्रगति का अनुमान उन मिलों तथा फैक्टरियों की बढ़ोत्तरी से नहीं लगाया जाता, जिनसे मनुष्य की कोमल भावनाएँ विनष्ट हों, अपितु मनुष्यों में प्रबल आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विकास से लगाया जाता है, जिससे उन्हें भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्राप्त हो सके। फैक्टरियों तथा मिलों का विकास *उग्रकर्म* कहलाता है और ऐसे कर्म से मनुष्य तथा समाज की सुकोमल भावनाओं का क्षय होकर असुरों का कारागार बना देती हैं।

यहाँ पर हम पवित्र वृक्षों का उल्लेख पाते हैं, जिनमें ऋतु के अनुसार फूल-फल लगते हैं। अपवित्र वृक्ष केवल व्यर्थ के जंगल होते हैं और उनका उपयोग केवल ईंधन के लिए हो सकता है। आधुनिक सभ्यता में ऐसे अपवित्र वृक्षों को सड़क के दोनों किनारों पर रोपा जाता है। मानव शक्ति का सदुपयोग सुकोमल भावनाओं के विकास के लिए होना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो सके और इसी में जीवन का समाधान प्राप्त होता है। मनुष्य के शरीर में सूक्ष्म तन्तुओं के विकास के लिए फल, फूल, सुन्दर उद्यान, पार्क, कमलों के बीच क्रीड़ा करते बतख एवं हंसों से युक्त जलाशय तथा

प्रचुर दूध तथा मक्खन देनेवाली गाएँ आवश्यक हैं। इसके विपरीत, कारागार तुल्य खानें, फैक्टरियाँ तथा कार्यशालाएँ श्रमिक वर्ग में आसुरी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। श्रमिक वर्ग के बल पर ही शोषण को प्रश्रय मिलता है, फलस्वरूप उनमें अनेक प्रकार के उग्र संघर्ष होते रहते हैं। द्वारकाधाम का वर्णन मानवीय सभ्यता के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गोपुर—नगरी का सिंहद्वार; द्वार—दरवाजा; मार्गेषु—विभिन्न सड़कों पर; कृत—किये गये; कौतुक—उत्सव के कारण; तोरणाम्—सज्जित बन्दन-वार; चित्र—चित्रित; ध्वज—झंडियाँ; पताका-अग्रैः—अग्रणी चिह्नों द्वारा; अन्तः—भीतर; प्रतिहत—अवरुद्ध; आतपाम्—धूप को।

भगवान् के स्वागतार्थ नगर का द्वार, घरों के दरवाजे तथा सड़कों के किनारे झंडियों से सजे बन्दनवार बहुत ही सुन्दर ढंग से केले के वृक्षों तथा आम की पत्तियों जैसे मांगलिक प्रतीकों से सजाये गये थे। झंडियाँ, फूल-मालाएँ तथा चित्रित संकेत एवं लिखे गये सुवाक्य धूप को अवरुद्ध कर रहे थे।

तात्पर्य : विशेष उत्सवों की सजावट के लिए प्रतीक भी प्रकृति के उपहारों से—केले के वृक्षों, आम की वृक्षों, फूलों तथा फलों से लिए गए थे। आज भी आम्रवृक्ष, नारियल तथा कदली वृक्षों को मांगलिक प्रतीक माना जाता है। ऊपर जिन झंडियों का उल्लेख हुआ है, उन सभी में भगवान् के इन दो महान् सेवक गरुड़ अथवा हनुमान के चित्र अंकित थे। अब भी ऐसे चित्र तथा अलंकरण भक्तों द्वारा पूजित हैं और भगवान् की तुष्टि के लिए सेवक को अधिक सम्मान प्रदान किया जाता है।

सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सम्मार्जित—पूर्णतया स्वच्छ किया; महा-मार्ग—राजपथ; रथ्य—मार्ग तथा गलियाँ; आपणक—बाजार; चत्वराम्—चौक; सिक्ताम्—सिक्त; गन्ध-जलैः—सुगन्धित जल से; उप्ताम्—बिखेरे हुए; फल—फल; पुष्प—फूल; अक्षत—बिना टूटे, पूरे-पूरे; अङ्कुरैः—बीजों से।

पथ, मार्गों, बाजारों तथा चौकों को भलीभाँति झाड़-बुहारकर उन पर सुगन्धित जल छिड़का गया था और भगवान् का स्वागत करने के लिए सर्वत्र फल-फूल तथा अक्षत-अंकुर बिखेरे गये थे।

तात्पर्य : द्वारकाधाम के राजमार्गों तथा गली-कूचों को सिक्त करने के लिए गुलाब तथा केवड़ा के फूलों को आसवित करके तैयार किया गया सुगन्धित जल मँगवाया गया था। इनके उपरान्त बाजारों तथा चौकों को भलीभाँति झाड़ा-बुहारा गया था। उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि द्वारकाधाम बहुत बड़ा था, जिसमें अनेक राजमार्गों, गलियों तथा पार्कों, उद्यानों एवं जलाशयों से युक्त चौक थे और इन सबों को फूलों-फलों से सुन्दर ढंग से सजाया गया था। भगवान् का स्वागत करने के लिए इन फूलों-फलों को अक्षत-अंकुरों के साथ सार्वजनिक स्थलों पर बिखेर दिया गया था। अक्षत बीज व अंकुर शुभ माने जाते थे और उत्सवों के दिनों में हिन्दू लोग आज भी इनका प्रयोग करते हैं।

द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

द्वारि द्वारि—प्रत्येक घर के द्वार पर; गृहाणाम्—सभी घरों के; च—तथा; दधि—दही; अक्षत—सम्पूर्ण; फल—फल; इक्षुभिः—गन्ने से; अलङ्कृताम्—सजाया गया; पूर्ण-कुम्भैः—जल से पूर्ण घटों से; बलिभिः—पूजन सामग्री सहित; धूप—सुगन्ध बत्ती; दीपकैः—दीपों तथा बत्तियों से।.

प्रत्येक घर के द्वार पर दही, अक्षत फल, गन्ना तथा पूरे भरे हुए जलपात्रों के साथ ही पूजन की सामग्री, धूप तथा बत्तियाँ सजा दी गयी थीं।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार, स्वागत-विधि शुष्क नहीं होती है। जैसाकि ऊपर उल्लेख है, स्वागत के लिए केवल राजमार्ग तथा गली-कूचे ही नहीं सजाये गये थे, अपितु अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार आवश्यक वस्तुओं जैसे धूप-दीप, फूल, मिठाई तथा स्वादिष्ट खाद्यों द्वारा भगवान् की पूजा भी की गई थी। ये सभी वस्तुएँ भगवान् को अर्पित की गईं और वहाँ पर एकत्र नागरिकों में प्रसाद वितरित किया गया। अतएव यह आज के शुष्क स्वागत जैसा न था। प्रत्येक घर भगवान् का ऐसा स्वागत करने के लिए प्रस्तुत था, अतएव राजमार्गों तथा गली-कूचों के घर-घर में ऐसा प्रसाद नागरिकों को बाँटा

गया और यह समारोह सफल रहा। प्रसाद-वितरण के बिना कोई भी उत्सव पूरा नहीं होता और यही वैदिक संस्कृति की शैली है।

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥ १६ ॥
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छशितशयनासनभोजनाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; प्रेष्ठम्—प्रियतम को; आयान्तम्—घर आते हुए; वसुदेवः—वसुदेव (कृष्ण के पिता); महा-मनाः—महामना, उदारचेता; अक्रूरः—अक्रूर; च—तथा; उग्रसेनः—उग्रसेन; च—तथा; रामः—बलराम (कृष्ण के बड़े भाई); च—तथा; अद्भुत—अलौकिक; विक्रमः—शौर्य, पराक्रम; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; चारुदेष्णः—चारुदेष्ण; च—तथा; साम्बः—साम्ब; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र; प्रहर्ष—अत्यन्त प्रसन्नता; वेग—त्वरा; उच्छशित—से प्रभावित; शयन—लेटना; आसन—बैठना; भोजनाः—भोजन करना।

यह सुनकर कि परम प्रिय कृष्ण द्वारकाधाम पहुँच रहे हैं, महामना वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, बलराम (अलौकिक शक्तिसम्पन्न), प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा जाम्बवती-पुत्र साम्ब सभी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने लेटना, बैठना तथा भोजन करना छोड़ दिया।

तात्पर्य : *वसुदेव*—राजा शूरसेन के पुत्र, देवकी के पति तथा श्रीकृष्ण के पिता। ये कुन्ती के भाई तथा सुभद्रा के पिता थे। सुभद्रा अपने ममेरे भाई अर्जुन को ब्याही गई थी और यह प्रथा आज भी भारत के कुछ भागों में प्रचलित है। वसुदेव को राजा उग्रसेन के मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था और बाद में उन्होंने उग्रसेन के भाई देवक की आठ कन्याओं के साथ विवाह किया। देवकी उनमें से एक थी। कंस उनका साला था और वसुदेव ने स्वेच्छा से, कंस का बन्दी बनना इस शर्तपर स्वीकार किया कि वे देवकी का आठवाँ पुत्र उसे दे देंगे। लेकिन कृष्ण की इच्छा से यह विफल रहा। पाण्डवों के मातुल के रूप में उन्होंने पाण्डवों के समस्त संस्कारों में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने शतशृंग पर्वत पर कश्यप पुरोहित को बुलवाया और सारे कृत्य सम्पन्न करवाये। कृष्ण जब कंस के बन्दीगृह के भीतर प्रकट हुए, तो वसुदेव ने उन्हें कृष्ण के पालक पिता, नन्द महाराज के घर गोकुल पहुँचाया। वसुदेव का तिरोधान होने के पूर्व, कृष्ण बलदेव-सहित अन्तर्धान हो गये और वसुदेव के तिरोधान के बाद अर्जुन (वसुदेव के भांजे) ने उनका दाह संस्कार किया।

अक्रूर—वृष्णिकुल के सेनापति तथा भगवान् कृष्ण के महान् भक्त। उन्होंने एक-मात्र स्तुति की एकाकी विधि द्वारा भगवद्भक्ति में सफलता प्राप्त की। वे अहूक की पुत्री सूतनी के पति थे। जब अर्जुन कृष्ण की इच्छानुसार सुभद्रा का हरण करके ले गये, तो उन्होंने अर्जुन की सहायता की थी। सुभद्रा का सफलतापूर्वक हरण होने के बाद, कृष्ण तथा अक्रूर दोनों ही उसे मिलने गये और इस घटना के बाद अर्जुन को दहेज दिया। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का जब महाराज परीक्षित की माता, उत्तरा के साथ विवाह हो रहा था, तब भी अक्रूर उपस्थित थे। अक्रूर के श्वसुर अहूक की उनसे नहीं बनती थी। किन्तु दोनों ही भगवान् के भक्त थे।

उग्रसेन—वृष्णिकुल के सर्वाधिक पराक्रमी राजाओं में से एक और महाराज कुन्तिभोज के चचेरे भाई। इनका दूसरा नाम अहूक था। वसुदेव इनके मंत्री थे और शक्तिशाली कंस इनका पुत्र था। इसी कंस ने अपने पिता को बन्दी बनाया और स्वयं मथुरा का राजा बन गया। भगवान् कृष्ण तथा उनके भाई भगवान् बलराम की कृपा से कंस मारा गया और उग्रसेन पुन: राज्य-सिंहासन पर बैठाये गये। जब शाल्व ने द्वारकापुरी पर आक्रमण कर दिया, तो उग्रसेन वीरता से लड़े और उन्होंने शत्रु को पीछे हटा दिया। उग्रसेन ने नारदजी से भगवान् श्रीकृष्ण की अलौकिकता के विषय में जिज्ञासा की थी। जब यदुवंश का विनाश होना था, तो उग्रसेन को साम्ब के गर्भ से उत्पन्न लोह-पिण्ड सौंपा गया था। इन्होंने लोह-पिण्ड को खण्ड-खण्ड करके इसको घिस घिस कर, द्वारका के समुद्रतट पर समुद्रजल में मिला दिया था। तत्पश्चात् उन्होंने द्वारकापुरी के भीतर तथा राज्य में, मद्यपान की पूर्ण मनाही कर दी थी। मृत्यु के पश्चात् उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ था।

बलदेव—ये वसुदेव की पत्नी रोहिणी के गर्भ से प्रकट हुए, अलौकिक पुत्र थे। इन्हें रोहिणी-नन्दन अर्थात् रोहिणी के प्रिय पुत्र भी कहा जाता है। जब वसुदेव ने कंस से पारस्परिक समझौता करके कारावास स्वीकार कर लिया था, तब बलराम को रोहिणी समेत नन्द महाराज को सौंप दिया गया था। अतएव नन्द महाराज बलदेव तथा भगवान् कृष्ण दोनों के पालक पिता थे। सौतेले भाई होते हुए भी कृष्ण तथा बलराम बचपन से ही निरन्तर एकसाथ ही रहते थे। वे भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, अतएव वे कृष्ण के ही समान उत्तम तथा शक्तिमान हैं। वे *विष्णु-तत्त्व* (ईश्वर तत्त्व) की श्रेणी में हैं। वे कृष्ण के साथ द्रौपदी के स्वयंवर में गये थे। जब श्रीकृष्ण की सुनियोजित योजना से अर्जुन द्वारा सुभद्रा का

हरण किया गया था, तब बलदेव अर्जुन पर अत्यधिक क्रुद्ध हुए थे और तत्काल उनका वध कर देना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण अपने प्रिय मित्र के लिए, बलदेव के चरणों पर गिर पड़े और उन्हें इतना क्रुद्ध न होने की विनती की। तब कहीं बलदेव तुष्ट हुए थे। इसी प्रकार वे एक बार कौरवों से भी क्रुद्ध हुए थे और वे उनकी सारी नगरी को यमुना नदी में फेंक देना चाहते थे। लेकिन कौरवों ने उनके चरणकमलों में शरण लेकर उन्हें प्रसन्न किया था। वास्तव में वे कृष्ण के जन्म के पूर्व देवकी के सातवें पुत्र थे, लेकिन कंस के क्रोध से बचने के लिए वे रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिये गये थे। अतएव उनका अन्य नाम संकर्षण है, जो श्रीबलदेव के स्वांश भी हैं। चूँकि वे कृष्ण के ही समान शक्तिशाली हैं और भक्तों को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करनेवाले हैं, अतएव वे बलदेव कहलाते हैं। वेदों में भी आदेश है कि बिना बलदेव की कृपा प्राप्त किये कोई भी परमेश्वर को नहीं जान सकता। *बल* का अर्थ भौतिक शक्ति नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति है। कतिपय अल्पज्ञ लोग *बल* को शारीरिक बल मानते हैं, लेकिन शारीरिक बल से किसी को आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। शारीरिक शक्ति का अन्त भौतिक शरीर के ही साथ हो जाता है, लेकिन आध्यात्मिक बल जन्म-जन्मांतर तक आत्मा के साथ-साथ जाता है, अतएव बलदेव द्वारा प्रदत्त किया गया बल कभी व्यर्थ नहीं जाता। यह बल शाश्वत होता है और इस प्रकार बलदेव समस्त भक्तों के आदि गुरु हैं।

श्री बलदेव सांदीपनि मुनि के शिष्य के रूप में श्रीकृष्ण के सहपाठी भी थे। उन्होंने बचपन में कृष्ण के साथ मिलकर अनेक असुरों का संहार किया था और विशेष रूप से उन्होंने तालवन में धेनुकासुर का वध किया था। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे तटस्थ बने रहे और भरसक प्रयत्न करते रहे कि युद्ध न हो। वे दुर्योधन के पक्षपाती थे, तो भी वे तटस्थ बने रहे। जब दुर्योधन तथा भीमसेन के बीच गदायुद्ध हुआ, तो भी वे वहाँ उपस्थित थे। जब भीमसेन ने दुर्योधन की जाँघ पर या कमर के नीचे प्रहार किया, तो वे उससे क्रोधित हुए थे और इस अनुचित कार्य का बदला लेना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने भीम को उनके क्रोध से बचाया। लेकिन भीमसेन से अरुचि उत्पन्न होने से, उन्होंने तुरन्त उस स्थान को छोड़ दिया और उनके जाते ही दुर्योधन मृत्यु को प्राप्त होने के लिए भूमि पर गिर पड़ा। उन्होंने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का अंतिम संस्कार किया, क्योंकि वे उसके मामा थे। उस समय सारे पाण्डव इतने शोक-सन्तप्त थे कि यह संस्कार करना उनके वश की बात न थी। अन्तिम अवस्था में

उन्होंने अपने मुख से एक महान् श्वेत सर्प को उत्पन्न करके इस जगत् से प्रयाण किया और इस प्रकार वे शेषनाग द्वारा सर्प के रूप में ले जाये गये।

प्रद्युम्न—ये कामदेव के अथवा अन्यों के अनुसार सनत्कुमार के अवतार थे और परमेश्वर श्रीकृष्ण तथा द्वारका की महारानी लक्ष्मीदेवी, श्रीमती रुक्मिणी, के पुत्र के रूप में प्रकट हुए थे। वे उनमें से एक थे, जो अर्जुन को सुभद्रा से ब्याह के बाद बधाई देने गये थे। वे उन प्रधान सेनापतियों में से एक थे, जिन्होंने शाल्व से युद्ध किया था और युद्धभूमि में उससे लड़ते-लड़ते वे मूर्छित हो गये थे। उनका सारथी उन्हें युद्धभूमि से शिविर में ले आया था, किन्तु उन्होंने इस कार्य के लिए उसे कोसा था तथा स्वयं अत्यन्त खिन्न हुए थे। किन्तु उन्होंने पुन: शाल्व से युद्ध किया था और विजयी हुए थे। उन्होंने नारदजी से विभिन्न देवताओं के विषय में सुना। वे भगवान् श्रीकृष्ण के चार पूर्णांशों में तीसरे हैं। उन्होंने अपने पिता कृष्ण से ब्राह्मणों की महिमा के विषय में जिज्ञासा की थी। यदुवंशियों के बन्धुघाती युद्ध में, वे वृष्णियों के राजा भोज के हाथों मारे गये। मृत्यु के बाद उन्हें अपने मूल पद पर स्थापित किया गया।

चारुदेष्ण—श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी देवी के एक और पुत्र। ये भी द्रौपदी-स्वयंवर में उपस्थित थे। ये अपने भाइयों तथा पिता की भाँति महान् योद्धा थे। इन्होंने विविनिधक से युद्ध करके उसे मार डाला।

साम्ब—ये यदुकुल के महान् शूरवीरों में से एक थे। ये श्रीकृष्ण की पत्नी जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन से धनुर्विद्या का युद्ध कौशल सीखा था और महाराज युधिष्ठिर की संसद के सदस्य बने थे। ये महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित थे। जब प्रभास-यज्ञ में सारे वृष्णि एकत्र थे, तो सात्यकि ने भगवान् बलदेव के समक्ष इनके महिमाशाली गुणों का वर्णन किया था। ये युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न करवाये गये अश्वमेघ यज्ञ के समय अपने पिता श्रीकृष्ण के साथ उपस्थित थे। इनके भाइयों ने इन्हें गर्भवती स्त्री के रूप में कुछ ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत किया था और इन्होंने हँसी-हँसी में उनसे पूछा था कि मेरे गर्भ से क्या उत्पन्न होगा? इस पर ऋषियों ने उत्तर दिया था कि तुम्हारे गर्भ से लोह-पिण्ड (मूसल) उत्पन्न होगा, जिससे यदुकुल में बन्धु-घाती युद्ध होगा। दूसरे ही दिन प्रात:काल, साम्ब के गर्भ से एक बृहद् लोह-पिण्ड (मूसल) उत्पन्न हुआ, जिसे उग्रसेन को उचित कार्यवाही के लिए सौंप दिया गया। बाद में सचमुच ही पूर्वघोषित बन्धुघाती युद्ध हुआ, जिसमें साम्ब मारे गये।

इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण के ये पुत्र अपना-अपना स्थान त्याग कर तथा विश्राम करना, बैठना, खाना जैसे कृत्यों से विरत होकर अपने पूज्य पिता की ओर दौड़ पड़े।

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।
प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

वारण-इन्द्रम्—मांगलिक कार्यवाले हाथी को; पुरस्कृत्य—सामने करके; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; स-सुमङ्गलैः—समस्त शुभ लक्षणों सहित; शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही की; निनादेन—ध्वनि से; ब्रह्म-घोषेण—वेदों के स्तोत्रों के उच्चारण से; च—तथा; आदृताः—महिमा-मण्डित; प्रति—की ओर; उज्जग्मुः—तेजी में बढ़े; रथैः—रथ पर; हृष्टाः—आनन्द में; प्रणयागत—स्नेह से सिक्त; साध्वसाः—सादर।

वे फूल थामे हुए ब्राह्मणों समेत रथों पर भगवान् की ओर तेजी से बढ़े। उनके आगे-आगे सौभाग्य-के प्रतीक हाथी थे। शंख तथा तुरही बज रहे थे और वैदिक स्तोत्र उच्चरित हो रहे थे। इस प्रकार उन्होंने स्नेहसिक्त अभिवादन किया।

तात्पर्य : किसी महापुरुष के स्वागत की वैदिक विधि से सम्मान का वातावरण उत्पन्न होता है, जो आगन्तुक के लिए स्नेह तथा सत्कार से पूर्ण होता है। ऐसे स्वागत का शुभ वातावरण उपर्युक्त साज-सामग्री पर निर्भर करता है, जिसमें शंख, पुष्प, धूप, सजे हुए हाथी तथा वैदिक साहित्य से स्तोत्रों का पाठ करते हुए योग्य ब्राह्मण सम्मिलित हैं। स्वागत का ऐसा कार्यक्रम स्वागतकर्ता तथा स्वागत किए जाने वाले दोनों की निष्ठा से पूरित होता है।

वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।
लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वारमुख्याः—विख्यात वेश्याएँ; च—तथा; शतशः—सैकड़ों; यानैः—सवारियों द्वारा; तत्-दर्शन—उनसे (भगवान् श्रीकृष्ण से) भेंट करने के लिए; उत्सुकाः—अत्यन्त उत्सुक; लसत्—लटकते हुए; कुण्डल—कान के आभूषण; निर्भात—चमकते हुए; कपोल—ललाट; वदन—मुख; श्रियः—सौन्दर्य।

उसी समय सैकड़ों विख्यात वेश्याएँ विविध सवारियों पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ चलीं। वे सभी भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक थीं और उनके सुन्दर मुख-मण्डल चमचमाते कुण्डलों से सुशोभित थे, जिनके कारण उनके ललाट की शोभा बढ़ रही थी।

तात्पर्य : यदि वेश्याएँ भगवद्भक्त हों, तो हम उनसे भी घृणा नहीं कर सकते। आज भी भारत के बड़े-बड़े नगरों में ऐसी अनेक वेश्याएँ हैं, जो भगवान् की निष्ठावान् भक्त हैं। समय के फेर से, किसी को ऐसा पेशा ग्रहण करना पड़ जाता है, जो समाज में सम्मानित न हो, लेकिन इसके कारण भगवद्भक्ति करने में कोई व्यवधान नहीं आता। भगवान् की भक्ति समस्त परिस्थितियों में बेरोकटोक रहती है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व, द्वारका जैसे नगर में भी, जहाँ श्रीकृष्ण निवास कर रहे थे, वेश्याएँ रहती थीं। इसका अर्थ यह है कि समाज के समुचित निर्वाह के लिए वेश्याएँ भी आवश्यक अंग हैं। सरकार शराब की दुकानें खोलने देती है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार मदिरापान को प्रोत्साहित करती है। भाव यह है कि लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो किसी भी कीमत पर मदिरापान करेगा और ऐसा अनुभव है कि मद्य-निषेध से बड़े-बड़े शहरों में शराब की तस्करी को बढ़ावा मिला है। इसी प्रकार जो व्यक्ति घरों में सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं, उन्हें ऐसी छूट की अपेक्षा रहती है और यदि वेश्याएँ न हों, तो ऐसे निम्न लोग, दुसरों को वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित करेंगे। अच्छा हो कि वेश्याएँ बाजारों में उपलब्ध हों, जिससे समाज की पवित्रता कायम रहे। समाज के अन्दर वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा वेश्या-वर्ग को बनाये रखना अच्छा होगा। वास्तविक सुधार तो सभी लोगों को भगवद्-भक्त बनने के लिए प्रबुद्ध करना है, जिससे जीवन के समस्त पतनोन्मुख कारकों पर रोक लगेगी।

विष्णुस्वामी वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य, श्री बिल्वमंगल ठाकुर, अपने गृहस्थ जीवन में एक वेश्या के प्रति अत्यधिक आसक्त थे, जो भगवान् की भक्त थी। एक रात जब घनघोर वर्षा हो रही थी तथा बिजली कड़क रही थी, तो उसी में बिल्वमंगल ठाकुर चिन्तामणि के घर पहुँचे। वह आश्चर्यचकित थी कि ऐसी भयानक रात्रि में बाढ़ से उफनती नदी को पार करके ठाकुर कैसे आ गये। उसने बिल्वमंगल ठाकुर से कहा कि उस नगण्य स्त्री के हाड़-मांस के प्रति उनका जो आकर्षण है, यदि उसे भगवद्भक्ति में भगवान् की दिव्य सुन्दरता के प्रति लगाया जाता, तो अच्छा होता। यह ठाकुर के

लिए परीक्षा की घड़ी थी और वे वेश्या के वचनों से आत्म-साक्षात्कार की ओर मुड़े। बाद में उन्होंने उस वेश्या को अपना गुरु माना और उन्होंने अपने काव्य में कई स्थलों पर चिन्तामणि के नाम का गुणगान किया है, जिसने उन्हें सही मार्ग दिखलाया।

भगवद्गीता (९.३२) में भगवान् कहते हैं, "हे पृथापुत्र! निम्नकुल में उत्पन्न चंडाल, नास्तिकों के वंश में उत्पन्न मनुष्य तथा वेश्याएँ तक भी, जीवन की पूर्णता प्राप्त करेंगी, यदि वे भगवान् की अनन्य भक्ति का आश्रय ग्रहण कर लें, क्योंकि भक्तिमय सेवा के मार्ग में नीच कुल में जन्म तथा वृत्ति अवरोधक नहीं हैं। यह मार्ग उन सबों के लिए खुला है, जो उसका अनुगमन करना चाहते हैं।"

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वारका की वेश्याएँ जो भगवान् से मिलने के लिए इतनी उत्सुक थीं, उनकी अनन्य भक्त थीं और इस तरह *भगवद्गीता* के उपरोक्त वचन के अनुसार वे सभी मोक्ष के पथ पर थीं। अतएव समाज में जिस एकमात्र सुधार की आवश्यकता है, वह है सारे नागरिकों को भगवद्भक्त बनाना। इस तरह उनमें स्वर्ग के निवासियों के समस्त सद्गुण स्वत: आ जाएँगे। दूसरी ओर, जो अभक्त हैं उनमें एक भी सद्गुण नहीं होता हैं, भले ही भौतिक दृष्टि से वे कितने ही उन्नत क्यों न हों। अन्तर इतना ही है कि भगवद्भक्त मोक्ष के पथ पर होते हैं, लेकिन अभक्त भवबन्धन में अधिकाधिक उलझने के मार्ग पर होते हैं। सभ्यता की प्रगति की कसौटी यह है कि लोग मोक्ष के मार्ग के लिए शिक्षित हैं या नहीं और उस पर अग्रसर हैं या नहीं।

नटनर्तकगन्धर्वा: सूतमागधवन्दिन: ।
गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नट—नाटककार; नर्तक—नाचनेवाले; गन्धर्वा:—स्वर्ग के गवैये; सूत—पेशेवर पौराणिक; मागध—पेशेवर वंशावली-विशारद, भाट; वन्दिन:—पेशेवर विद्वान वक्ता; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; च—क्रमश:; उत्तमश्लोक—परमेश्वर के; चरितानि—कार्यकलापों को; अद्भुतानि—अलौकिक; च—तथा।

कुशल नाटककार, कलाकार, नर्तक, गायक, पौराणिक, वंशावली-विशारद (भाट) तथा विद्वान वक्ता (वाचक) सबों ने भगवान् के अलौकिक कार्यकलापों से प्रेरित होकर अपना-अपना योगदान दिया। इस प्रकार वे आगे बढ़ते गये।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी समाज को नाटककारों, कलाकारों, नर्तकों, गायकों, पौराणिकों, वंशावली–विशारदों, सार्वजनिक वक्ताओं की भी आवश्यकता पड़ती थी। नर्तक, गायक तथा नाटक–कलाकार अधिकांशतया शूद्रजाति के होते थे, जबकि विद्वान पौराणिक, वंशावली–विशारद (भाट) तथा सार्वजनिक वक्ता ब्राह्मण जाति के होते थे। ये सभी किसी जाति विशेष से सम्बन्धित होते थे और अपने–अपने कुलों में इतने दक्ष हो जाते थे। ऐसे नट, नर्तक, गायक, पौराणिक, भाट तथा सार्वजनिक वक्ता विभिन्न युगों तथा कल्पों में भगवान् के अलौकिक कार्यकलापों का वर्णन करते थे, किसी सामान्य घटना का नहीं। न ही ये घटनाएँ किसी तिथि–क्रमानुसार होती थीं। सारे पुराण ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण हैं, जिनमें विभिन्न कालों तथा विभिन्न लोकों में भगवान् से सम्बन्धित विषयों का वर्णन है। अत: इसका कोई काल–क्रम नहीं मिलता है। अतएव जब आधुनिक इतिहासकार कोई शृंखला–सूत्र नहीं पकड़ पाते, तो वे अप्रामाणिक ढंग से यह आलोचना करते हैं कि सारे पुराण कपोल–कल्पित हैं।

यहाँ तक कि एक सौ वर्ष पूर्व भी भारत में सारे नाटकों का कार्य परमेश्वर के अलौकिक कार्यकलापों पर ही केन्द्रित होते थे। नाटकों के खेले जाने पर निश्चित रूप से जनसामान्य का मनोरंजन होता था और यात्रा टोलियाँ (नाटक मंडलियाँ) भगवान् के अलौकिक कार्यों का अभिनय करती थीं। इस प्रकार प्रत्येक निरक्षर किसान शैक्षिक योग्यता न होने पर भी वैदिक साहित्य के ज्ञान में सहभागी होता था। अतएव सामान्य व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रकाश के लिए नाटककारों, गायकों, वक्ताओं इत्यादि की आवश्यकता होती है। भाट किसी विशेष परिवार के वंशजों का पूरा ब्यौरा प्रस्तुत करते थे। आज भी भारत के तीर्थस्थानों के पंडे किसी भी नवागंतुक का पूरा वंश–ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। कभी–कभी यह आश्चर्यजनक कृत्य ऐसी महत्त्वपूर्ण जानकारी पाने के कारण अधिक ग्राहकों को आकर्षित करता है।

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानमादधे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; तत्र—उस स्थान पर; बन्धूनाम्—मित्रों के; पौराणाम्—नागरिकों के; अनुवर्तिनाम्—स्वागतार्थ आये लोगों का; यथा-विधि—यथायोग्य; उपसङ्गम्य—पास जाकर; सर्वेषाम्—हर एक के लिए; मानम्—सम्मान तथा आदर; आदधे—प्रदान किया।

भगवान् श्रीकृष्ण उनके निकट गये और उन्होंने अपने समस्त मित्रों, सम्बन्धियों, नागरिकों तथा उन समस्त लोगों को, जो उन्हें लेने तथा स्वागत करने के लिए आये थे, यथायोग्य सम्मान तथा आदर प्रदान किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् न तो निराकार हैं, न ऐसी निष्क्रिय वस्तु हैं, जो अपने भक्तों के भावों के साथ आदान-प्रदान करने में असमर्थ हों। यहाँ पर *यथाविधि* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है ''यथायोग्य''। वे अपने विभिन्न प्रकार के प्रशंसकों तथा भक्तों के साथ यथायोग्य आदान-प्रदान करते हैं। निस्सन्देह शुद्ध भक्त एक ही तरह के होते हैं, क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त उनका कोई अन्य सेवा-पात्र नहीं होता, इसीलिए भगवान् भी ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ यथायोग्य आदान-प्रदान करते हैं अर्थात् वे अपने शुद्ध भक्तों के सारे कार्यों के प्रति सतर्क रहते हैं। जो लोग उन्हें निराकार कहते हैं, भगवान् भी उनके प्रति कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं दिखाते। वे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास के रूप में प्रसन्न करते हैं और ऐसे आदान-प्रदान का नमूना यहाँ पर विभिन्न स्वागत करनेवालों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥ २२॥

शब्दार्थ

प्रह्वा—अपना सिर झुकाकर; अभिवादन—शब्दों से अभिवादन; आश्लेष—आलिंगन; कर-स्पर्श—हाथ मिलाना; स्मित-ईक्षणैः—बाँकी हँसी से; आश्वास्य—प्रोत्साहन द्वारा; च—तथा; आश्वपाकेभ्यः—कुत्ता खानेवाली अधम जाति तक; वरैः—आशीर्वादों से; च—तथा; अभिमतैः—जिसकी जैसी इच्छा हो; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

सर्वशक्तिमान भगवान् ने वहाँ पर समुपस्थित लोगों को, यहाँ तक कि नीच से नीच जाति वाले को, अपना मस्तक झुकाकर, बधाई देकर, आलिंगन करके, हाथ मिलाकर, देखकर तथा हँसकर, आश्वासन देकर तथा वरदान देकर उनका अभिवादन किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिए वहाँ सभी प्रकार के लोग थे—पिता वसुदेव, पितामह उग्रसेन तथा गुरु गर्गमुनि से लेकर वेश्याएँ तथा कुत्ते तक खाने के आदी चण्डाल तक थे। भगवान् ने इन सबों से उनके पद तथा प्रतिष्ठा के अनुसार उनका अभिवादन किया। शुद्ध जीवों के रूप में, सारे लोग भगवान् के भिन्नांश हैं और इस प्रकार अपने सनातन सम्बन्ध के कारण कोई उनसे पराया नहीं है। ऐसे शुद्ध जीव, भौतिक गुणों के संदूषण के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किये जाते हैं, लेकिन इन भौतिक श्रेणीयों के बावजूद भगवान् अपने समस्त भिन्नांशों पर समान रूप से वत्सल रहते हैं। वे इन भौतिकता में डूबे जीवों को अपने धाम वापस लौटने के लिए स्मरण दिलाने के लिए ही अवतरित होते हैं और जो बुद्धिमान लोग हैं, वे भगवान् द्वारा सभी जीवों को दिए गए इस अवसर का लाभ उठाते हैं। भगवान् किसी को अपने धाम के लिए अयोग्य नहीं ठहराते, यह तो जीव पर निर्भर करता है कि वह इसे स्वीकार करे या नहीं।

स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि ।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने आप; च—भी; गुरुभिः—वयस्क स्वजनों द्वारा; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; सदारैः—अपनी-अपनी पत्नियों सहित; स्थविरैः—अशक्तों (वृद्धों) के द्वारा; अपि—भी; आशीर्भिः—आशीर्वाद से; युज्यमानः—प्रशंसित होकर; अन्यैः—अन्यों द्वारा; वन्दिभिः—प्रशंसकों द्वारा; च—तथा; अविशत्—प्रवेश किया; पुरम्—नगर में।

तब भगवान् ने ज्येष्ठ-वरेष्ठ सम्बन्धियों तथा अपनी-अपनी पत्नियों के साथ आए अशक्त ब्राह्मणों के साथ नगर में प्रवेश किया। वे सब आशीर्वाद दे रहे थे और भगवान् के यशों का गान कर रहे थे। दूसरे लोगों ने भी भगवान् की महिमा की प्रशंसा की।

तात्पर्य : समाज में ब्राह्मण कभी भी भावी निवृत्त जीवन के लिए धन संग्रह करने के प्रति ध्यान नहीं देते थे। जब वे वृद्ध एवं अशक्त हो जाते थे, तब वे अपनी पत्नियों सहित राजदरबार पहुँचते थे और केवल राजाओं के महिमायुक्त कार्यों की प्रशंसा करने से उन्हें जीवन की सारी आवश्यकताएँ प्रदान की जाती थीं। ऐसे ब्राह्मण राजा के चाटुकार नहीं होते थे, अपितु इससे राजाओं को वास्तव में यश मिलता था और इन ब्राह्मणों के सम्मानयुक्त कार्यों से वे राजा पुण्यकर्मों को सच्चे दिल से करने के लिए

और भी प्रोत्साहित होते थे। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यशों के पात्र हैं और स्तुति करनेवाले ब्राह्मण तथा अन्य लोग भगवान् की महिमा का गान करने के कारण स्वयं धन्य हो गए।

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः ।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥ २४॥

शब्दार्थ

राज-मार्गम्—आम सड़कों से; गते—जाते हुए; कृष्णे—भगवान् कृष्ण द्वारा; द्वारकायाः—द्वारका नगरी की; कुल-स्त्रियः—प्रतिष्ठित कुलों की स्त्रियाँ; हर्म्याणि—राजमहलों में; आरुरुहुः—चढ़ गईं; विप्र—हे ब्राह्मणों; तत्-ईक्षण—उनका (कृष्ण का) दर्शन करने के लिए; महा-उत्सवाः—महान् उत्सव मानकर।

जब भगवान् राजमार्ग से होकर जा रहे थे, तो द्वारका के प्रतिष्ठित परिवारों की सभी स्त्रियाँ भगवान् का दर्शन करने के लिए अपने-अपने महलों की अटारियों पर चढ़ गईं। इसे वे एक महान् उत्सव समझ रही थीं।

तात्पर्य : भगवान् का दर्शन करना, निस्सन्देह, अपने आप में एक महोत्सव है जैसाकि द्वारका नगर की स्त्रियों ने माना। इसे आज भी भारत की श्रद्धालु स्त्रियाँ इसी तरह मानती हैं। विशेषकर, झूलना तथा जन्माष्टमी-उत्सवों के अवसरों पर, भगवान् के मन्दिर में, जहाँ उनके शाश्वत दिव्य रूप की पूजा की जाती है, स्त्रियाँ सर्वाधिक संख्या में जुटती हैं। मन्दिर में स्थापित भगवान् का दिव्य स्वरूप, साक्षात् भगवान् से भिन्न नहीं होता। भगवान् का ऐसा स्वरूप *अर्चा-विग्रह* या *अर्चा-अवतार* कहलाता है और इस भौतिक जगत के असंख्य भक्तों की भक्ति को सरल बनाने के लिए भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा इसे विस्तार दिया जाता है। भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की आध्यात्मिक प्रकृति की अनुभूति नहीं कर पातीं। अतएव भगवान् *अर्चा-विग्रह* रूप का स्वीकार करते हैं, जो बाह्य रूप से मिट्टी, काठ तथा पत्थर का बना होता है, लेकिन इसमें कोई भौतिक कल्मष नहीं होता। भगवान् *कैवल्य* (एकाकी) होने के कारण उनमें कोई भौतिक पदार्थ नहीं रहता। वे अद्वितीय हैं, अतएव वे भौतिक धारणा से कल्मषग्रस्त हुए बिना किसी भी रूप में प्रकट हो सकते हैं। अतएव भगवान् के मन्दिर के सारे उत्सव, जिस रूप में वे मनाये जाते हैं उन उत्सवों के समान होते हैं, जो लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व द्वारका में भगवान् के वास के दिनों में मनाये जाते थे। प्रामाणिक आचार्य, जो ईश-तत्त्व के विज्ञान से भलीभाँति परिचित होते हैं, ऐसे भगवत्-मन्दिरों की स्थापना विधि-विधानों के अन्तर्गत सामान्य लोगों की सुविधा के लिए

करते हैं, लेकिन जो लोग अल्पज्ञ हैं और इस विज्ञान से परिचित नहीं होते, वे इस महान् प्रयास को मूर्ति–पूजा मानने की गलती करते हैं और ऐसी बातों में अपनी टाँग अड़ाते हैं, जिन तक उनकी पहुँच नहीं होती। अतएव वे स्त्रियाँ या पुरुष, जो भगवान् के दिव्य स्वरूप की झाँकी प्राप्त करने के लिए भगवान् के मन्दिरों में उत्सव रचाते हैं, भगवान् के दिव्य रूप में विश्वास न करनेवालों से हजार गुना धन्य हैं।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि द्वारका के निवासी बड़े–बड़े महलों के मालिक थे। यह नगर की समृद्धि का द्योतक है। स्त्रियाँ जुलूस को देखने तथा भगवान् की झाँकी प्राप्त करने के उद्देश्य से अटारियों पर चढ़ गईं। स्त्रियाँ मार्गों की भीड़ के बीच में नहीं गईं और इस तरह उनकी प्रतिष्ठा भलिभाँतिबनी रही। वहाँ पर मनुष्य के साथ बनावटी समानता नहीं थी। स्त्री को पुरुष से पृथक् रखकर, उसकी प्रतिष्ठा की अधिक अच्छे ढंग से रक्षा की जा सकती है। स्त्री–पुरुषों को बे–रोक–टोक मिलना–जुलना नहीं चाहिए।

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—नियमित रूप से, सदैव; निरीक्षमाणानाम्—उनको देखनेवालों का; यत्—यद्यपि; अपि—के होते हुए; द्वारका-ओकसाम्—द्वारका के निवासी; न—कभी नहीं; वितृप्यन्ति—तुष्ट होते हैं; हि—ठीक से; दृशः—दृश्य; श्रियः—सौन्दर्य; धाम-अङ्गम्—शरीर रूपी आगार; अच्युतम्—अमोघ।

द्वारकावासी समस्त सौन्दर्य के आगार अच्युत भगवान् को नित्य निहारने के अभ्यस्त थे, फिर भी वे कभी तृप्त नहीं होते थे।

तात्पर्य : जब द्वारका नगर की स्त्रियाँ अपने–अपने महलों की अटारियों पर चढ़ गईं, तो उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि इससे पूर्व, उन्होंने अच्युत भगवान् के सुन्दर शरीर को अनेक बार देखा था। इससे संकेत मिलता है कि उनके भगवद्दर्शन की इच्छा से स्त्रियाँ तृप्त नहीं हुई थीं। यदि कोई भौतिक वस्तु बारम्बार देखी जाती है, तो उसके प्रति तृप्ति के नियमानुसार, आकर्षण का कम होना स्वाभाविक है, लेकिन यह तृप्ति का नियम भौतिक वस्तुओं पर लागू होता है, आध्यात्मिक जगत में इसकी गुंजायश नहीं रहती। यहाँ पर *अच्युत* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि भगवान् ने कृपापूर्वक पृथ्वी पर

अवतरित हुए थे, किन्तु तो भी वे अच्युत हैं। सारे जीव च्युत अर्थात् पतनशील हैं, क्योंकि जब वे भौतिक जगत के संसर्ग में आते हैं, तो वे अपनी आध्यात्मिक पहचान खो देते है, जिसके कारण उनका भौतिक शरीर जन्म, वृद्धि, रूपान्तर, परिस्थिति, क्षय तथा विनाश जैसे प्राकृतिक नियमों के अधीन रहता है। किन्तु भगवान् का शरीर ऐसा नहीं होता है। वे अपने वास्तविक रूप में अवतरित होते हैं और भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा कभी भी प्रभावित नहीं होते। उनका शरीर प्रत्येक सम्भावित वस्तु का स्रोत है और अनुभवातीत समस्त शोभा का आगार है। अतएव भगवान् के दिव्य शरीर का दर्शन करके किसी को भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें नित्य नवीन सौन्दर्य दृष्टिगत होता रहता है। दिव्य नाम, रूप, गुण, पार्षद इत्यादि सभी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं और भगवान् के पवित्र नाम का नाम-कीर्तन करने तथा उनके गुणों का कथन करने में कभी तृप्ति नहीं होती और न भगवान् के पार्षदों की ही कोई सीमा है। वे सबों के स्रोत हैं और असीम हैं।

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रियः—लक्ष्मी का; निवासः—निवासस्थान; यस्य—जिसका; उरः—वक्षस्थल; पान-पात्रम्—जल का घड़ा; मुखम्—मुँह; दृशाम्—आँखों का; बाहवः—बांहें; लोक-पालानाम्—प्रशासक देवताओं की; सारङ्गाणाम्—भक्तों का, जो किसी वस्तु के विषय में कुछ कहते या गाते हैं; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

भगवान् का वक्षस्थल लक्ष्मी देवी का निवासस्थल है। उनका चाँद जैसा मुखड़ा उन नेत्रों के लिए जलपात्र के समान है, जो सुन्दर वस्तुओं के लिए सदैव लालायित रहते हैं। उनकी भुजाएँ प्रशासक देवताओं के लिए आश्रयस्थल हैं और उनके चरणकमल उन शुद्ध भक्तों की शरणस्थली हैं, जो भगवान् के अतिरिक्त न तो कुछ कहते हैं, न गाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों की अनेक कोटियाँ हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग खोजती रहती हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो लक्ष्मीदेवी की कृपा के इच्छुक रहते हैं। उन्हें वैदिक साहित्य यह बताता है कि *चिन्तामणिधाम** में भगवान् हजारों-हजार लक्ष्मियों के द्वारा पूरे भक्तिभाव सहित सेवित होते रहते हैं। यह धाम भगवान् का दिव्य घर है, जहाँ सारे वृक्ष कल्पतरु हैं और प्रासाद पारसमणि के बने हुए हैं। वहाँ पर भगवान् अपने स्वाभाविक पेशे के तौर पर सुरभि गायों को चराने में

लगे रहते हैं। यदि हम भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य से आकृष्ट हों, तो ये लक्ष्मियाँ स्वतः दिखाई पड़ती हैं। निर्विशेषवादी इन लक्ष्मियों को नहीं देख पाते, क्योंकि वे शुष्क चिन्तक होते हैं। लेकिन जो कलाकार हैं तथा सुन्दर सृष्टि द्वारा अभिभूत रहते हैं, उन्हें चाहिए कि पूर्ण तुष्टि

footnote starts here

चिन्तामणि-प्रकर-सद्मसु कल्पवृक्ष

लक्षावृक्षतेषु सुरभिरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम

सेव्यमानम् गोविन्दामादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(*ब्रह्मसंहिता,* ५.२९)

footnote ends here

के लिए भगवान् का सुन्दर मुख देखें। भगवान् का मुख समस्त सुन्दरता का आगार है। जिसे वे सुन्दर प्रकृति कहकर पुकारते हैं, वह तो उनकी मन्द मुस्कान है और जिसे वे पक्षियों का कलरव कहते हैं, वे भगवान् की मर्मर ध्वनियाँ हैं। ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के लिए प्रशासनाधिकारी देवता होते हैं और राज्य-स्तर पर भी छोटे-छोटे देवता होते हैं। वे सदैव अन्य प्रतियोगियों से भयभीत रहते हैं, किन्तु यदि वे भगवान् की भुजाओं का आश्रय लें, तो भगवान् शत्रुओं के आक्रमण से सदैव उनकी रक्षा कर सकते हैं। प्रशासनिक सेवा में लगा हुआ भगवान् का श्रद्धालु दास आदर्श प्रशासनाधिकारी होता है और वह सामान्य-जन के हितों की रक्षा भलीभाँति कर सकता है। अन्य तथाकथित प्रशासक राजतंत्र के प्रतीक होते हैं, जिनके द्वारा शासित लोगों को दुःसह दुख सहने पड़ते हैं। प्रशासकगण भगवान् की भुजाओं का संरक्षण प्राप्त करके सुरक्षित रह सकते हैं। परमेश्वर सभी वस्तुओं के सार हैं, अतएव वे *सारम्* कहलाते हैं और जो उनका गुणगान करते हैं, वे *सारंग* या शुद्ध भक्त कहलाते हैं। शुद्ध भक्त तो भगवान् के चरणकमलों के लिए लालायित रहते हैं। कमल में एक प्रकार का मधु होता है, जिसका दिव्य आस्वाद भक्तगण करते हैं। वे उन मधुमखियों के तुल्य हैं, जो मधु के लिए सदा दौड़ती रहती हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान् भक्त आचार्य श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी तुलना मधुमक्खी से करते हुए इस कमल-मधु के विषय में एक गीत लिखा है : ''हे मेरे भगवान् कृष्ण! मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ। मेरा मन मधुमक्खी के समान है, जो थोड़ा कुछ मधु पाने के लिए लालायित है। अतएव कृपा

करके मेरी मनरूपी मधुमक्खी को अपने चरणकमलों में स्थान प्रदान करें, जो समस्त दिव्य मधु के आगार हैं। मैं जानता हूँ कि ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े देवता, वर्षों तक लगातार गहन ध्यान में तल्लीन रहकर भी, आपके चरणकमलों के नाखूनों की द्युति को भी देख नहीं पाते। फिर भी, हे अच्युत! मेरी ऐसी अभिलाषा है, क्योंकि आप शरणागतों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। हे माधव! मैं यह भी जानता हूँ कि मुझ में आपके चरणों की सेवा के प्रति वास्तविक अनुरक्ति नहीं है, लेकिन आप अकल्पनीय शक्तिशाली हैं, अतएव आप असम्भव से असम्भव कार्य कर सकते हैं। आपके चरणकमलों के समक्ष स्वर्ग का अमृत भी तुच्छ है, अतएव मैं उनके प्रति अत्यधिक अनुरक्त हूँ। अतएव हे परम नित्य! मेरे मन को आपके चरणकमलों में स्थिर होने दे, जिससे मैं आपकी दिव्य सेवा का आस्वाद निरन्तर लेता रहूँ।'' भक्तगण भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त करके तुष्ट रहते हैं और उन्हें भगवान् के सर्व-सुन्दर मुख को देखने अथवा उनकी बलिष्ठ भुजाओं के संरक्षण की कोई अभिलाषा नहीं रह जाती। वे स्वभाव से विनम्र होते हैं और भगवान् का ऐसे विनम्र भक्तों के प्रति सदैव झुकाव रहता है।

सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृत:
प्रसूनवर्षैरभिवर्षित: पथि ।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतै: ॥ २७॥

शब्दार्थ

सित-आतपत्र—श्वेत छाता; व्यजनै:—चामर से; उपस्कृत:—झला जाकर; प्रसून—फूलों की; वर्षै:—वर्षा से; अभिवर्षित:—आच्छादित होकर; पथि—मार्ग पर; पिशङ्ग-वासा:—पीताम्बर से; वन-मालया—फूलों के हारों से; बभौ—हो गया; घन:—बादल; यथा—जिस प्रकार; अर्क—सूर्य; उडुप—चन्द्रमा; चाप—इन्द्रधनुष; वैद्युतै:—बिजली से।

जब भगवान् द्वारका के राजमार्ग से होकर गुजर रहे थे, तब एक श्वेत छत्र तानकर उनके सिर को धूप से बचाया जा रहा था। श्वेत पंखों वाले पंख (चंवर) अर्धवृत्ताकार में झल रहे थे और मार्ग पर फूलों की वर्षा हो रही थी। पीताम्बर तथा फूलों के हार से वे इस प्रकार प्रतीत हो रहे थे, मानो श्याम बादल एक ही साथ सूर्य, चन्द्रमा, बिजली तथा इन्द्रधनुष से घिर गया हो।

तात्पर्य : सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष तथा बिजली एकसाथ आसमान में कभी प्रकट नहीं होते। सूर्य के रहने पर चाँदनी नगण्य बन जाती है और यदि बादल हों तथा इन्द्रधनुष उगा हो, तो फिर बिजली

नहीं चमकती। भगवान् के शरीर की कान्ति वर्षाऋतु के नवीन बादल जैसी है। उनकी तुलना यहाँ पर बादल से की गई है। उनके सिर के ऊपर तना श्वेत छाता मानो सूर्य है। चँवर के हिलने-डुलने की तुलना चन्द्रमा से की गई है। फूलों की वर्षा की उपमा तारों से और उनके पीताम्बर की तुलना इन्द्रधनुष से की गई है। अतएव आकाश की ये सारी गतिविधियाँ कभी भी एकसाथ घटित नहीं हो सकतीं और तुलना द्वारा समंजित नहीं की जा सकतीं। ऐसा सामञ्जस्य तभी सम्भव है, जब हम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का चिन्तन करें। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी उपस्थिति में कोई भी असम्भव बात उनकी अचिन्त्य शक्ति से सम्भव बनाई जा सकती है। लेकिन द्वारका के मार्गों से उनके गुजरते समय जो स्थिति उत्पन्न हुई, वह सुन्दर थी और उसकी तुलना प्राकृतिक घटनाओं के वर्णन के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से नहीं की जा सकती।

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रविष्टः—प्रवेश करने पर; तु—लेकिन; गृहम्—घर में; पित्रोः—पिता के; परिष्वक्तः—आलिंगित होकर; स्व-मातृभिः—अपनी माताओं द्वारा; ववन्दे—नमस्कार किया; शिरसा—सिर से; सप्त—सात; देवकी—देवकी; प्रमुखा—इत्यादि; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक ।.

अपने पिता के घर में प्रवेश करने पर उन्हें उनकी माताओं ने गले लगाया और भगवान् ने उनके चरणों पर अपना शिर रखकर उन्हें नमस्कार किया। माताओं में देवकी (उनकी असली माता) प्रमुख थीं।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव का अपना अलग से आवास था, जहाँ वे अपनी अठारह रानियों समेत रहते थे, जिनमें से श्रीमती देवकी कृष्ण की असली माता हैं। लेकिन इतने पर भी, अन्य सौतेली माताएँ उन्हें समान रूप से प्यार करती थीं, जैसाकि अगले श्लोक से पता चल जाएगा। भगवान् कृष्ण भी अपनी असली माता तथा विमाताओं में कोई भेदभाव नहीं करते थे और उन्होंने उस अवसर पर उपस्थित वसुदेव की समस्त पत्नियों को नमस्कार किया। शास्त्रों के अनुसार भी सात प्रकार की माताएँ होती हैं—(१) वास्तविक माता, (२) गुरु-पत्नी, (३) ब्राह्मण-पत्नी, (४) राजा की पत्नी, (५) गाय, (६) धाय तथा (७) पृथ्वी। ये सभी माताएँ हैं। शास्त्रों के इस

आदेश से भी विमाता, जो पिता की पत्नी होती है, माता के तुल्य होती है, क्योंकि पिता गुरु भी होता है। ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् कृष्ण अन्यों को विमाताओं के साथ व्यवहार करने की शिक्षा देने के लिए एक आदर्श पुत्र की भूमिका निभाते हैं।

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे सभी; पुत्रम्—पुत्र को; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—बिठाकर; स्नेह-स्नुत—स्नेह से सिक्त; पयोधराः—वक्षस्थल; हर्ष—प्रसन्नता; विह्वलित-आत्मानः—से विभोर; सिषिचुः—नम; नेत्रजैः—आँखों के; जलैः—जल से।

माताओं ने अपने पुत्र को गले लगाने के बाद, उसे अपनी-अपनी गोद में बिठाया। विशुद्ध स्नेह के कारण उनके स्तनों से दूध निकल आया। वे हर्ष से विभोर हो गईं और उनके नेत्रों के अश्रुओं से भगवान् भीग गये।

तात्पर्य : जब भगवान् कृष्ण वृन्दावन में थे, तो गौंवे भी उनके प्रति स्नेहिल हो उठती थीं और वे उनके थनों से दूध दुह लिया करते थे। तो उनकी विमाताओं का क्या कहना, जो उनकी माता तुल्य ही थीं?

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम् ।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अविशत्—प्रविष्ट हुए; स्व-भवनम्—अपने महलों में; सर्व—समस्त; कामम्—इच्छाएँ; अनुत्तमम्—सब तरह से पूर्ण; प्रासादाः—महल; यत्र—जहाँ; पत्नीनाम्—पत्नियों को; सहस्राणि—हजारों; च—इसके ऊपर; षोडश—सोलह।

तत्पश्चात् भगवान् अपने महलों में प्रविष्ट हुए, जो सभी तरह से परिपूर्ण थे। उनमें उनकी पत्नियाँ रहती थीं और वे सोलह हजार से अधिक थीं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं और प्रत्येक के लिए चारदीवारी तथा उद्यान से युक्त पूर्ण रूप से सुसज्जित महल थे। इन महलों का पूरा विवरण दशम स्कंध में दिया गया है। सारे महल सर्वोत्तम संगमरमर पत्थर के बने थे। वे रत्नों से प्रकाशित थे और मखमल तथा रेशम के पर्दों तथा गलीचों से सज्जित थे, जिनके किनारों पर सोने की जरी लगी थी। भगवान् का अर्थ है, जो समस्त

बल, समस्त शक्ति, समस्त ऐश्वर्य, समस्त सौन्दर्य, समस्त ज्ञान तथा समस्त वैराग्य से परिपूर्ण हो। अतएव भगवान् के महलों में कोई वस्तु ऐसी न थी, जिससे भगवान् की सारी इच्छाएँ पूरी न होती हों। भगवान् असीम हैं, अतएव उनकी इच्छाएँ भी असीमित हैं और पूर्ति भी असीमित है। प्रत्येक वस्तु असीम होने के कारण यहाँ पर संक्षेप में *सर्वकामम्,* अर्थात् सभी वांछनीय वस्तुओं से पूर्ण कहा गया है।

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पत्न्यः—पत्नियाँ (भगवान् कृष्ण की); पतिम्—पति को; प्रोष्य—घर से दूर गया हुआ; गृह-अनुपागतम्—अब घर लौटा हुआ; विलोक्य—देखकर; सञ्जात—उत्पन्न करके; मनः-महा-उत्सवाः—मन के भीतर प्रसन्नतापूर्ण उत्सव का भाव; उत्तस्थुः—उठीं; आरात्—दूर से; सहसा—एकाएक; आसना—आसनों से; आशयात्—ध्यान अवस्था से; साकम्—के साथ; व्रतैः—व्रत के; व्रीडित—लज्जा से देखते; लोचन—नेत्र; आननाः—मुख।

दीर्घकाल तक बाहर रहने के बाद अपने पति को घर आया देखकर श्रीकृष्ण की रानियाँ मन ही मन अत्यन्त हर्षित हुईं। वे अपने-अपने आसनों तथा ध्यानों से तुरन्त उठकर खड़ी हो गईं। सामाजिक प्रथा के अनुकूल, उन्होंने लज्जा से अपने मुख ढक लिये और दृष्टि नीची किये देखने लगीं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है भगवान् अपनी १६,१०८ रानियों के महलों में प्रविष्ट हुए। इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने तुरन्त ही अपना विस्तार उतने अंशों में कर लिया, जितनी रानियाँ तथा महल थे और उन सबों में एकसाथ पृथक्-पृथक् प्रविष्ट हुए। यहाँ पर उनकी अन्तरंगा शक्ति की अन्य अभिव्यक्ति हुई है। वे इच्छानुसार अनेक आध्यात्मिक स्वरूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं, यद्यपि वे अद्वितीय हैं। श्रुति मंत्र से प्रतिपादित होता है कि परम पूर्ण एक हैं, किन्तु इच्छानुसार वे अनेक बन जाते हैं। परमेश्वर के ये अनेक विस्तार पूर्ण तथा भिन्नांशों के रूप में होते हैं। भिन्नांश उनकी शक्ति के द्योतक हैं और पूर्णांश उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तरह भगवान् ने अपने १६,१०८ पूर्ण अंश प्रकट किये और प्रत्येक रानी के महल में एक ही साथ प्रविष्ट हुए। इसे *वैभव* या भगवान् की

दिव्य शक्ति कहा जाता है। चूँकि वे ऐसा कर सकते हैं, अतएव वे योगेश्वर भी कहलाते हैं। सामान्यतया कोई योगी अपना अधिक से अधिक दस गुना विस्तार कर सकता है, लेकिन भगवान् इच्छानुसार कई हजार गुना या अनन्त विस्तार कर सकते हैं। अश्रद्धालु लोग यह जानकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि कृष्ण ने १६,००० से अधिक रानियों से विवाह किया, क्योंकि वे उन्हें अपने ही समान एक मान कर, अपनी सीमित शक्ति से उनकी शक्ति की तुलना करते हैं। अतएव मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि भगवान् कभी भी जीवों के स्तर पर नहीं होते। जीव उनकी तटस्था शक्ति के विस्तार मात्र हैं। मनुष्य को कभी सोचना भी नहीं चाहिए कि शक्तिमान तथा शक्ति समान होते हैं, यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में गुण का केवल रंचमात्र अन्तर है। रानियाँ भी उनकी अन्तरंगा शक्ति की विस्तार थीं और इस तरह शक्ति तथा शक्तिमान निरन्तर दिव्य आनन्द का आदान-प्रदान करते हैं। इन्हें ही भगवान् की लीलाएँ कहते हैं। अतएव किसी को यह जानकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि भगवान् की इतनी सारी पत्नियाँ थीं। उल्टे, लोगों को यह मानना चाहिए कि यदि भगवान् के लाखों-करोड़ों पत्नियाँ होतीं, तो भी वे अपनी असीम तथा अक्षय शक्ति को पूरी तरह प्रकट नहीं कर रहे। उन्होंने केवल १६,००० पत्नियों से ब्याह किया और उनमें से प्रत्येक के महल में यह दिखाने के लिए प्रवेश किया कि इस पृथ्वी पर कोई मनुष्य कितना ही बलवान क्यों न हो, वह न तो उनकी समता कर सकता है, न उनसे बढ़कर है। अतएव न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। भगवान् सभी मामलों में सदा महान् हैं। शाश्वत सत्य भी यही है कि, ''ईश्वर महान् हैं।''

अतएव कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण दीर्घकाल तक घर से दूर रहनेवाले अपने पति को ज्योंही रानियों ने कुछ दूरी पर देखा, तो वे ध्यान की निद्रा से जग गईं और अपने प्रियतम की अगवानी के लिए तैयार हो गईं। याज्ञवल्क्य के धार्मिक आदेशानुसार जिस स्त्री का पति घर से बाहर हो, उसे न तो किसी सामाजिक उत्सव में भाग लेना चाहिए, न शरीर को अलंकृत करना चाहिए, न हँसना चाहिए और न किसी भी परिस्थिति में अपने सम्बन्धी के घर जाना चाहिए। जिन स्त्रियों के पति बाहर हों, उनके लिए यही व्रत है। लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि पत्नी कभी भी अपने पति के समक्ष मलिन अवस्था में उपस्थित न हो। वह अपने आपको आभूषणों से अलंकृत करे और अच्छे वस्त्र पहने और पति के समक्ष सदैव प्रसन्न तथा हर्षित मुद्रा में जाए। कृष्ण की सारी रानियाँ पति की

अनुपस्थिति का चिन्तन करते हुए ध्यान-मग्न थीं और निरन्तर उन्हीं का ध्यान करती रहती थीं। भगवान् के भक्त भगवान् के ध्यान के बिना पल भर भी नहीं रह सकते, तो फिर रानियों के लिए क्या कहा जाय, जो द्वारका में भगवान् की लीलाओं में रानी के रूप में अवतरित हुई लक्ष्मीयाँ थीं। वे भगवान् की उपस्थिति द्वारा या समाधि द्वारा उनसे कभी विलग नहीं की जा सकतीं। वृन्दावन की गोपियाँ जब भगवान् वन में गाएँ चराने के लिए बाहर जाते थे, तो भगवान् को भुला नहीं पाती थीं। जब बाल-रूप भगवान् कृष्ण गाँव में नहीं होते थे, तो घर पर गोपियाँ, नरम चरणकमलों से कठोर भूमि पर चलते हुए कृष्ण के बारे में चिन्ता करती रहतीं। कभी-कभी इस तरह चिन्तन करते-करते वे समाधि में पहुँच जातीं और हृदय में सन्ताप करतीं। भगवान् के शुद्ध पार्षदों की ऐसी ही दशा होती है। वे सदैव समाधि में रहते हैं। अतएव कृष्ण की अनुपस्थिति में रानियाँ भी समाधिस्थ थीं। इस समय, भगवान् को कुछ दूरी पर देखकर, उन्होंने अपने सारे कार्य छोड़ दिये, जिनमें उपर्युक्त स्त्रियों के व्रत भी सम्मिलित थे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के मतानुसार इस अवसर पर नियमित मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई। पहले तो वे सभी अपने-अपने आसनों से उठ गईं, क्योंकि अपने-अपने पति को देखना चाहती थीं, किन्तु स्त्री योचित लज्जा के कारण वे रुक गईं, लेकिन प्रबल उत्कंठा के कारण उन्होंने इस दुर्बलता की अवस्था पर काबू पा लिया और भगवान् का आलिंगन करने की भावना से अभिभूत हो गईं और इस विचार ने उन्हें अपने आस-पास के परिवेश से अचेत बना दिया। इस उत्कंठा की मूल दशा के कारण सारी औपचारिकताओं एवं सामाजिक रीति-रिवाजों का अन्त हो गया और इस तरह भगवान् के मिलन-पथ के सारे अवरोध दूर हो गये। आत्मा के प्रभु, श्रीकृष्ण के मिलन की यह चरम अवस्था है।

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावा: परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (भगवान्) को; **आत्म-जैः**—पुत्रों द्वारा; **दृष्टिभिः**—दृष्टि द्वारा; **अन्तर-आत्मना**—अन्तरात्मा से; **दुरन्त-भावाः**—दुर्लंघ्य उत्कंठा; **परिरेभिरे**—आलिंगन किया; **पतिम्**—पति को; **निरुद्धम्**—अवरुद्ध; **अपि**—होते हुए; **आस्रवत्**—आँसू; **अम्बु**—जल

की बूँदों के समान; नेत्रयो:—आँखों से; विलज्जतीनाम्—लज्जा अनुभव करनेवाली; भृगु-वर्य—हे भृगुओं में श्रेष्ठ; वैक्लवात्—अनजाने।

रानियों की दुर्लंघ्य उत्कण्ठा इतनी तीव्र थी कि लजाई होने के कारण उन्होंने सर्वप्रथम अपने अन्तरतम से भगवान् का आलिंगन किया, फिर उन्होंने दृष्टि से उनका आलिंगन किया और तब अपने पुत्रों को उनका आलिंगन करने के लिए भेजा (जो खुद ही आलिंगन करने जैसा है)। लेकिन हे भृगुश्रेष्ठ, यद्यपि वे भावनाओं को रोकने का प्रयास कर रही थीं, किन्तु अनजाने उनके नेत्रों से अश्रु छलक आये।

तात्पर्य : यद्यपि स्त्रियोचित लज्जा के कारण अपने प्रिय पति भगवान् श्रीकृष्ण का आलिंगन करने में अनेक अवरोध थे, लेकिन उन्होंने भगवान् को देखकर, उन्हें अपने अन्तरतम में स्थापित करके तथा आलिंगन करने के लिए अपने पुत्र भेज करके, इसे पूरा कर लिया। लेकिन इस पर भी काम अधूरा ही रहा और अत्यन्त प्रयास करने पर भी उनकी आँखों से आँसू ढुलक आये। पुत्र को पिता का आलिंगन करने के लिए भेजना अप्रत्यक्ष रूप से पति का आलिंगन करने जैसा है, क्योंकि पुत्र माता के शरीर से ही विकसित होता है। पुत्र द्वारा आलिंगन पति-पत्नी द्वारा काम-भावना की दृष्टि से किये जानेवाले आलिंगन-जैसा नहीं होता, लेकिन यह आलिंगन वात्सल्य की दृष्टि से तृप्तिदायक होता है। *युगल सम्बंधों* में दृष्टि द्वारा आलिंगन अधिक प्रभावशाली होता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, पति तथा पत्नी में इस प्रकार के भाव-विनिमय में कुछ भी गलत नहीं है।

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदि—यद्यपि; अपि—निश्चय ही; असौ—वे (भगवान् श्रीकृष्ण); पार्श्व-गत:—बगल में; रह:-गत:—अकेले; तथापि—फिर भी; तस्य—उसका; अङ्घ्रि-युगम्—भगवान् के चरण; नवम् नवम्—नये-नये; पदे—पग; पदे—पग पर; का—कौन; विरमेत—विलग किया जा सकता है; तत्-पदात्—उनके चरणों से; चलापि—गतिशील; यत्—जिसको; श्री:—लक्ष्मी जी; न—कभी नहीं; जहाति—छोड़ती है; कर्हिचित्—कभी भी।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण निरन्तर उनके पास थे और बिल्कुल अकेले भी थे, तो भी उनके चरण उन्हें नवीनतर लग रहे थे। यद्यपि लक्ष्मी जी स्वभाव से चंचल हैं, लेकिन वे भी भगवान् के

चरणों को नहीं छोड़ती थीं। तो भला जो स्त्री एक बार उन चरणों की शरण में जा चुकी हो, वह उनसे किस प्रकार विलग की जा सकती है?

तात्पर्य : बद्धजीव लक्ष्मीजी की कृपा के सदैव भूखे रहते हैं, यद्यपि स्वभाव से लक्ष्मीजी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती रहती हैं। भौतिक जगत में कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, वह स्थायी रूप से भाग्यशाली नहीं होता। संसार के विभिन्न भागों में न जाने कितने विशाल साम्राज्य हुए हैं, संसार में न जाने कितने शक्तिशाली राजा हुए हैं और न जाने कितने भाग्यशाली पुरुष हो चुके हैं, लेकिन क्रमशः उन सबका क्षय हुआ है। यही प्रकृति का नियम है, लेकिन आध्यात्मिकता में स्थिति भिन्न होती है। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार, भगवान् की सेवा में सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ अत्यन्त विनम्रतापूर्वख लगी रहती हैं। वे भगवान् के साथ सदैव एकान्त में होती हैं। तो भी भगवान् का सान्निध्य नित-नित इतना नवीन लगता है कि वे क्षण भर के लिए भी, भगवान् को नहीं छोड़ पाती हैं, यद्यपि वे स्वभाव से चंचल हैं और इधर-उधर विचरण करती रहती हैं। भगवान् के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध इतना जीवन्त होता है कि एक बार उनकी शरण में आ जाने पर भगवान् का संग नहीं छोड़ा जा सकता।

सारे जीव स्वभाव से स्त्रैण हैं। पुरुष या भोक्ता तो भगवान् हैं और उनकी विभिन्न शक्तियों की सारी अभिव्यक्तियाँ भी स्त्रैण हैं। *भगवद्गीता* में जीवों को *परा-प्रकृति* अर्थात् उच्चतर शक्ति की उपाधि से दी गइ है। भौतिक तत्त्व *अपरा-प्रकृति* या निकृष्ट शक्ति हैं। ऐसी शक्तियाँ भोक्ता की तुष्टि के लिए व्यवहार में लाइ जाती हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है, परम भोक्ता तो स्वयं भगवान् हैं। अतएव जब शक्तियों को सीधे भगवान् की सेवा में लगाया जाता है, तो उन्हें असली रूप प्राप्त होता है और तब शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

सामान्यतया किसी नौकरी में लगे लोग, सदैव राज्य या सरकार के परम भोक्ता के अधीन कोई पद चाहते हैं। चूँकि भगवान् इस ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर की प्रत्येक वस्तु के परम भोक्ता हैं, अतएव उनकी सेवा में लगना हर्ष का विषय है। एक बार भगवान् की परम सरकारी सेवा में लग जाने पर कोई भी जीव कभी उससे मुक्त होना नहीं चाहता। मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि भगवान् की परम सेवा में कोई कार्य प्राप्त करना है। इससे मनुष्य परम सुखी बनता है। तब उसे भगवान् से सम्बन्ध बनाए बिना चंचला लक्ष्मी को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभि: परिवृत्ततेजसाम् ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो निरायुध: ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नृपाणाम्—राजाओं या प्रशासकों के; क्षिति-भार—पृथ्वी का बोझ; जन्मनाम्—इस प्रकार से उत्पन्न; अक्षौहिणीभि:—घोड़ों, हाथियों, रथों तथा पैदल सेना शक्ति के द्वारा शक्ति-सम्पन्न; परिवृत्त—ऐसे परिवेश से गर्वित; तेजसाम्—पराक्रम; विधाय—उत्पन्न करके; वैरम्—शत्रुता; श्वसन:—बाँसों के पौधों तथा वायु के घर्षण से; यथा—जिस प्रकार; अनलम्—अग्नि; मिथ:—एक दूसरे के साथ; वधेन—मारने से; उपरत:—छूटकर; निरायुध:—युद्ध में किसी का पक्ष न करने से।.

पृथ्वी पर भार-स्वरूप राजाओं को मारने के बाद, भगवान् को राहत हुई। वे अपनी सैन्य-शक्ति, अपने घोड़ों, हाथियों, रथों, पैदल सेना के बल पर गर्वित थे। युद्ध में भगवान् किसी दल में सम्मिलित नहीं हुए। उन्होंने बलशाली प्रशासकों में शत्रुता उत्पन्न की और वे आपस में लड़ गये। वे उस वायु के समान थे, जो बाँसों में घर्षण उत्पन्न करके आग लगा देती है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जीव उन वस्तुओं का वास्तविक भोक्ता नहीं होता, जो भगवान् की सृष्टि के रूप में प्रकट होती हैं। भगवान् अपनी सृष्टि में प्रकट की गई प्रत्येक वस्तु के असली स्वामी तथा भोक्ता हैं। दुर्भाग्यवश, माया के वश में आकर, जीव प्रकृति के गुणों के आदेशानुसार मिथ्या भोक्ता बन जाता है। ईश्वर बनने की ऐसी मिथ्या भावना से गर्वित होकर मोहित जीव अनेकानेक कार्यों के द्वारा अपनी भौतिक शक्ति बढ़ाता है और इस तरह पृथ्वी का बोझ बन जाता है और यहाँ तक कि पृथ्वी भलेमानस के लिए रहने योग्य नहीं रह जाती। यह अवस्था *धर्मस्य ग्लानि* अर्थात् मानव शक्ति का दुरुपयोग कहलाती है। जब इस प्रकार धर्म की ग्लानि प्रकट होने लगती है, तो धर्मात्मा लोग, धरती के लिए भार-स्वरूप भ्रष्ट प्रशासकों द्वारा उत्पन्न विषम परिस्थिति में व्यग्र हो उठते हैं और तब धर्मात्मा लोगों की रक्षा करने तथा संसार विभिन्न भागों के ऐसे प्रशासकों के भार को कम करने के लिए भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतरित होते हैं। वे इन अवांछित प्रशासकों पर दया नहीं दिखाते, अपितु अपनी शक्ति से वे उनके बीच शत्रुता उत्पन्न कर देते हैं, ठीक उसी तरह जिस प्रकार वायु बाँसों की रगड़ से जंगल में अग्नि उत्पन्न कर देती है। यह अग्नि जंगल में स्वत: वायु के

प्रकोप से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार राजनेताओं के विभिन्न समुहों में शत्रुता का प्रादुर्भाव भगवान् की अदृश्य योजना से होता है। ये अवांछित प्रशासक झूठी शक्ति तथा सैन्य-बल से गर्वित होकर, आदर्शवादी संघर्षों के लिए परस्पर युद्ध करने लगते हैं और अपनी सारी शक्ति का क्षय कर लेते हैं। विश्व का इतिहास भगवान् की इस इच्छाशक्ति को दर्शाता है और यह तब तक चलती रहेगी, जब तक सारे जीव भगवान् की सेवा में अनुरक्त नहीं हो जाते। *भगवद्गीता* (७.१४) में यह तथ्य अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है, जिसमें कहा गया है, ''माया मेरी शक्ति है इसलिए आश्रित जीवों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे भौतिक गुणों की शक्ति का अतिक्रमण कर सकें। किन्तु जो लोग मेरी (भगवान् श्रीकृष्ण की) शरण ग्रहण करते हैं, वे इस भौतिक शक्ति विशाल सागर को पार कर सकते हैं।'' इसका अर्थ यह हुआ कि सकाम कर्म द्वारा या चिन्तन या आदर्शवाद द्वारा शान्ति तथा सम्पन्नता नहीं लाई जा सकती। इसका एकमात्र उपाय है परमेश्वर की शरण ग्रहण करना और माया के मोह से मुक्त हो लेना।

दुर्भाग्यवश जो लोग विध्वंसक कार्य में लगे हैं, वे भगवान् की शरण ग्रहण करने में अक्षम हैं। वे अव्वल दर्जे के मूर्ख हैं; वे मनुष्य योनि के निम्नतम् स्तर पर गिरे हुए हैं; उनका सारा ज्ञान हर लिया गया होता है, यद्यपि बाहरी तौर पर शैक्षिक दृष्टि से वे पढ़े-लिखे लगते हैं। वे सारे आसुरी वृत्ति के होते हैं और सदैव ही भगवान् की परम शक्ति को ललकारते रहते हैं। जो अत्यधिक भौतिकतावादी हैं और भौतिक शक्ति एवं सत्ता के लिए लालायित रहते हैं, वे निस्सन्देह पहले दर्जे के मूर्ख हैं, क्योंकि उन्हें जीवंत शक्ति का कोई ज्ञान नहीं होता। वे सर्वोपरि अध्यात्म ज्ञान से अनजान होने के कारण भौतिक विज्ञान में मस्त रहते हैं, जिसका समापन शरीर के अन्त के साथ हो जाता है। वे निपट अधम मनुष्य होते हैं, क्योंकि मनुष्य जीवन तो विशेष रूप से भगवान् के साथ विस्मृत सम्बन्ध को पुन:स्थापित करने के निमित्त मिला है, किन्तु वे भौतिक कार्यकलापों में लगे रहने के कारण इस अवसर को खो देते हैं। उनकी बुद्धि मारी जाती है, क्योंकि दीर्घकालीन तर्क वितर्क के बाद भी वे उन भगवान् को नहीं जान पाते, जो प्रत्येक वस्तु के सार-सर्वस्व हैं। वे सारे के सारे आसुरी सिद्धान्त वाले होते हैं और वे उसी तरह अपने किये कर्मों का फल भोगते हैं, जिस तरह कि रावण, हिरण्यकशिपु, कंस तथा अन्य भौतिकतावादी शूरवीरों ने भोगा।

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्); **एषः**—ये सब; **नर-लोके**—इस मनुष्य-लोक में; **अस्मिन्**—इस; **अवतीर्णः**—अवतार लेकर; **स्व**—निजी, अन्तः; **मायया**—अहैतुकी कृपा से; **रेमे**—भोग किया; **स्त्री-रत्न**—वह स्त्री, जो भगवान् की पत्नी बनने के लिए उपयुक्त है; **कूटस्थः**—मध्य में; **भगवान्**—भगवान्; **प्राकृतः**—संसारी; **यथा**—जिस प्रकार।

पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा इस लोक में प्रकट हुए और सुयोग्य स्त्रियों के साथ इस तरह भोग किया, मानो वे संसारी कार्यों में लगे हुए हों।

तात्पर्य : भगवान् ने विवाह किया और गृहस्थ की भाँति रहे। यह निश्चय ही संसारी कार्य जैसा है, किन्तु जब हम यह जान लेते हैं कि उन्होंने १६,१०८ पत्नियों से विवाह किया और वे *उन सबों के साथ पृथक्-पृथक् महलों में रहते थे,* तो यह निश्चित रूप से सांसारिकता नहीं रह जाती। अतएव भगवान् का अपनी सुयोग्य पत्नियों के साथ गृहस्थ के रूप में रहना कभी भी संसारी नहीं हैं और उन सबके साथ उनका व्यवहार कोई संसारी यौन-सम्बन्ध नहीं समझा जाना चाहिए। जो स्त्रियाँ उनकी पत्नी बनी थीं, वे भी सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं, क्योंकि भगवान् को पति-रूप में प्राप्त करना कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या का परिणाम ही हो सकता है। जब भगवान् विभिन्न लोकों में या इस मनुष्यलोक में प्रकट होते हैं, तो वे बद्धजीवों को दिव्य लोक में अपना नित्य दास, मित्र, जननी, जनक तथा प्रियतम बनाने हेतु आकर्षित करने के लिए ही अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जहाँ भगवान् नित्य सेवा-विनिमय का प्रतिदान करते हैं। इस भौतिक जगत में यह सेवा विकृत रूप में दिखती है और असमय ही छिन्न हो जाती है, जिससे बहुत ही कटु अनुभव होता है। मोहग्रस्त जीव, प्रकृति के द्वारा बद्ध होकर, अज्ञान के कारण समझ नहीं पाता कि हमारे यहाँ के सारे संसारी सम्बन्ध क्षणिक हैं और उन्माद से भरे हैं। ऐसे सम्बन्ध हमें निरन्तर सुखी नहीं रख सकते, किन्तु यदि यही सम्बन्ध भगवान् के साथ स्थापित किये जायें, तो हम इस भौतिक शरीर को त्यागने पर वैकुण्ठ चले जाते हैं और उनके साथ इच्छित शाश्वत सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अतएव जिन स्त्रियों के बीच में वे पति-रूप में रह रहे थे, वे इस भौतिक जगत् की स्त्रीयाँ न होकर उनकी दिव्य पत्नियाँ थीं और वे भक्तिमय सेवा की पूर्णता के द्वारा दिव्य पद प्राप्त कर चुकी थीं। यही उनकी योग्यता थी। भगवान्

परब्रह्म अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं। बद्धजीव सर्वत्र ही शाश्वत सुख की खोज करते रहते हैं—न केवल इस धरा में, अपितु ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में भी—क्योंकि वैधानिक रूप से आध्यात्मिक स्फुलिंग होने के कारण, जीव ईश्वर की सृष्टि के कोने-कोने में विचरण कर सकता है। लेकिन भौतिक गुणों के द्वारा बद्ध होने से वह अन्तरिक्षयानों द्वारा आकाश में विचरण करना चाहता है और अपने गन्तव्य तक पहुँच पाने में असफल रहता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम उसके लिए कैदी की जंजीरों के समान बाँधनेवाला है। वह अन्य विधियों से कहीं भी पहुँच सकता है, लेकिन चाहे वह सर्वोच्च लोक तक क्यों न पहुँच जाय, किन्तु उसे वह शाश्वत सुख नहीं मिल सकता, जिसकी खोज वह जन्म-जन्मांतर से करता रहता है। किन्तु जब वह होश सँभालता है, तो ब्रह्म-सुख की खोज यह जानते हुए करता है कि वह जिस असीम सुख की खोज कर रहा है, वह इस भौतिक जगत में कभी भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। अतएव, सर्वोपरि व्यक्ति, परब्रह्म कभी भौतिक जगत में इस सुख की खोज नहीं करते। न ही उनकी सुख-सामग्री इस भौतिक जगत में मिल सकती है। वे निराकार नहीं हैं। चूँकि वे नायक हैं और असंख्य जीवों में सर्वोपरि व्यक्ति हैं, अतएव वे निराकार नहीं हो सकते। वे हमारी ही तरह हैं और उनमें समस्त व्यक्तिगत जीवों की सी प्रवृत्ति पूर्ण रूप में पायी जाती है। वे हमारी ही तरह विवाह करते हैं, किन्तु उनका विवाह न तो संसारी है, न हमारा बद्ध अवस्था के अनुभव से सीमित है। अतएव उनकी पत्नियाँ संसारी लगती तो हैं, किन्तु वास्तव में वे सब दिव्य मुक्तात्माएँ हैं, जो अन्तरंगा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।
सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

उद्दाम—अत्यन्त गम्भीर; **भाव**—भाव; **पिशुन**—उत्तेजक; **अमल**—निष्कलंक; **वल्गु-हास**—सुन्दर मुसकान; **व्रीड**—आँख की कोर; **अवलोक**—देखना, चितवन; **निहतः**—जीता गया; **मदनः**—कामदेव (या अमदन; **अपि**—; **यासाम्**—; **सम्मुह्य**—; **चापम्**—; **अजहात्**—; **प्रमद**—; **उत्तमाः**—; **ता**—; **यस्य**—; **इन्द्रियम्**—; **विमथितुम्**—; **कुहकैः**—; **न**—; **शेकुः**—.

उद्दाम—अत्यन्त गम्भीर; भाव—भाव; पिशुन—उत्तेजक; अमल—निष्कलंक; वल्गु-हास—सुन्दर मुसकान; व्रीडा—आँख की कोर; अवलोक—देखना, चितवन; निहतः—जीता गया; मदनः—कामदेव (या अमदन—सहिष्णु शिव); अपि—भी; यासाम्—जिसका; सम्मुह्य—से विजित होकर; चापम्—धनुष; अजहात्—त्याग दिया; प्रमद— मादक बनानेवाली स्त्री; उत्तमाः—उच्च कोटि की; ता—वे सब; यस्य—जिसकी; इन्द्रियम्—इन्द्रियों को; विमथितुम्—विचलित करने के लिए; कुहकैः—हावभाव द्वारा; न—कभी नहीं; शेकुः—समर्थ।

यद्यपि रानियों की मृदु मुस्कानें तथा बाँकी चितवनें अत्यन्त विमल तथा उत्तेजक थीं, जिससे साक्षात् कामदेव भी मोहित होकर अपना धनुष त्यागने के लिए बाध्य हो सकते थे, यहाँ तक कि अत्यन्त सहिष्णु शिवजी भी उनके शिकार हो सकते थे, तो भी, वे अपने समस्त हाव-भाव तथा आकर्षण से भगवान् की इन्द्रियों को विचलित नहीं कर सकीं।

तात्पर्य : मोक्ष का पथ या भगवद्धाम वापस जाने का पथ सदैव स्त्री-संसर्ग का निषेध करता है और सारा सनातन धर्म या वर्णाश्रम-धर्म की सारी व्यवस्था स्त्री की संगति के लिए मना करते हैं या प्रतिबन्धित करते हैं। तो फिर जो व्यक्ति सोलह हजार से अधिक पत्नियों से अनुरक्त हो, उसे भगवान् कैसे मान लिया जाय? यह प्रश्न उन जिज्ञासुओं द्वारा उठाया जा सकता है, जो वास्तव में परमेश्वर की दिव्य प्रकृति को जानने के लिए उत्सुक हैं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही नैमिषारण्य में मुनियों ने इस श्लोक में तथा अगले श्लोकों में भगवान् के दिव्य स्वभाव के विषय में विचार-विमर्श किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि स्त्रियों के आकर्षक हाव-भाव, जो कामदेव को या परम सहिष्णु पुरुष शिवजी को भी डिगा सकते हैं, वे भगवान् की इन्द्रियों को नहीं जीत सके। कामदेव का एकमात्र कार्य है संसारी काम-वासना को उद्दीपित करना। सारा ब्रह्माण्ड कामदेव के बाण से विचलित होकर गति कर रहा है। विश्व के सारे कार्य-कलाप, स्त्री तथा पुरुष के केन्द्रीय आकर्षण के कारण गतिशील हैं। पुरुष अपनी रुचि की सहचरी खोजता रहता है और स्त्री उपयुक्त पुरुष की तलाश में रहती है। भौतिक उत्तेजना की यही शैली है। और ज्योंही पुरुष का संयोग स्त्री से हो जाता है, त्योंही यौन-सम्बन्ध के द्वारा जीव दृढ़ भौतिक बन्धन में बँध जाता है। परिणाम यह होता है कि घर, मातृभूमि, सन्तान, समाज तथा मैत्री एवं सम्पत्ति-संग्रह के प्रति नर-नारी का आकर्षण उसके सम्भ्रान्त कार्यक्षेत्र बन जाते हैं और इस तरह नाशवान संसार के प्रति मिथ्या किन्तु अनथक आकर्षण प्रकट होता है। अत: जो लोग अपने घर अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने के लिए मोक्षपथ पर अग्रसर हैं, विशेषकर उनके लिए शास्त्रों का आदेश है कि वे इस प्रकार के भौतिक आकर्षण के साज-समानों से बचे रहें। और ऐसा तभी सम्भव है, जब भगवद्भक्तों अर्थात् महात्माओं की संगति की जाय। कामदेव जीवों पर अपना बाण चलाकर उन्हें

विपरीत लिंग के पीछे पागल बनाता है, चाहे वह सुन्दर हो या न हो। कामदेव का प्रभाव उस बर्बर समाज में भी देखा जाता है, जो सभ्य राष्ट्रों की निगाहों में कुरूप हैं। इस तरह कामदेव का प्रभाव कुरूप से कुरूप रूपों में देखा जाता है, तो परम सुन्दरियों के लिए क्या कहा जाय? शिवजी भी, जिन्हें परम सहिष्णु समझा जाता है, कामदेव के बाण द्वारा आहत हुए, क्योंकि वे भगवान् के मोहनी अवतार के पीछे दीवाने हो गये थे और उन्होंने अपनी हार स्वीकार की थी। तो भी वही कामदेव लक्ष्मी के हाव-भाव तथा कटाक्षों से विमोहित हो गया और हताश स्थिति में उसने अपने धनुष-बाण को खुद ही त्याग दिया था। भगवान् कृष्ण की रानियों की सुन्दरता और उनका आकर्षण ऐसा था। फिर भी वे भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को विचलित नहीं कर पाईं। इसका कारण यही है कि भगवान् पूर्ण *आत्माराम* हैं अर्थात् स्वयं-संतुष्ट हैं। उन्हें आत्मतुष्टि के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये रानियाँ अपने स्त्रियोचित आकर्षण के द्वारा भगवान् को तुष्ट न होते देख, अपने *एकनिष्ठ स्नेह तथा सेवा से उन्हें तुष्ट कर सकीं।* वे मात्र अनन्य दिव्य प्रेमाभक्ति से ही भगवान् को प्रसन्न कर सकीं और भगवान् ने भी बदले में पत्नियों के रूप में उनके साथ व्यवहार किया। भगवान् ने केवल उनकी अनन्य सेवा से प्रसन्न होकर, पत्नीव्रत पति की भाँति उन्हें प्रतिदान किया। अन्यथा उन्हें इतनी सारी पत्नियों का पति बनने की क्या आवश्यकता थी? वे हर एक के स्वामी (पति) हैं, किन्तु जो उन्हें इस रूप में मानता है, वे उसके साथ वैसा ही प्रतिदान करते हैं। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम की तुलना कभी संसारी कामवासना से नहीं की जानी चाहिए। यह नितान्त दिव्य है। रानियाँ भी जिस स्वाभाविक स्त्रियोचित ढंग से व्यवहार कर रही थीं, वह भी दिव्य था, क्योंकि वे अपने भावों को दिव्य आनन्दवश ही प्रकट कर रही थीं। पिछले श्लोक में यह बताया जा चुका है कि भगवान् एक संसारी पति जैसे प्रतीत हो रहे थे, लेकिन वास्तव में अपनी पत्नियों के साथ उनका यह सम्बन्ध दिव्य, शुद्ध तथा भौतिक प्रकृति के गुणों से मुक्त था।

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् ।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुध: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तम्—भगवान् कृष्ण को; अयम्—ये सब (सामान्य लोग); मन्यते—मन में सोचते हैं; लोक:—बद्धजीव; हि—निश्चय ही; असङ्गम्—अनासक्त; अपि—के होते हुए; सङ्गिनम्—प्रभावित; आत्म—स्वयं; औपम्येन—अपने साथ तुलना करके; मनुजम्—सामान्य मनुष्य; व्यापृण्वानम्—लगे रहकर; यत:—क्योंकि; अबुध:—अज्ञान के कारण मूर्ख।

सामान्य भौतिकतावादी बद्धजीव सोचते रहते हैं कि भगवान् उन्हीं में से एक हैं। अपने अज्ञान के कारण वे सोचते हैं कि पदार्थ का भगवान् पर प्रभाव पड़ता है, भले ही वे अनासक्त रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अबुध:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। केवल अज्ञानवश, मूर्ख संसारी विवादक परमेश्वर को गलत समझते हैं और अबोध लोगों में प्रचार करके अपने मूर्खतापूर्ण विचारों को फैलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं और जब वे साक्षात् सबों के समक्ष विद्यमान थे, तब उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी पूर्ण दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया था। जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कर चुके हैं, भगवान् अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं, किन्तु उनके सारे कार्य शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण होते हैं। केवल मूर्ख भौतिकतावादी उनके ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण शाश्वत रूप को न जानते हुए उन्हें गलत तरीके से समझते हैं, यद्यपि इसकी पुष्टि भगवद्गीता एवं उपनिषदों में हुइ है। उनकी विविध शक्तियाँ पूर्णतया प्राकृतिक क्रम के अनुसार कार्य करती हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों के माध्यम से सारे कार्य करते हुए वे निरन्तर परम स्वतंत्र रहते हैं। जब वे विभिन्न जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपा करके भौतिक संसार में अवतरित होते हैं, तब वे अपनी निजी शक्ति से ही ऐसा करते हैं। वे किसी तरह भी प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं होते और वे अपने मूल रूप में प्रकट होते हैं। मानसिक तर्कवादी उन्हें परम पुरुष के रूप में सही समझ नहीं पाते हैं और वे अव्यक्त ब्रह्मके निराकार पक्ष को ही सब कुछ मान लेते हैं। ऐसी धारणा बद्ध जीवन का ही परिणाम है, क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत क्षमता से आगे नहीं पहुँच पाते। अतएव जो भगवान् को अपनी सीमित शक्ति के स्तर पर समझता है, वह केवल सामान्य व्यक्ति होता है। ऐसे व्यक्ति को यह विश्वास कभी नहीं दिलाया जा सकता कि भगवान् प्रकृति के गुणों से किसी तरह प्रभावित नहीं होते। वह यह नहीं जान पाता कि सूर्य सदैव दूषित पदार्थ से अप्रभावित रहा करता है। मानसिक तर्कवादी सदैव अपने अनुभव के ज्ञान के आधार पर हर वस्तु को तोलते हैं। अत: जब भगवान् विवाह-बन्धन में सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते पाये जाते हैं, तो वे उन्हें अपने समान समझने लगते हैं और यह विचार नहीं करते कि भगवान् एकसाथ सोलह हजार या इससे भी अधिक पत्नियाँ से विवाह कर सकते हैं। अल्पज्ञान के कारण, वे चित्र के एक पक्ष को देखते हैं और दूसरे पक्ष

पर अविश्वास दिखाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानवश ही वे कृष्ण को अपने समान मानते हैं और अपने निष्कर्ष निकालते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के मतानुसार निरर्थक तथा अप्रामाणिक होते हैं।

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ईशनम्—दिव्यता, भगवत्ता; ईशस्य—भगवान् की; प्रकृति-स्थः—प्रकृति के सम्पर्क में रहकर; अपि—भी; तत्-गुणैः—गुणों के द्वारा; न—कभी नहीं; युज्यते—प्रभावित होता है; सदा आत्म-स्थैः—शाश्वतता में स्थित रहनेवालों के द्वारा; यथा—जैसा है; बुद्धिः—बुद्धि; तत्—भगवान्; आश्रया—शरणागत।

यह तो भगवान् की अलौकिकता है कि वे भौतिक प्रकृति के गुणों के संसर्ग में रहते हुए भी उनसे प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, वे भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : वेदों तथा वैदिक ग्रंथों (श्रुति तथा स्मृति) में पुष्टि की गई है कि दिव्यता में लेशमात्र भौतिकता नहीं होती। भगवान् दिव्य (*निर्गुण*) ही होते हैं—परम ज्ञानमय होते हैं। हरि या भगवान् परम दिव्य पुरुष हैं, जो भौतिक प्रभाव की परिधि के बाहर स्थित होते हैं। इन तथ्यों की पुष्टि आचार्य शंकर द्वारा भी हुई है। कोई यह तर्क कर सकता है कि लक्ष्मीदेवी के साथ उनका सम्बन्ध दिव्य हो सकता है, लेकिन जिस यदुवंश में वे उत्पन्न हुए थे, उसके साथ या जरासंध तथा भौतिक गुणों से लिप्त रहने वाले अन्य असुरों के साथ, उनका ऐसा सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि किसी भी दशा में भगवान् की भगवत्ता (दिव्यता) कभी भी प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में नहीं आती। वस्तुतः वे ऐसे गुणों के सम्पर्क में इसलिए लगते हैं, क्योंकि वे ही हर वस्तु के परम उद्गम हैं। तो भी वे ऐसे गुणकर्मों से ऊपर रहते हैं। इसीलिए वे योगेश्वर कहलाते हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो वे सर्वशक्तिमान हैं। यहाँ तक कि उनके विद्वान भक्त भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। वृन्दावन के छः महान् गोस्वामी अत्यन्त सम्पन्न एवं राजसी परिवारों के थे, किन्तु जब वे वृन्दावन में सन्त जीवन बिताने लगे, तो भले ही ऊपरी तौर से उनकी दशा दारुण रही हो, किन्तु वास्तव में वे आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से सर्वाधिक सुसम्पन्न थे। ऐसे महाभागवत अर्थात् प्रथम कोटी के भक्त मनुष्यों के बीच विचरण करते हुए भी, प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न मान या अपमान, भूख या तृप्ति, निद्रा या जागरण

से कलुषित नहीं होते। इसी प्रकार उनमें से कुछ सांसारिक आचरण में रहकर भी उससे अप्रभावित बने रहते हैं। जब तक जीवन में ये उदासीनताएँ नहीं होतीं, तब तक कोई अध्यात्म में स्थित नहीं माना जाता। दिव्यता तथा भगवान् के पार्षद एक ही आध्यात्मिक धरातल पर रहते हैं और उनकी महिमा सदा ही *योगमाया* अर्थात् भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कर्म द्वारा पुनीत होती रहती है। भगवान् के भक्त सदैव दिव्य होते हैं, भले ही कभी-कभी उनके आचरण का पतन होता दिखता हो। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३०) में बलपूर्वक घोषित करते हैं कि यदि पूर्व कल्मष के कारण कोई भक्त पतित हो भी जाय, तो भी उस भक्त को भगवद्भक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त रहने के कारण पूर्णतया दिव्य मानना चाहिए। भगवान् उसके द्वारा सेवा करते रहने के कारण उसकी सदैव रक्षा करते हैं, और उसकी पतित अवस्थाओं को आकस्मिक तथा क्षणिक मानना चाहिए। वे देखते ही देखते छूमन्तर हो जाएँगी।

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—श्रीकृष्ण को; मेनिरे—मान बैठते हैं; अबलाः—सुकुमार; मूढाः—सरलता के कारण; स्त्रैणम्—स्त्री के अधीन; च—भी; अनुव्रतम्—पालनकर्ता; रहः—एकान्त स्थान; अप्रमाण-विदः—महिमा से अनजान; भर्तुः—अपने पति की; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; मतयः—मत; यथा—जैसे।

वे सरल तथा सुकोमल स्त्रियाँ सचमुच ही सोच बैठीं कि उनके प्रिय पति, भगवान् श्रीकृष्ण, उनसे आकर्षिथ हैं और उनके वशीभूत हैं। वे अपने पति की महिमाओं से उसी तरह अनजान थीं, जिस प्रकार नास्तिक लोग परम नियन्ता के रूप में भगवान् से अनजान रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य पत्नियाँ तक भगवान् की अगाध महिमा को पूर्णतया जानती न थीं। यह अज्ञान सांसारिक नहीं है, क्योंकि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षदों के मध्य भावों के आदान-प्रदान में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का कुछ न कुछ हाथ रहता है। भगवान् पाँच प्रकार से दिव्य सम्बन्धों अर्थात् ईश्वर, स्वामी, मित्र, पुत्र, प्रेमी भाव का आदान-प्रदान करते हैं और इन प्रत्येक लीलाओं में वे पूर्णतया अपनी अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* द्वारा क्रीड़ा करते हैं। वे गोपों से या अर्जुन जैसे मित्रों के साथ समान स्तर के सखा की भाँति क्रीड़ा करते हैं। माता यशोदा के सामने वे सचमुच के पुत्र के रूप में क्रीड़ा करते हैं। गोपियों के समक्ष वे असली प्रेमी के रूप में और द्वारका की रानियों के

समक्ष साक्षात् पति-रूप में क्रीड़ा करते हैं। भगवान् के ऐसे भक्त कभी भी भगवान् को परमेश्वर के रूप में नहीं सोचते, अपितु सामान्य मित्र, प्रिय पुत्र, या प्रेमी या पति के रूप में सोचते हैं, जो हृदय और आत्मा को बहुत प्रिय हैं। भगवान् तथा उनके उन दिव्य भक्तों के मध्य यही सम्बन्ध होता है, जो चिन्मय आकाश में भगवान् के पार्षद के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ अनेक वैकुण्ठ लोक स्थित हैं। जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे दिव्य जगत की पूरी तस्वीर दिखाने के लिए अपने पार्षदों सहित अवतरित होते हैं, जहाँ भगवान् की सृष्टि के ऊपर किसी प्रकार का प्रभुत्व जताने का कोई नाम भी नहीं लेता और जहाँ भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम तथा भक्ति का ही प्राधान्य रहता है। ऐसे भगवद्-भक्त मुक्तात्मा होते हैं। वे बहिरंगा शक्ति के प्रभाव का निषेध करनेवाली तटस्था या अन्तरंगा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति होते हैं। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों को भगवान् की अगाध महिमाओं को भुलवा दिया, जिससे आदान-प्रदान में कोई त्रुटि न रह जाये और वे यह मान बैठीं कि भगवान् उनके वश में रहनेवाले पति तथा सदैव एकान्त स्थान में उनके पीछे-पीछे जाने वाले पति हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के निजी पार्षद तक भगवान् को भलीभाँति नहीं जान पाते, अतएव शोधार्थी लेखक अथवा मानसिक तर्कबाज भगवान् की दिव्य महिमाओं के विषय में भला क्या जान सकेंगे? मानसिक तर्कबाज विभिन्न मतों के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं—कि वे सृष्टि के कारण हैं, सृष्टि के अवयव-स्वरूप हैं या सृष्टि के भौतिक तथा सक्षम कारण हैं—किन्तु यह तो भगवान्-विषयक केवल अधूरा ज्ञान है। वास्तव में वे सामान्य मनुष्य की ही तरह अनजान रहते हैं। भगवान् को केवल भगवान् की कृपा से ही जाना जा सकता है, अन्य किसी साधन से नहीं। चूँकि अपनी पत्नियों के साथ भगवान् के सारे आचरण शुद्ध दिव्य प्रेम तथा भक्ति पर आधारित हैं, अतएव सारी पत्नियाँ किसी भौतिक कल्मषरहित दिव्य पद पर आसीन हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण का द्वारका में प्रवेश'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

सम्राट परीक्षित का जन्म

शौनक उवाच
अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक मुनि ने कहा; अश्वत्थाम्न—अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) के; उपसृष्टेन—छोड़े जाने से; ब्रह्म-शीर्ष्णा—अजेय अस्त्र, ब्रह्मास्त्र; उरु-तेजसा—उच्च ताप से; उत्तरायाः—उत्तरा (परीक्षित की माता) का; हतः—नष्ट; गर्भः—गर्भ; ईशेन—परमेश्वर द्वारा; आजीवितः—जीवित कर दिया गया; पुनः—फिर से।

शौनक मुनि ने कहा : महाराज परीक्षित की माता उत्तरा का गर्भ अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये अत्यन्त भयंकर तथा अजेय ब्रह्मास्त्र द्वारा विनष्ट कर दिया गया, लेकिन परमेश्वर ने महाराज परीक्षित को बचा लिया।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के वन में एकत्रित हुए ऋषियों ने सूत गोस्वामी से महाराज परीक्षित के जन्म के विषय में प्रश्न किया, लेकिन इस वार्ता के बीच अन्य विषयों की चर्चा की गई, जैसे कि, द्रोणपुत्र द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र, अर्जुन द्वारा उसे दण्ड, रानी कुन्तीदेवी की प्रार्थना, पाण्डवों द्वारा भीष्मदेव के पास जाना, उनकी प्रार्थनाएँ, तत्पश्चात् द्वारका के लिए भगवान् का प्रस्थान इत्यादि। फिर कृष्ण का द्वारका आना तथा सोलह हजार रानीयों के साथ निवास करने इत्यादि की भी चर्चा की गई। सारे ऋषि-मुनि इन विवरणों के सुनने में लीन थे, किन्तु अब वे अपने मूल विषय पर लौटना चाह रहे थे, अतएव शौनक ऋषि ने इस तरह की जिज्ञासा की। इस तरह अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र की चर्चा फिर से आ गई।

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः ।
निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (महाराज परीक्षित का); जन्म—जन्म; महा-बुद्धेः—अत्यन्त बुद्धिमान का; कर्माणि—कार्यकलाप; च—भी; महा-आत्मनः—महान्; निधनम्—मृत्यु; च—तथा; यथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; आसीत्—हुआ; सः—वह; प्रेत्य—मृत्यु के पश्चात् गन्तव्य; गतवान्—प्राप्त किया; यथा—जिस तरह।

अत्यन्त बुद्धिमान तथा महान् भक्त महाराज परीक्षित उस गर्भ से कैसे उत्पन्न हुए? उनकी मृत्यु किस तरह हुई? और मृत्यु के बाद उन्होंने कौन सी गति प्राप्त की?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के पुत्र के जीवन-काल तक, हस्तिनापुर (अब दिल्ली) का राजा सारे विश्व का सम्राट होता था। महाराज परीक्षित की रक्षा उनकी माता के गर्भ में भगवान् द्वारा की जा चुकी थी। अतएव वे एक ब्राह्मण-पुत्र के शाप से अकाल-मृत्यु से वे निश्चित ही बचाये जा सकते थे। चूँकि महाराज परीक्षित द्वारा राज्य सँभालने के बाद ही कलियुग ने अपना कार्य करना शुरू कर दिया था, अतएव इसका जो पहला कुलक्षण प्रकट हुआ, वह था इतने बुद्धिमान तथा भक्त राजा, महाराज परीक्षित, का शापित होना। राजा तो असहाय नागरिकों का रक्षक होता है और उन सबका कल्याण, शान्ति तथा सम्पन्नता उसी पर निर्भर रहती है। दुर्भाग्यवश, पतित कलियुग के बहकावे में आकर, एक अभागे ब्राह्मण-पुत्र द्वारा निर्दोष महाराज परीक्षित को लांछित कराया गया और इस तरह राजा को सात दिनों में अपनी मृत्यु के लिए तैयार होना था। महाराज परीक्षित, विष्णु द्वारा रक्षा किये जाने के लिए, विशेष रूप से विख्यात हैं। अतएव जब एक ब्राह्मण-पुत्र ने उन्हें वृथा ही शाप दे डाला, तब भी यदि वे चाहते तो अपनी रक्षा के लिए भगवान् की कृपा का आवाहन कर सकते थे, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने ऐसा नहीं करना चाहा। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् से अनावश्यक कृपा-याचना नहीं करता। महाराज परीक्षित को ज्ञात था और अन्य लोगों को भी पता था कि ब्राह्मण-पुत्र द्वारा दिया शाप अवैध है, किन्तु वे उसका प्रतिकार करना नहीं चाहते थे, क्योंकि वे यह भी जानते थे कि कलियुग का शुभारम्भ हो चुका है और इस युग का पहला लक्षण भी, अत्यन्त प्रतिभावान ब्राह्मण जाति के पतन के साथ प्रकट हो चुका है। वे काल-प्रवाह के मार्ग में बाधक बनना नहीं चाह रहे थे, अपितु वे खुशी-खुशी और उचित ढंग से मृत्यु-वरण करने के लिए तैयार थे। वे भाग्यशाली थे कि मृत्यु के लिए तैयारी करने के लिए उन्हें कम से कम सात दिन का समय मिला था। अतएव उन्होंने इस समय का सदुपयोग परम सन्त तथा भगवद्भक्त शुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य में किया।

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—सारा; इदम्—यह; श्रोतुम्—सुनने को; इच्छामः—सभी इच्छा कर रहे हैं; गदितुम्—वर्णन करने को; यदि—यदि; मन्यसे—आप सोचते हों; ब्रूहि—कृपा करके कहें; नः—हमसे; श्रद्दधानानाम्—श्रद्धालुओं को; यस्य—जिसका; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अदात्—प्रदान किया; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।.

हम सभी अत्यन्त आदरपूर्वक उनके (महाराज परीक्षित के) विषय में सुनना चाहते हैं, जिन्हें शुकदेव गोस्वामी ने दिव्य ज्ञान प्रदान किया। कृपया हमें इस विषय में बताएँ।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को उनके जीवन के अन्तिम सात दिनों में दिव्य ज्ञान प्रदान किया, जिसे महाराज ने श्रद्धालु शिष्य की भाँति ठीक से सुना। *श्रीमद्भागवत* के इस प्रकार के प्रामाणिक श्रवण तथा कीर्तन का प्रभाव श्रोता तथा वक्ता पर समान रूप से पड़ता है। इससे दोनों लाभान्वित हुए थे। *भागवत* में भक्ति के जिन नौ विभिन्न दिव्य साधनों का वर्णन हुआ है, यदि उनमें से सभी या कुछ का या किसी एक का भी ठीक से पालन हो, तो वे समान रूप से लाभप्रद होते हैं। महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी, दोनों ही प्रथम दो साधनों अर्थात् श्रवण तथा कीर्तन के साधक थे। अतएव दोनों ही अपने प्रशंसनीय प्रयास में सफल रहे। दिव्य अनुभूति ऐसे ही गम्भीर श्रवण तथा कीर्तन से होती है, अन्यथा नहीं। इस कलियुग में गुरु तथा शिष्य सम्बन्धी एक विशेष प्रकार का विज्ञापन हो रहा है। कहा जाता है कि गुरु द्वारा उत्पन्न विद्युत्-धारा के द्वारा, शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति प्रविष्ट की जाती है, जिससे शिष्य को उसका आघात अनुभव होता है। इससे वह अचेत हो जाता है और गुरु तथाकथित आध्यात्मिक निधि के क्षीण हो जाने पर रोता है। इस युग में इस तरह का झूठा विज्ञापन चल रहा है और निरीह जनता ऐसे विज्ञापन का शिकार बन रही है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी तथा उनके महान् शिष्य महाराज परीक्षित के आचरण के विषय में हमें ऐसी लोक-कथाएँ प्राप्त नहीं होतीं। मुनि ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी और राजा ने उसे अत्यन्त नियमपूर्वक सुना था। राजा ने न तो अपने गुरु से किसी प्रकार की विद्युत्-धारा के आघात का अनुभव किया था, न ही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करते समय वे अचेत हुए थे। अतएव लोगों को चाहिए कि वे वैदिक ज्ञान के इन निठल्ले प्रतिनिधियों द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के अप्रामाणिक विज्ञापनों के बहकावे में न आएँ। नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि महाराज परीक्षित के विषय में अत्यन्त आदरपूर्वक श्रवण कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने गम्भीर श्रवण द्वारा शुकदेव गोस्वामी से ज्ञान प्राप्त किया था। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह है कि उसे प्रामाणिक गुरु से *गम्भीर श्रवण* द्वारा ग्रहण किय जाय। उसके लिए आश्चर्यजनक

प्रभावों को उत्पन्न करने हेतु न तो किसी चिकित्सीय करतब की, न ही योग के चमत्कार की आवश्यकता है। यह विधि सरल है, लेकिन एकनिष्ठ होने पर ही मनोवांछित फल मिल सकता है।

सूत उवाच
अपीपलद्धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया ॥ ४॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; अपीपलत्—शासित सम्पन्नता; धर्म-राजः—राजा युधिष्ठिर ने; पितृ-वत्—अपने पिता के समान; रञ्जयन्—प्रसन्न करते हुए; प्रजाः—जन्म ग्रहण करने वालों को; निःस्पृहः—बिना किसी व्यक्तिगत आकांक्षा के; सर्व—समस्त; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; कृष्ण-पाद—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; अनुसेवया—निरन्तर सेवा करते रहने से।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : सम्राट युधिष्ठिर ने अपने राज्य-काल में सबों के ऊपर उदारतापूर्वक शासन चलाया। वे उनके पिता तुल्य ही थे। उन्हें कोई व्यक्तिगत आकांक्षा न थी और भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की निरन्तर सेवा करते रहने के कारण, वे सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विरक्त थे।

तात्पर्य : जैसाकि हमने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है, ''संसार के समस्त कष्ट सह रहे जनसमुदाय के लिए मानव समाज में कृष्ण के विज्ञान की आवश्यकता है और समस्त राष्ट्रों के प्रमुख महापुरुषों से हमारी एक ही विनती है कि वे अपने कल्याण हेतु, समाज के कल्याण हेतु तथा विश्व भर के लोगों के कल्याण हेतु, कृष्णातत्त्व को ग्रहण करें।'' यहाँ पर सत्य की प्रतिमूर्ति, महाराज युधिष्ठिर के उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। भारत में लोग *रामराज्य* की लालसा करते हैं, क्योंकि भगवान् राम आदर्श राजा थे और भारत के सारे राजा या सम्राट, पृथ्वी पर जन्म लेनेवाले प्रत्येक प्राणी की सम्पन्नता के लिए विश्व के भाग्य का नियमन करते थे। यहाँ पर *प्रजाः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका व्युत्पत्तिपरक आशय है, ''जिसने जन्म लिया है वह।'' पृथ्वी पर जीवों की अनेक योनियाँ हैं—जलचर से लेकर पूर्ण मनुष्यों तक और वे सभी *प्रजा* कहलाती हैं। इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी प्रजापति कहलाते हैं, क्योंकि जिन लोगों ने जन्म लिया है, उन सबके वे पितामह हैं। इस प्रकार *प्रजा* शब्द जिस अर्थ में आजकल प्रयुक्त होता है, वह उससे अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा सभी जीवों—जलचर, पौधे, वृक्ष, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है। इनमें से हर एक प्राणी

परमेश्वर का अंश है (*भगवद्गीता* १४.४) और भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा सबों को उचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए वचनबद्ध होता है। किन्तु आज की चरित्रविहीन प्रशासन पद्धतियों के राष्ट्रपति तथा तानाशाहों के साथ ऐसा नहीं है, जहाँ निम्न पशुओं को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती, जबकि उच्चतर पशुओं को तथाकथित सुरक्षा प्रदान प्राप्त रहती है। लेकिन यह एक महान् विज्ञान है, जिसे कृष्णतत्त्व जाननेवाला ही सीख सकता है। कृष्ण के विज्ञान को समझकर कोई भी विश्व का पूर्णतम व्यक्ति बन सकता है और जब तक मनुष्य को इस विज्ञान (तत्त्व) का ज्ञान नहीं होता, तब तक शिक्षा द्वारा अर्जित सारी उपाधियाँ तथा स्नातकोत्तर अनुसंधान की सनदें व्यर्थ और निरर्थक होती हैं। महाराज युधिष्ठिर इस कृष्ण-तत्त्व को भलीभाँति जानते थे, क्योंकि यहाँ पर यह कहा गया है कि इस विज्ञान के निरन्तर अनुशीलन से, या भगवान् कृष्ण की सतत भक्तिमय सेवा से, उन्होंने राज्य पर शासन करने की योग्यता प्राप्त कर ली थी। कभी-कभी पिता अपने पुत्र पर अनावश्यक रूप से निर्दय होते दिखता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि पिता ने पिता होने की योग्यता खो दी है। पिता सदा पिता ही रहता है, क्योंकि उसके हृदय में पुत्र का हित ही सर्वोपरि होता है। पिता चाहता है कि उसका हर लड़का उससे बढ़कर हो। अतएव महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा, जो सतोगुण की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे, चाहते थे कि उनके अधीन सारे लोग, विशेष रूप से मनुष्य जिनकी चेतना अधिक विकसित रहती है, भगवान् कृष्ण के भक्त बनें जिससे वे इस भौतिक संसार की झंझटों से मुक्त हो सकें। उनके शासन का मूलमंत्र था—सभी नागरिकों का कल्याण, क्योंकि मूर्तिमंत सत्त्वगुण होने के कारण वे जानते थे कि नागरिकों की भलाई किसमें है। वे इसी सिद्धान्त पर शासन चलाते रहे, इन्द्रिय-तृप्ति के राक्षसी या आसुरी सिद्धान्त पर नहीं। आदर्श राजा के रूप में, उनकी कोई निजी आकांक्षा न थी और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई स्थान न था, क्योंकि उनकी सारी इन्द्रियाँ सदा परमेश्वर की प्रेममयी सेवा में लगी रहती थीं, जिसमें जीवों की आंशिक सेवा सम्मिलित है, क्योंकि जीव परम पूर्ण के अंश रूप हैं। जो लोग पूर्ण को छोड़कर केवल अंश की सेवा में व्यस्त रहते हैं, वे केवल अपने समय तथा शक्ति दोनों का अपव्यय ही करते हैं, जिस तरह कोई मनुष्य जड़ों को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों को सींचे। यदि जड़ों में पानी डाला जाता है, तो पत्तियाँ स्वत: पूरी तरह सजीव रहती हैं, किन्तु यदि केवल पत्तियों पर जल डाला जाय तो सारी शक्ति व्यर्थ जाती है। अतएव महाराज युधिष्ठिर भगवान् की सेवा में सदा लीन

रहते थे और इस प्रकार से भगवान् के अंश रूप सारे जीव, उनके सतर्क शासन के अन्तर्गत जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त करते थे और अगले जीवन में उनकी उन्नति होती थी। राज्य प्रशासन की पूर्ण व्यवस्था की यही विधि होती है।

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही ।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सम्पदः—ऐश्वर्य; क्रतवः—यज्ञ; लोकाः—भावी गन्तव्य; महिषी—रानियाँ; भ्रातरः—भाई; मही—पृथ्वी; जम्बू-द्वीप—वह मंडल या ग्रह जिसमें हम रह रहे हैं; आधिपत्यम्—सार्वभौम अधिपत्य; च—भी; यशः—ख्याति; च—तथा; त्रि-दिवम्—स्वर्गलोक तक; गतम्—व्याप्त।

महाराज युधिष्ठिर की सांसारिक उपलब्धियों, सद्गति प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले यज्ञों, उनकी महारानी, उनके पराक्रमी भाइयों, उनके विस्तृत भूभाग, पृथ्वी ग्रह पर उनका सार्वभौम अधिपत्य तथा उनकी ख्याति आदि के समाचार स्वर्ग-लोक तक पहुँच गये।

तात्पर्य : केवल धनी तथा महान् पुरुष का ही नाम तथा यश सारे विश्व में विख्यात होता है। महाराज युधिष्ठिर का नाम तथा यश उनके उत्तम शासन, भौतिक उपलब्धियों, महिमामयी पत्नी द्रौपदी, अपने भाइयों भीम तथा अर्जुन के पराक्रम तथा जम्बूद्वीप नाम से विख्यात विधि में अपनी सार्वभौम शक्ति के कारण स्वर्गलोक तक पहुँच चुके थे। यहाँ *लोकाः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न लोक बिखरे हुए हैं। इस जीवन में कोई भी व्यक्ति अपने कर्म से उन तक पहुँच सकता है, जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है। वहाँ पर कोई बलपूर्वक प्रवेश नहीं कर सकता। जिन क्षुद्र भौतिक विज्ञानियों तथा इंजीनियरों ने बाह्य अन्तरिक्ष में कुछ हजार मील दूरी तक यात्रा करने के यान खोज निकाले हैं, उन्हें वहाँ प्रवेश करने की अनुमती नहीं दी जाएगी। उत्तम लोकों में पहुँचने की विधि यह नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ तथा सेवा के द्वारा ऐसे सुखी लोकों में प्रवेश करने का पात्र बने। जो पग-पग पर पापी जीवन बिताते हैं, उन्हें पशु जीवन में गिरकर अधिकाधिक भौतिक दुख भोगने की ही आशा करनी चाहिए और *भगवद्गीता* (१६.१९) में भी इसका उल्लेख है। महाराज युधिष्ठिर के उत्तम यज्ञ तथा उनकी योग्यताएँ इतनी महान् तथा यशपूर्ण थीं कि स्वर्गलोक के निवासी भी उन्हें अपने में से एक मानकर उनका स्वागत करने को तैयार थे।

किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः ।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

किम्—किसलिए; ते—वे सब; कामाः—इन्द्रिय भोग के विषय; सुर—स्वर्ग के निवासियों की; स्पार्हाः—आकांक्षाएँ; मुकुन्द-मनसः—पहले से ईश्वर भावना-भावित का; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; अधिजह्रुः—सन्तुष्ट कर सके; मुदम्—प्रसन्नता; राज्ञः—राजा का; क्षुधितस्य—भूखे का; यथा—जिस तरह; इतरे—अन्य वस्तुओं में।

हे ब्राह्मणो, राजा का ऐश्वर्य इतना मोहक था कि स्वर्ग के निवासी भी उसकी आकांक्षा करने लगे थे। लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में तल्लीन रहते थे, अतएव उन्हें भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी तुष्ट नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : संसार में दो वस्तुएँ होती हैं, जिनसे जीवों की तुष्टि हो सकती है। जब कोई भौतिकता में डूबा हुआ रहता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति से ही तुष्ट होता है, किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से मुक्त होता है, तो वह भगवान् की तुष्टि के लिए प्रेमामयी सेवा करके ही तुष्ट होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव वैधानिक रूप से *सेवक* है, *सेव्य* नहीं है। बहिरंगा शक्ति की दशाओं में मोह-ग्रस्त होने के कारण, वह अपने आपको सेव्य (सेवा कराने योग्य) समझता है, जबकि वास्तव में वह सेव्य होता नहीं; वह तो काम, इच्छा, क्रोध, लोभ, गर्व, उन्मत्तता तथा असहिष्णुता जैसी इच्छाओं का दास होता है। जब वह आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करके अपने होश में आता है, तो वह अनुभव करता है कि वह भौतिक जगत का स्वामी नहीं, अपितु अपनी इन्द्रियों का दास है। उस समय वह भगवत्-सेवा की याचना करता है और तब वह तथाकथित भौतिक सुख के द्वारा मोहग्रस्त हुए बिना सुखी बन जाता है। महाराज युधिष्ठिर मुक्तात्मा थे। अतएव उन्हें विशाल साम्राज्य, उत्तम पत्नी, आज्ञाकारी बन्धुओं, सुखी प्रजा तथा सुसम्पन्न जगत से कोई प्रसन्नता नहीं हो रही थी। शुद्ध भक्त को ये वर स्वतः प्राप्त होते हैं, भले ही वह उनकी कामना न करे। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि भूखे को भोजन के अतिरिक्त, अन्य किसी वस्तु से सन्तोष नहीं मिलता।

सारा संसार भूखे जीवों से भरा पड़ा है। यह भूख उत्तम भोजन, आश्रय या इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। *भूख तो आध्यात्मिक वातावरण के लिए है।* अज्ञान-वश ही लोग सोचते हैं कि संसार असंतोष से व्याप्त है, क्योंकि पर्याप्त भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यह

मोह कहलाता है। जब जीव परिलक्षित आध्यात्मिक तुष्टि के लिए भूखा होता है, तो लोगों को उसमें भौतिक भूख दिखती है। लेकिन मूर्ख नेता यह भी नहीं देख पाते कि जो लोग भौतिक दृष्टि से पूरी तरह तृप्त हैं, वे फिर भी भूखे रहते हैं। और उनकी भूख तथा गरीबी है क्या? यह भूख वस्तुत: आध्यात्मिक भोजन, आध्यात्मिक आश्रय, आध्यात्मिक सुरक्षा तथा आध्यात्मिक इन्द्रियतृप्ति के लिए होती है। इन्हें परम आत्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जिनके पास ये वस्तुएँ हैं, वे भौतिक जगत के तथाकथित भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि स्वर्ग के निवासी भी इनका आनन्द उठाते हैं। अतएव *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् ने कहा है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक में भी, जहाँ जीवन अवधि (आयु) पृथ्वी की गणना से कई लाख गुनी होती है, जीव अपनी भूख नहीं बुझा सकता। ऐसी भूख तभी शमित होती है, जब जीव अमरता को प्राप्त होता है, जिसे वैकुण्ठलोक में ही, जो ब्रह्मलोक से भी काफी दूर है, उन भगवान् मुकुन्द के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जो अपने भक्तों को मुक्ति का दिव्य आनन्द प्रदान करनेवाले हैं।

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन ।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

मातुः—माता के; गर्भ—गर्भ में; गतः—स्थित होकर; वीरः—महान् योद्धा; सः—शिशु परीक्षित; तदा—उस समय; भृगु-नन्दन—हे भृगुपुत्र; ददर्श—देख सका; पुरुषम्—परमेश्वर को; कञ्चित्—मानो कोई दूसरा; दह्यमानः—जलते हुए; अस्त्र—ब्रह्मास्त्र के; तेजसा—ताप से।

हे भृगुपुत्र (शौनक), जब महान् योद्धा बालक परीक्षित अपनी माता उत्तरा के गर्भ में थे और (अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये) ब्रह्मास्त्र के ज्वलंत ताप से पीड़ित थे, तो उन्होंने परमेश्वर को अपनी ओर आते देखा।

तात्पर्य : मृत्यु सामान्यतया सात मास की समाधि है। जीव, अपने कर्म के अनुसार, पिता के वीर्य के माध्यम से माता के गर्भ में प्रवेश करता है और वांछित शरीर धारण करके विकसित होता रहता है। विशिष्ट जीवों में अपने-अपने विगत कर्मों के अनुसार जन्म का यह नियम है। जब वह इस समाधि से जागृत होता है, तो उसे गर्भ के भीतर बन्दी रहने में असुविधा का अनुभव होने लगता है और वह उससे

बाहर निकलने का प्रयत्न करता है और कभी-कभी ऐसी मुक्ति के लिए सौभाग्यवश वह भगवान् से प्रार्थना करता है। जब महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में थे, तो अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र का उन पर प्रहार हुआ, जिससे उन्हें प्रखर ताप का अनुभव हो रहा था। किन्तु उनके भगवद्भक्त होने के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति से गर्भ के भीतर साक्षात् प्रकट हुए और बालक यह देख सका कि कोई उसे बचाने आया है। उस असहाय अवस्था में भी बालक परीक्षित ने असह्य ताप सहन किया, क्योंकि वे स्वभाव से महान् योद्धा थे। इसीलिए यहाँ *वीरः* शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम् ।
अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अङ्गुष्ठ—अँगूठे की माप का; मात्रम्—केवल; अमलम्—दिव्य; स्फुरत्—देदीप्यमान; पुरट—सोना; मौलिनम्—मुकुट; अपीव्य—अत्यन्त सुन्दर; दर्शनम्—देखने के लिए; श्यामम्—श्याम रंग; तडित्—बिजली; वाससम्—वस्त्र; अच्युतम्—अच्युत (भगवान्) को।

वे (भगवान्) केवल अँगूठा भर ऊँचे थे, किन्तु वे थे पूर्णतः दिव्य। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, श्याम वर्ण का तथा अच्युत था और उनका वस्त्र बिजली के समान चमचमाता पीतवर्ण का तथा उनका मुकुट देदीप्यमान सोने का था। बालक ने उन्हें इस रूप में देखा।

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रीमत्—समृद्ध; दीर्घ—लम्बे; चतुः-बाहुम्—चार भुजाओं वाले; तप्त-काञ्चन—पिघला सोना; कुण्डलम्—कान की बालियाँ; क्षतज-अक्षम्—रक्त की लालिमा से युक्त आँखें; गदा-पाणिम्—गदा से युक्त हाथ; आत्मनः—अपना; सर्वतः—सभी; दिशम्—चारों ओर; परिभ्रमन्तम्—घूमते हुए; उल्काभाम्—गिरते हुए तारे (उल्का) की भाँति; भ्रामयन्तम्—घुमाते हुए; गदाम्—गदा को; मुहुः—निरन्तर।

भगवान् चार भुजाओं से युक्त थे, उनके कुण्डल सोने के थे तथा आँखें क्रोध से रक्त जैसी लाल थीं। जब वे चारों ओर घूमने लगे, तो उनकी गदा उनके चारों ओर गिरते तारे (उल्का) की भाँति निरन्तर चक्कर लगाने लगी।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* (अध्याय ५) में कहा गया है कि परम ईश्वर गोविन्द, अपने एक पूर्ण अंश से, ब्रह्माण्ड-मण्डल में प्रवेश करते हैं और वे अपने आप, परमात्मा-रूप में, न केवल प्रत्येक जीव के हृदय में, अपितु भौतिक तत्त्वों के प्रत्येक परमाणु में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वव्यापी हैं और इस तरह वे अपने प्रिय भक्त महाराज परीक्षित की रक्षा करने के लिए उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हुए। *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् हर एक को आश्वस्त करते हैं कि उनके भक्तों का कभी भी विनाश नहीं होता। कोई भी भगवान् के भक्त को नहीं मार सकता, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं और भगवान् जिसे मारना चाहते हैं, उसे कोई भी बचा नहीं सकता। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। अतएव वे चाहें तो मार भी सकते हैं और बचा भी सकते हैं। वे उस विषम परिस्थिति में (उत्तरा के गर्भ में) भी, अपने भक्त महाराज परीक्षित को ऐसे रूप में दिखाई पड़े, जो उसकी दृष्टि के अनुरूप था। भगवान् हजारों ब्रह्माण्डों से भी वृहत् रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही, परमाणु से भी लघु बन सकते हैं। दयालु तो वे हैं ही, अतएव वे जीव की सीमित दृष्टि के अनुरूप बन जाते हैं। वे असीम हैं। वे हमारी किसी गणना की परिधि से सीमित नहीं हैं। वे हम जितना सोच सकते हैं उससे भी अधिक विशाल और हमारी चिन्तन-शक्ति से भी अधिक लघु बन सकते हैं। किन्तु प्रत्येक दशा में वे वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। उत्तरा के गर्भ में अँगूठे के तुल्य विष्णु में तथा वैकुण्ठधामवासी पूर्ण नारायण रूप में कोई अन्तर नहीं है। वे अपने विभिन्न असमर्थ भक्तों की सेवा स्वीकार करने के लिए ही *अर्चाविग्रह* रूप स्वीकार करते हैं। *अर्चाविग्रह* अर्थात् भौतिक तत्वों से बने भगवान् के रूप की कृपा से, भौतिक जगत के सारे भक्त सरलता से भगवान् तक पहुँच सकते हैं, यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हैं। अतएव *अर्चाविग्रह* भगवान् का पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप है, जिसे भौतिक भक्त देख सकते हैं; भगवान् के ऐसे अर्चाविग्रह को कभी भौतिक नहीं माना जाता। यद्यपि बद्धजीवों के लिए पदार्थ तथा आत्मा में काफी अन्तर होता है, किन्तु भगवान् के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् के लिए सारा अस्तित्व केवल आध्यात्मिक है और इसी तरह भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले शुद्ध भक्त के लिए, आध्यात्मिक अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अस्त्र-तेजः—ब्रह्मास्त्र का प्रकाश; स्व-गदया—अपनी गदा से; नीहारम्—ओस के बिन्दु; इव—समान; गोपतिः—सूर्य; विधमन्तम्—विनष्ट करने की क्रिया; सन्निकर्षे—निकट; पर्यैक्षत—देखते हुए; कः—कौन; इति असौ—यह शरीर।

भगवान् उस ब्रह्मास्त्र के तेज को विनष्ट करने में इस प्रकार संलग्न थे, जिस तरह सूर्य ओस की बूँदों को उड़ा देता है। वे बालक को दिखाई पड़े, तो वह सोचने लगा कि वे कौन थे?

विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः ।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विधूय—पूरी तरह विनष्ट करके; तत्—वह; अमेयात्मा—सर्वव्यापी परमात्मा; भगवान्—भगवान्; धर्म-गुप्—सदाचार के रक्षक; विभुः—परम; मिषतः—निरीक्षण करते हुए; दशमासस्य—जो समस्त दिशाओं के द्वारा वस्त्रावृत हैं, उनका; तत्र एव—तत्क्षण; अन्तः—अदृश्य; दधे—हो गये; हरिः—भगवान्।

इस प्रकार बालक के देखते-देखते, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा धर्म के पालक पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान्, जो सारी दिशाओं में व्याप्त हैं और काल तथा देश की सीमाओं से परे हैं, तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : बालक परीक्षित कोई ऐसे जीव को नहीं देख रहा था, जो देश तथा काल से बँधा रहता है। भगवान् तथा जीव में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। यहाँ पर भगवान् को जो देश-काल की सीमाओं से परे हैं ऐसे परम पुरुष बताया गया है। प्रत्येक जीव देश तथा काल से सीमित है। यद्यपि गुणात्मक रीति से जीव भगवान् से अभिन्न है, लेकिन मात्रात्मक दृष्टि से परमात्मा तथा सामान्य जीवात्मा में काफी अन्तर होता है। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को सर्वव्यापी कहा गया है (*येन सर्वमिदं ततम्*), फिर भी इन दोनों के सर्वव्यापकत्व में अन्तर होता है। सामान्य जीव या आत्मा, अपने खुद के शरीर में ही सर्वव्यापी हो सकता है, किन्तु परमात्मा समस्त देश तथा काल में व्याप्त है। कोई भी सामान्य जीव अपने सर्वव्यापकत्व से दूसरे जीव को प्रभावित नहीं कर सकता, लेकिन परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् असीम रूप से समस्त स्थानों तथा समस्त कालों एवं समस्त जीवों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, देश तथा काल से परे हैं, अतएव वे बालक

परीक्षित की माता के गर्भ के भीतर भी प्रकट हो सकते हैं। यहाँ पर उन्हें धर्मपालक कहा गया है। जो भी भगवान् के शरणागत हो चुका है, वह धर्मात्मा है और उसका विशेष रूप से भगवान् द्वारा सभी परिस्थितियों में रक्षण किया जाता है। भगवान् परोक्ष रूप से अधर्मियों के भी रक्षक हैं, क्योंकि वे अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा उनके पापों को परिशोधित करते हैं। यहाँ पर भगवान् को दशों दिशाओं से वस्त्रावृत कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दशों दिशाओं में ऊपर तथा नीचे वस्त्रों से आभूषित हैं। वे सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और स्वेच्छा से कहीं भी प्रकट तथा अन्तर्धान हो सकते हैं। बालक परीक्षित की दृष्टि से उनके ओझल होने का यह अर्थ नहीं है कि वे किसी अन्य स्थान से आकर वहाँ प्रकट हुए थे। वे वहीं विद्यमान थे और उनके अन्तर्धान होने के बाद भी वे वहीं थे। हाँ, वे बालक की आँखों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। इस तेजोमय आकाश का भौतिक आवरण भी माता प्रकृति के गर्भ की ही भाँति है और हम सभी जीवों के पिता, भगवान्, द्वारा उस गर्भ में स्थापित किये गये हैं। वे सर्वत्र विद्यमान हैं, यहाँ तक कि माता दुर्गा के भौतिक गर्भ में भी और जो इसके लिए सुयोग्य हैं, वे भगवान् का दर्शन कर सकते हैं।

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये ।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सर्व—सभी; गुण—शुभ लक्षण; उदर्के—क्रमशः विकसित होने पर; स-अनुकूल—सभी अनुकूल; ग्रहोदये—नक्षत्रों का समूह; जज्ञे—जन्म लिया; वंश-धरः—उत्तराधिकारी; पाण्डोः—पाण्डु के; भूयः—होते हुए; पाण्डुः इव—पाण्डु के समान; ओजसा—पराक्रम से।

तत्पश्चात्, जब क्रमशः सारी राशि तथा नक्षत्रों से शुभ लक्षण प्रकट हो आये, तब पाण्डु के उत्तराधिकारी ने जन्म लिया, जो पराक्रम में उन्हीं के समान होगा।

तात्पर्य : जीव पर ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव कोरी कल्पना नहीं है, अपितु वास्तविकता है जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में पुष्टि हो रही है। प्रत्येक जीव, हर क्षण प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित होता रहता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार नागरिक राज्य द्वारा नियंत्रित होता है। राज्य के नियमों का पालन स्थूल रूप से होता है, लेकिन प्रकृति के नियम हमारी मोटी बुद्धि के लिए सूक्ष्म होने के कारण स्थूल रूप से अनुभव नहीं किये जा सकते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—जीवन के प्रत्येक कर्म

से प्रतिक्रिया (फल) उत्पन्न होती है, जो हम पर बन्धन-स्वरूप होती है और केवल वे कर्म जो *यज्ञ* (विष्णु) के लिए किये जाते हैं, वे फलों से बद्ध नहीं होते। हमारे कर्मों का निर्णय उच्च अधिकारियों अर्थात् भगवान् के दूतों द्वारा होता है और इस तरह हमें अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। प्रकृति का नियम इतना सूक्ष्म है कि हमारे शरीर के प्रत्येक अंग पर उन्हीं ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है और जीव को यह क्रियाशील शरीर इसीलिए प्राप्त होता है कि वह ऐसे ग्रह-नक्षत्रों के प्रभावों को साध कर, अपनी कारागार-अवधि को पूरा कर सके। अतएव मनुष्य का भाग्य उसके जन्म-काल के ग्रह-नक्षत्रों द्वारा निर्धारित होता है और विद्वान ज्योतिषी उसकी तथ्यपरक कुण्डली तैयार करता है। यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु यदि इसका दुरुपयोग होता है, तो इससे यह निरर्थक नहीं बन जाता। महाराज परीक्षित या कि भगवान् भी किसी शुभ नक्षत्र राशि में प्रकट होते हैं और इस शुभ क्षण में जन्म लेने वाले शरीर पर इन नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। सबसे शुभ नक्षत्र वह है, जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं और इसे *जयन्ती* कहते हैं। इस शब्द का किसी भी अन्य बात के लिए दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। महाराज परीक्षित केवल एक महान् क्षत्रिय सम्राट ही न थे, अपितु महान् भगवद्भक्त भी थे। अतएव वे किसी भी अशुभ क्षण में जन्म नहीं ले सकते थे। जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का स्वागत उचित स्थान तथा उचित समय पर किया जाता है, उसी प्रकार, भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षित महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के स्वागतार्थ ऐसा उपयुक्त क्षण चुना गया था, जब सारे शुभ ग्रह एकत्र होकर राजा पर अपना प्रभाव डाल सकें। इस तरह उनका जन्म हुआ और वे *श्रीमद्भागवत* के महान् नायक कहलाये। नक्षत्रों का यह संयोग मनुष्य की इच्छा से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अपितु यह तो परमेश्वर की महती व्यवस्था का प्रबन्ध होता है। निस्सन्देह, जीव के शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार ही, यह व्यवस्था की जाती है। यहीं जीव द्वारा सम्पन्न शुभ कर्मों की महत्ता प्रकट होती है। केवल शुभ कर्मों के द्वारा ही, जीव को उत्तम सम्पत्ति, उत्तम शिक्षा तथा सुन्दर स्वरूप प्राप्त हो सकता है। नक्षत्रों के शुभ प्रभावों के लिए समुचित वातावरण तैयार करनें में, सनातन धर्म मनुष्य का शाश्वत कर्तव्य सम्प्रदाय के संस्कार अत्यन्त उपुयक्त सिद्ध होते हैं। अतएव उच्च वर्णों (द्विजों) के लिए संस्तुत गर्भाधान संस्कार समस्त शुभ कर्मों का शुभारंभ है, जिससे मानव समाज में अत्यन्त पवित्र तथा बुद्धिमान श्रेणी के मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उत्तम तथा योग्य जनता के द्वारा ही विश्व में

शान्ति तथा समृद्धि आएगी; अवांछित तथा विषयभोग में लिप्त रहनेवाली अयोग्य प्रजा से अशान्ति फैलेगी और यह संसार नरक बना रहेगा।

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः ।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; प्रीत-मनाः—सन्तुष्ट; राजा—राजा युधिष्ठिर; विप्रैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; धौम्य—धौम्य; कृप—कृप; आदिभिः—इत्यादि; जातकम्—शिशु-जन्म के तुरन्त बाद सम्पन्न होनेवाला संस्कार; कारयाम् आस—सम्पन्न किया; वाचयित्वा—बाँच कर; च—भी; मङ्गलम्—शुभ।

महाराज परीक्षित के जन्म से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए राजा युधिष्ठिर ने जात-संस्कार करवाया। धौम्य, कृप इत्यादि विद्वान ब्राह्मणों ने शुभ स्तोत्रों का पाठ किया।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म में वर्णित संस्कारों को सम्पन्न कराने में निपुण हो ऐसे श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान ब्राह्मणों की आवश्यकता है। जब तक ये संस्कार सम्पन्न नहीं कराये जाते, तब तक अच्छी सन्तान की सम्भावना नहीं है और इस कलियुग में, इस संस्कार विधि के अभाव में, सारे संसार की जनता शूद्र गुण वाली या इससे भी निम्न होती है। किन्तु समुचित सुविधाओं तथा उत्तम ब्राह्मणों के अभाव के कारण, इस युग में वैदिक संस्कारों का पुनरुद्धार कर पाना सम्भव नहीं है। लेकिन इस युग के लिए अन्य पद्धति भी संस्तुत है और वह है पाञ्चरात्रिक पद्धति। यह पांचरात्रिक पद्धति शूद्र श्रेणी के लोगों पर लागू की जाती है, जो कलियुग की प्रजा मानी जाती है और युग तथा काल के अनुरूप संस्तुत की जानेवाली यही संस्कार-विधि है। किन्तु यह संस्कार-विधि केवल आध्यात्मिक विकास के निमित्त है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। आध्यात्मिक उन्नति कभी उच्च या निम्न पैतृकता से नियंत्रित नहीं होती।

गर्भाधान संस्कार के बाद अन्य संस्कार भी होते हैं—यथा *सीमान्तोन्नयन, सध-भक्षणम्* इत्यादि जो गर्भावस्था-काल में सम्पन्न होते हैं और जब शिशु का जन्म होता है, तो सबसे पहला संस्कार *जातकर्म* है। यह संस्कार महाराज युधिष्ठिर द्वारा राजपुरोहित धौम्य तथा महान् सेनापति एवं पुरोहित कृपाचार्य-जैसे योग्य ब्राह्मणों की सहायता से सम्पन्न कराया गया। महाराज युधिष्ठिर ने इन दोनों विद्वान तथा योग्य पुरोहितों की सहायता के लिए तमाम उत्तम ब्राह्मणों को लगाकर यह उत्सव सम्पन्न कराया। अतएव सारे संस्कार अर्थात् शुद्धीकरण की विधियाँ मात्र औपचारिकताएँ या सामाजिक उत्सव हीं नहीं, अपितु

ये व्यवहारणीय हैं और धौम्य तथा कृप जैसे योग्य ब्राह्मणों द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न कराए जाते हैं। इस युग में ऐसे ब्राह्मण न केवल विरले हैं, अपितु उपलब्ध भी नहीं होते। अतएव इस पतित युग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए गोस्वामीजन वैदिक अनुष्ठानों की अपेक्षा पाञ्चरात्रिक सूत्रों को वरीयता प्रदान करते हैं।

कृपाचार्य महर्षि सर्दबन के पुत्र थे और गौतम के वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म एक अकस्मात घटना कही जाती है। संयोगवश महर्षि सर्दबन की भेंट जनपदी नामक स्वर्ग की एक सुप्रसिद्ध अप्सरा से हुई, तो सर्दबन का वीर्य दो भागों में बँट गया। एक भाग तुरन्त बालक बन गया और दूसरा बालिका। इस प्रकार जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हुए—बालक कृप नाम से और बालिका कृपी नाम से विख्यात हुई। महाराज शान्तनु को जंगल में शिकार करते समय, ये शिशु मिले और घर लाकर, संस्कार कराकर, उन्हें ब्राह्मण-पद प्रदान किया। बाद में कृपाचार्य द्रोणाचार्य के समान महान् सेनापति बने और उसकी बहन कृपी, द्रोणाचार्य को ब्याह दी गई। कालान्तर में कृपाचार्य कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्मिलित हुए और दुर्योधन के दल में चले गये। कृपाचार्य, महाराज परीक्षित के पिता अभिमन्यु को मारने में सहायक बने, किन्तु द्रोणाचार्य के ही समान महान् ब्राह्मण होने के कारण, वे अभी भी पाण्डव-कुल द्वारा सम्मानित थे। जब दुर्योधन से द्यूत-क्रीड़ा में हारकर पाण्डव वन चले गये, तो धृतराष्ट्र ने उनके मार्गदर्शन के लिए कृपाचार्य को नियुक्त किया। युद्ध समाप्त होने पर कृपाचार्य पुनः राजसभा के सदस्य बन गये और महाराज परीक्षित के जन्म के समय जन्मोत्सव को सफल बनाने के लिए उन्हें वेद मंत्रोच्चार करने के लिए आमंत्रित किया गया। जब महाराज युधिष्ठिर जब राजप्रासाद त्यागकर हिमालय के लिए महाप्रयाण करने लगे तब वे महाराज परीक्षित को शिष्य-रूप में कृपाचार्य को ही सौंप गये और उन्होंने सन्तुष्ट होकर घर का त्याग किया, क्योंकि महाराज परीक्षित का भार कृपाचार्य ने संभाल लिया था। बड़े-बड़े शासक, राजा तथा सम्राट तक, कृपाचार्य-जैसे विद्वान ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में रहते हुए समुचित रूप से राजनैतिक उत्तरदायित्व निभाते थे।

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान् ।
प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥ १४॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; गाम्—गौवें; महीम्—भूमि; ग्रामान्—गाँव; हस्ति—हाथी; अश्वान्—घोड़े; नृपतिः—राजा ने; वरान्—पुरस्कार; प्रादात्—दान में दिया; सु-अन्नम्—उत्तम अन्न; च—तथा; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; प्रजा-तीर्थे—पुत्र के जन्म-दिवस पर दान देते समय; सः—वह; तीर्थ-वित्—जो जानता है कि कब, कैसे और किसे दान दिया जाय।.

पुत्र के जन्म लेने पर राजा ने ब्राह्मणों को सोना, भूमि, ग्राम, हाथी, घोड़े तथा उत्तम अन्न दान में दिया, क्योंकि वे जानते थे कि कैसे, कहाँ और कब दान देना चाहिए।

तात्पर्य : केवल ब्राह्मणों तथा संन्यासियों को गृहस्थियों से दान ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। समस्त संस्कारों के विभिन्न अवसरों पर, विशेष रूप से जन्म, विवाह तथा मृत्यु के संस्कारों के समय, ब्राह्मणों को धन वितरीत किया जाता है, क्योंकि ब्राह्मण ही मानव जाति की प्राथमिक आवश्यकता के लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा प्रदान करते हैं। इन अवसरों पर स्वर्ण, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा अन्न के साथ समस्त भोज्य सामग्री के रूप में प्रचुर दान दिया जाता था। अतएव ब्राह्मण वास्तव में निर्धन नहीं होते थे, उल्टे, उनके पास प्रचुर सोना, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा पर्याप्त अन्न रहता था, जिससे उन्हें कुछ और कमाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसके बदले में, वे सम्पूर्ण समाज के कल्याण हेतु अपने को समर्पित कर देते थे।

तीर्थवित् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राजा को पता था कि कहाँ और कब दान दिया जाय। दान कभी व्यर्थ नहीं जाता, न वह निरूद्देश्य होता है। शास्त्रों के अनुसार, दान उन व्यक्तियों को दिया जाता था, जो अपनी आध्यात्मिक प्रबुद्धता के बल पर दान लेने के पात्र होते थे। तथाकथित दरिद्र-नारायण, जो अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा परम भगवान् के बारे में फैलायी गयी एक भ्रान्त धारणा है, उसका उल्लेख दान के सुपात्र के रूप में शास्त्रों में कभी भी नहीं मिलता है। कोई भी दरिद्र व्यक्ति घोड़े, हाथी, भूमि तथा ग्रामों के रूप में, इतना मुक्तहस्त दान नहीं पा सकता था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्तियों, या भगवान् की सेवा में लगे हुए ब्राह्मणों का इस तरह पालन होता था कि उन्हें शरीर की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं रहती थी तथा राजा एवं अन्य गृहस्थ, खुशी-खुशी उनके सुख का ध्यान रखते थे।

शास्त्रों का आदेश है कि जब तक शिशु नाल द्वारा माता से जुड़ा रहता है, तब तक शिशु तथा माता के शरीर का एक भाग माना जाता है, किन्तु ज्योंही नाल काट दी जाती है और शिशु माता से विलग हो जाता है, त्योंही *जात-कर्म* संस्कार सम्पन्न किया जाता है। नवजात शिशु को देखने के लिए प्रशासी

देवता (लोकपाल) एवं परिवार के पूर्व-पुरखे आते हैं और समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए उचित व्यक्तियों को धन वितरित करने के लिए इस अवसर को समुचित माना जाता है।

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ऊचुः—सम्बोधित किया; ब्राह्मणाः—विद्वान ब्राह्मणों ने; तुष्टाः—अत्यधिक सन्तुष्ट; राजानम्—राजा को; प्रश्रय-अन्वितम्—अत्यधिक कृतज्ञता ज्ञापित करके; एषः—यह; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—की शृंखला में; प्रजा-तन्तौ—परम्परा में; पुरूणाम्—पुरुओं की; पौरव-ऋषभ—पुरुओं में प्रमुख।

राजा के दान से अत्यधिक सन्तुष्ट विद्वान ब्राह्मणों ने राजा को पुरुओं में प्रधान कहकर सम्बोधित किया और बताया कि उनका पुत्र निश्चय ही पुरुओं की परम्परा में है।

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दैवेन—अतिदैवी शक्ति द्वारा; अप्रतिघातेन—दुर्निवार; शुक्ले—शुद्ध; संस्थाम्—विनाश को; उपेयुषि—विवश किये जाने पर; रातः—फिर रक्षित; वः—तुम्हारे लिए; अनुग्रह-अर्थाय—अनुग्रह करने के लिए; विष्णुना—सर्वव्यापी भगवान् द्वारा; प्रभविष्णुना—सर्वशक्तिमान द्वारा।

ब्राह्मणों ने कहा : यह निष्कलंक पुत्र, आप पर अनुग्रह करने के लिए सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी भगवान् विष्णु द्वारा बचाया गया है। उसे तब बचाया गया, जब वह दुर्निवार अतिदैवी अस्त्र द्वारा नष्ट होने ही वाला था।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी विष्णु (भगवान् कृष्ण) द्वारा शिशु परीक्षित को दो कारणों से बचा लिया गया था। पहला कारण यह था कि भगवान् का विशुद्ध भक्त होने के कारण अपनी माता के गर्भ में यह शिशु निष्कलंक था। दूसरा कारण यह था कि यह शिशु पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर के पवित्र पूर्वज, पुरु के वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी था। भगवान् चाहते हैं कि पवित्र राजाओं की परम्परा चलती रहे, जिससे वे शान्तिमय तथा सम्पन्न जीवन की वास्तविक प्रगति के लिए उनके प्रतिनिधियों के रूप में पृथ्वी पर राज्य करें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, महाराज युधिष्ठिर की अगली पीढ़ी तक विनष्ट हो चुकी थी और उस महान् राजवंश में कोई ऐसा न था, जो दूसरा पुत्र उत्पन्न कर

सके। अभिमन्यु-पुत्र, महाराज परीक्षित ही परिवार के एकमात्र जीवित उत्तराधिकारी थे और अश्वत्थामा के दुर्निवार ब्रह्मास्त्र द्वारा उनका भी विनाश होनेवाला था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण को विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है और यह महत्त्वर्पूण भी है। आदि भगवान् श्रीकृष्ण, अपने विष्णु-रूप में रक्षा तथा संहार का कार्य करते हैं और विष्णु उनके पूर्णांश हैं। भगवान् कृष्ण के सारे सर्वव्यापी कार्यकलाप उनके विष्णु-रूप द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। शिशु परीक्षित को यहाँ पर निष्कलंक श्वेत कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे। भगवान् के ऐसे अनन्य भक्त इस धरा पर भगवान् के कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही प्रकट होते हैं। भगवान् चाहते हैं कि भौतिक सृष्टि के आगे-पीछे मँडरानेवाले बद्धजीवों का उद्धार हो, जिससे वे भगवद्धाम वापस आ सकें। इस तरह भगवान् वेदों जैसा दिव्य साहित्य निर्मित करके, सन्तों तथा साधुओं को दूत के रूप में भेजकर तथा अपना प्रतिनिधि अर्थात् गुरु नियुक्त करके, उनकी सहायता करते हैं। ऐसा दिव्य साहित्य, ऐसे दूत तथा भगवान् के ऐसे प्रतिनिधि निष्कलुष श्वेत होते हैं, क्योंकि भौतिक गुणों का कल्मष उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाता। जब भी उन्हें विनाश का संकट आता है, तो भगवान् सदैव उनकी रक्षा करते हैं। ऐसे मूर्खतापूर्ण संकट निपट भौतिकतावादी पुरुषों द्वारा ढाये जाते हैं। अश्वत्थामा ने बालक परीक्षित पर जिस ब्रह्मास्त्र को छोड़ा था, वह निश्चित रूप से अतिदैवी शक्ति से पूर्ण था और भौतिक जगत की कोई भी वस्तु उसकी भेदन-शक्ति को रोकने में समर्थ न थी। किन्तु सर्वत्र विद्यमान, सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा अपने प्रामाणिक सेवक तथा अपनी अहैतुकी कृपा से सदैव अनुग्रहीत अपने और एक भक्त महाराज युधिष्ठिर के वंशज को बचाने के लिए उसे रोकने में समर्थ हुए।

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति ।
न सन्देहो महाभाग महाभागवतो महान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; **नाम्ना**—नामवाले; **विष्णु-रातः**—भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित; **इति**—इस प्रकार; **लोके**—समस्त लोकों में; **भविष्यति**—विख्यात होगा; **न**—नहीं; **सन्देहः**—सन्देह; **महा-भाग**—हे परम भाग्यशाली; **महा-भागवतः**—प्रथम कोटि का भगवद्भक्त; **महान्**—समस्त उत्तम गुणों से समन्वित।

इस कारण यह बालक संसार में विष्णुरात (भगवान् द्वारा रक्षित) नाम से विख्यात होगा। हे महा भाग्यशाली, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बालक महाभागवत (उत्तम कोटि का भक्त) होगा और समस्त गुणों से सम्पन्न होगा।

तात्पर्य : भगवान् समस्त जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, क्योंकि वे उनके सर्वोपरि नेता हैं। वैदिक स्तोत्र इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त पुरुषों में परम पुरुष हैं। इन दोनों व्यक्तियों में अन्तर यह है कि इनमें से एक, अर्थात् भगवान्, अन्य समस्त जीवों का पालन करनेवाले हैं और उन्हें जान लेने से ही शाश्वत शान्ति प्राप्त की जा सकती है (*कठोपनिषद्*)। ऐसी सुरक्षा उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न कोटि के जीवों को प्रदान की जाती है। किन्तु जहाँ तक उनके अनन्य भक्तों का सम्बन्ध है, वे व्यक्तिगत रूप से उन्हें सुरक्षा प्रदान करते हैं। अतएव महाराज परीक्षित की रक्षा अपनी माता के गर्भ में प्रकट होते ही, भगवान् द्वारा शुरू हो गई थी। चूँकि उनकी भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षा की गई थी, अतएव इससे संकेत मिलता था कि यह बालक समस्त उत्तम गुणों से समन्वित महाभागवत निकलेगा। भक्तों की तीन कोटियाँ हैं—*महाभागवत, मध्यम अधिकारी* तथा *कनिष्ठ अधिकारी।* ऐसे भक्त जो भगवान् के मन्दिर जाते हैं और आध्यात्मिक विज्ञान में पर्याप्त ज्ञान न होते हुए भी और इस तरह भगवान् के भक्तों के लिए किसी प्रकार का आदर न दिखाकर, अर्चाविग्रह की पूजा करके नमस्कार करते हैं, वे भौतिकतावादी भक्त या *कनिष्ठ* अधिकारी अर्थात् तृतीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। दूसरे भक्त वे हैं, जिन्होंने भगवान् की शुद्ध सेवा की चितवृत्ति विकसित कर ली है और इस तरह वे अपने जैसे भक्तों के साथ मैत्री स्थापित करते हैं, नवदीक्षितों का पक्ष ग्रहण करते हैं और नास्तिकों से बचते हैं, वे द्वितीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। किन्तु जो लोग भगवान् में सारी वस्तुएँ देखते हैं या प्रत्येक वस्तु को भगवान् की समझते हैं और प्रत्येक वस्तु में भगवान् का नित्य सम्बन्ध देखते हैं, जिससे उन्हें भगवान् के अतिरिक्ति कुछ भी नहीं दिखता, वे *महाभागवत* या प्रथम कोटि के भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवान् के ऐसे प्रथम कोटि के भक्तगण सभी प्रकार से पूर्ण होते हैं। इन कोटियों के अन्तर्गत कोई भी भक्त स्वत: सर्व गुणों से सम्पन्न रहता है और इस तरह महाराज परीक्षित जैसा *महाभागवत* सभी प्रकार से पूर्ण होता है। चूँकि महाराज परीक्षित का जन्म महाराज युधिष्ठिर के कुल में हुआ था, इसीलिए उन्हें *महाभागवत* कहकर सम्बोधित किया गया है। जिस परिवार में

महाभागवत जन्म लेता है, वह भाग्यशाली होता है, क्योंकि ऐसे प्रथम कोटि के भक्त के जन्म से, भगवत्कृपा से, परिवार की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सौ पीढ़ियों के लोग मुक्त हो जाते हैं। अतएव भगवान् का अनन्य भक्त बनने मात्र से परिवार को सबसे बड़ा लाभ पहुँचाया जाता है।

श्रीराजोवाच
अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः ।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा—सर्वमंगलकारी राजा (महाराज युधिष्ठिर) ने; उवाच—कहा; अपि—क्या; एषः—इस; वंश्यान्—परिवार में; राज-ऋषीन्—साधु राजाओं का; पुण्य-श्लोकान्—नाम से ही पवित्र; महा-आत्मनः—सभी महान् पुरुष; अनुवर्तिता—अनुयायी; स्वित्—ऐसा होगा; यशसा—उपलब्धियों से; साधु-वादेन—महिमान्वित होने से; सत्-तमाः—हे महान् आत्माओ!.

उत्तम राजा (युधिष्ठिर) ने पूछाः हे महात्माओं, क्या यह बालक इस महान् राजवंश में प्रकट हुए अन्य राजाओं की ही तरह राजर्षि, पवित्र नामवाला, उतना ही विख्यात तथा अपनी उपलब्धियों से महिमामंडित होगा?

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर के पूर्वज राजर्षि, पुण्यात्मा तथा अपनी महान् उपलब्धियों से महिमामण्डित थे। वे राज-सिंहासन पर बैठकर भी संत थे। फलस्वरूप राज्य के सारे सदस्य सुखी, पुण्यात्मा, सदाचारी, सुसम्पन्न तथा आध्यात्मिकता में प्रबुद्ध थे। ऐसे महान् साधु राजा महात्माओं तथा आध्यात्मिक आदेशों के कठोर मार्गदर्शन में प्रशिक्षित थे। फलस्वरूप, राज्य साधु पुरुषों से परिपूर्ण रहता था और आध्यात्मिक जीवन सुखमय होता था। महाराज युधिष्ठिर स्वयं अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति थे और उनकी यह अभिलाषा थी कि उनके बाद जो भी राजा हो, वह उनके महान् पूर्वजों के समान हो। वे विद्वान ब्राह्मणों से यह जानकर प्रसन्न थे कि ज्योतिष-गणना के अनुसार, नवजात शिशु *महाभागवत* होगा और वे व्यक्तिगत रूप से यह जानने के इच्छुक थे कि बालक अपने महान् पूर्वजों का अनुगमन करनेवाला होगा या नहीं। यही राज-तंत्र की शैली है। शासन चलाने वाले राजा को पुण्यात्मा, उदार भगवद्भक्त तथा छिछोरों के लिए साक्षात् भय होना चाहिए। उसे अबोध जनता के ऊपर राज्य करने के लिए समान रूप से योग्य उत्तराधिकारी भी छोड़ जाना चाहिए। आज के लोकतांत्रिक ढाँचे में, सारे लोग शूद्र के गुणों या उससे भी अधम गुणों तक पतित हो चुके हैं और इन्हीं के प्रतिनिधि द्वारा

सरकार चलाई जाती है, जो प्रशासनिक शिक्षा की शास्त्रीय शैली से अनजान होता है। इस प्रकार सारा वातावरण शूद्र–गुणों से व्याप्त हो जाता है, जो काम तथा लोभ के रूप में प्रकट होते हैं। ऐसे प्रशासक प्रतिदिन आपस में लड़ते रहते हैं। प्राय: दलों तथा समूहों के स्वार्थ के कारण मंत्रिमण्डल में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु–पर्यन्त राज्य के संसाधनों का दोहन करते रहना चाहता है। कोई भी व्यक्ति राजनैतिक जीवन से तब तक निवृत्ति नहीं ले लेता, जब तक उसे ठोकर मार कर बाहर नहीं कर दिया जाता। भला ऐसे निम्न कोटि के लोग जनता का कल्याण कैसे कर सकते हैं? इसी का परिणाम है भ्रष्टाचार, चालबाजी तथा पाखण्ड। उन्हें विभिन्न पदों का भार सँभालने के पूर्व, *श्रीमद्भागवत* से यह सीखना चाहिए कि आदर्श प्रशासक कैसा हो।

ब्राह्मणा ऊचु:
पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—उत्तम ब्राह्मणों ने; ऊचुः—कहा; पार्थ—हे पृथा (कुन्ती) पुत्र; प्रजा—जन्म धारण करनेवाले; अविता—पालक; साक्षात्—प्रत्यक्ष; इक्ष्वाकुः इव—राजा इक्ष्वाकु की तरह; मानवः—मनुपुत्र; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों का अनुयायी तथा आदर करनेवाला; सत्य-सन्धः—वचन का पक्का; च—भी; रामः—भगवान् राम; दाशरथिः—महाराज दशरथ के पुत्र; यथा—जिस तरह।

विद्वान ब्राह्मणों ने कहा : हे पृथापुत्र, यह बालक मनु-पुत्र, राजा इक्ष्वाकु की ही तरह समस्त जीवों का पालन करनेवाला होगा। और जहाँ तक ब्राह्मणीय सिद्धान्तों के पालन की बात है, विशेष रूप से अपने वचन का पालन करने में, यह महाराज दशरथ के पुत्र भगवान् राम जैसा (दृढ़ प्रतिज्ञ) होगा।

तात्पर्य : *प्रजा* का अर्थ है इस भौतिक जगत में जन्म लेनेवाला जीव। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, लेकिन भगवान् की सेवा से विलग होने एवं भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के फलस्वरूप, उसे अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है। ऐसा होने से, वह जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध हो जाता है और *उसका भौतिक शरीर उसके कर्म के अनुसार बदलता रहता है।* इस प्रकार जीव ८४,००,००० योनियों में देहान्तर करता रहता है। किन्तु भगवान् का अंश होने के कारण, भगवान् न केवल उसके जीवन की

सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसका पालन करते हैं, अपितु स्वयं तथा अपने प्रतिनिधियों, राजर्षियों द्वारा उसकी रक्षा भी करते हैं। ये राजर्षि, समस्त *प्रजा* अथवा जीवों को जीवित रहने तथा उन्हें दिये गये बन्दी जीवन को पूरा करने के लिए सुरक्षा प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित वास्तव में एक आदर्श राजर्षि थे, क्योंकि एक बार जब वे अपने राज्य का दौरा कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि साक्षात् कलि एक बेचारी गाय को मारने जा रहा था। उन्होंने उसे तुरन्त बधिक करार करते हुए दण्डित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि साधुचरित शासकों द्वारा पशुओं तक को संरक्षण दिया जाता था, जो किसी भावावेश के कारण नहीं था, अपितु इसलिए था कि जिन्होंने इस भौतिक संसार में जन्म लिया है, उन्हें जीवित रहने का अधिकार है। सारे साधु राजा, सूर्य ग्रह के राजा से लेकर पृथ्वी के राजा तक, वैदिक साहित्य के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। वैदिक साहित्य की शिक्षा उच्चतर ग्रहों में भी दी जाती है, जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१) में भगवान् द्वारा सूर्यदेव (विवस्वान्) को उपदेश देने का प्रसंग मिलता है। ऐसी शिक्षाएँ गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा चलती रहती हैं, क्योंकि सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु को शिक्षा दी, फिर मनु ने महाराज इक्ष्वाकु को शिक्षा दी। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और यहाँ पर जिस मनु का उल्लेख हुआ है, वे सातवें मनु हैं, जो *प्रजापतियों* में से एक हैं और वे सूर्यदेव के पुत्र हैं। वे वैवस्वत मनु कहलाते हैं। उनके दस पुत्र थे और महाराज इक्ष्वाकु उन्हीं में से एक थे। महाराज इक्ष्वाकु ने अपने पिता मनु से, *भगवद्गीता* में बताये गये भक्तियोग को भी सीखा। मनु ने इसे अपने पिता सूर्यदेव से प्राप्त किया था। बाद में, महाराज इक्ष्वाकु के बाद, *भगवद्गीता* की शिक्षा परम्परा द्वारा चलती रही, किन्तु कालक्रम से यह शृंखला पाखण्डियों द्वारा छिन्न कर दी गई। अतएव कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को फिर से इसकी शिक्षा दी गई। इस तरह सारा वैदिक साहित्य, सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है और *अपौरुषेय* कहलाता है, जिसका अर्थ है कि वह मनुष्य द्वारा रचित नहीं है। वैदिक ज्ञान का प्रवचन भगवान् द्वारा किया गया और ब्रह्माण्ड के सर्वप्रथम सृजित जीव ब्रह्मा ने सबसे पहले इसे सुना।

महाराज इक्ष्वाकु—ये वैवस्वत मनु के पुत्रों में से एक थे। इनके १०० पुत्र थे। उन्होंने मांसाहार को प्रतिबन्धित किया। उनकी मृत्यु के बाद उनका पुत्र शशाद् राजा बना।

मनु—इस श्लोक में जिन मनु का उल्लेख इक्ष्वाकु के पिता के रूप में हुआ है, वे सातवें मनु, वैवस्वत मनु अर्थात् सूर्यदेव विवस्वान् के पुत्र थे, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के पूर्व *भगवद्गीता* का उपदेश दिया था। समस्त मानव जाति मनु के वंशज हैं। इन वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे, जिनके नाम थे इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष, पृषध्र तथा वसुमान। भगवान् का मत्स्य-अवतार वैवस्वत मनु के प्रारम्भ में हुआ था। उन्होंने अपने पिता, सूर्यदेव विवस्वान् से *भगवद्गीता* के नियमों की शिक्षा प्राप्त की और इसे उन्होंने अपने पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को प्रदान किया। त्रेतायुग के प्रारम्भ में, सूर्यदेव ने मनु को भक्तिमय सेवा का पाठ पढ़ाया और मनु ने सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण हेतु इक्ष्वाकु को भक्ति की शिक्षा दी।

भगवान् राम—पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् ने साक्षात् श्रीराम के रूप में, अपने विशुद्ध भक्त, अयोध्या के राजा महाराज दशरथ का पुत्रत्व स्वीकार करके स्वयं अवतार लिया। भगवान् राम अपने पूर्ण अंशों के समेत अवतरित हुए और वे सब उनके छोटे भाइयों के रूप में प्रकट हुए। भगवान् त्रेतायुग में, चैत्रमास में शुक्ल पक्ष की नवमी को, हमेशा की तरह धर्म की स्थापना करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित हुए। अभी वे तरुण ही थे कि उन्होंने सुबाहु को मारकर तथा नैत्यिक कार्यों में बाधा डालनेवाली राक्षसी मारीचा का वध करके विश्वामित्र की सहायता की। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का कार्य जन-कल्याण के लिए एक-दूसरे से सहयोग करने का होता है। ब्राह्मण मुनि अपने पूर्ण ज्ञान द्वारा लोगों को प्रबुद्ध करते हैं और क्षत्रिय उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् रामचन्द्र मानवता की उत्कृष्टतम संस्कृति के, जिसे *ब्रह्मण्य धर्म* कहते हैं, पालन तथा संरक्षण के लिए आदर्श राजा हैं। वे विशेष रूप से गायों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं, अतएव वे जगत की सम्पन्नता को बढ़ानेवाले हैं। उन्होंने प्रशासक देवताओं को विश्वामित्र के माध्यम से असुरों को जीतने के लिए प्रभावशाली अस्त्र प्रदान किये। वे राजा जनक के धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे और शिवजी के अजेय धनुष को तोड़कर, महाराज जनक की पुत्री सीतादेवी के साथ ब्याह किया।

विवाह के बाद उन्होंने अपने पिता महाराज दशरथ के आदेश से चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। देवताओं के प्रशासन में सहायता करने के लिए, उन्होंने चौदह हजार असुरों का बध किया। रावण ने, असुरों की चाल से, उनकी पत्नी सीतादेवी का अपहरण किया। उन्होंने सुग्रीव से मैत्री

स्थापित की और उसके भाई वालि को मारने में सहायता की। भगवान् राम की सहायता से सुग्रीव वानरों का राजा बना। भगवान् ने हिन्द महासागर में पत्थरों का तैरता हुआ एक सेतु बनाया और सीता के अपरहणकर्ता रावण के राज्य लंका में पहुँचे। तत्पश्चात् उन्होंने रावण का वध किया और लंका के सिंहासन पर रावण के भाई विभीषण को बैठाया। यद्यपि विभीषण राक्षस रावण का भाई था, किन्तु भगवान् राम ने उसे अपने वर से अमर बना दिया। चौदह वर्ष बीतने पर लंका का निपटारा करके, भगवान् पुष्पक विमान द्वारा अपने राज्य अयोध्या लौट आये। उन्होंने अपने भाई शत्रुघ्न को आदेश दिया कि मथुरा पर शासन चलानेवाले असुर लवणासुर पर आक्रमण करे। उन्होंने उस असुर का वध किया। उन्होंने दस *अश्वमेध यज्ञ* सम्पन्न किये और बाद में वे सरयू नदी में स्नान करते-करते अन्तर्धान हो गये। *रामायण* नामक महाकाव्य इस संसार में भगवान् राम की लीलाओं का इतिहास है और प्रामाणिक *रामायण* का लेखन महाकवि वाल्मीकि द्वारा सम्पन्न हुआ।

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनर: शिबि: ।
यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एष:—यह बालक; दाता—दानी; शरण्य:—शरणागतों का रक्षक; च—तथा; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; औशीनर:—उशीनर नामक देश का; शिबि:—शिबि; यश:—यश; वितनिता—फैलानेवाला; स्वानाम्—स्वजनों का; दौष्यन्ति: इव—दुष्यन्त के पुत्र भरत की तरह; यज्वनाम्—अनेक यज्ञ सम्पन्न करनेवालों का।

यह बालक सुप्रसिद्ध उशीनर नरेश, शिबि, की भाँति उदार दानवीर तथा शरणागतों का रक्षक होगा। यह अपने कुल के नाम तथा यश को उसी तरह फैला देगा, जिस तरह महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत ने किया था।

तात्पर्य : राजा अपने दान-कर्म, यज्ञों की सम्पन्न करने शरणागतों की रक्षा के कारण विख्यात बनता है। क्षत्रिय राजा शरणागतों को सुरक्षा प्रदान करके गर्वित होता है। राजा की यह मनोवृत्ति ईश्वर भाव अर्थात् अच्छे कार्य के लिए सुरक्षा प्रदान करने की वास्तविक शक्ति कहलाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् जीवों को उपदेश देते हैं कि तुम मेरी शरण में आओ तो मैं तुम्हें समस्त सुरक्षा का वचन देता हूँ। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अपने वचनों के पक्के हैं, अतएव वे अपने विभिन्न भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने से कभी चूकते नहीं। राजा में, भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण, अपने प्राण की बाजी

लगाकर भी, शरणागत की रक्षा करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। उशीनर-नरेश महाराज शिबि महाराज ययाति के घनिष्ठ मित्र थे, जो महाराज शिबि समेत स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे। महाराज शिबि को ज्ञात था कि मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्गलोक में जाना है और इस स्वर्गलोक का विवरण *महाभारत* (आदि पर्व ९६.६-९) में दिया हुआ है। महाराज शिबि इतने प्रणव दानी थे कि वे स्वर्गलोक में प्राप्त अपने स्थान को ययाति को देना चाहते थे, लेकिन ययाति ने उसे स्वीकार नहीं किया। ययाति अष्टक तथा अन्य महर्षियों के साथ स्वर्गलोक गये। ऋषियों के पूछे जाने पर ययाति ने, स्वर्ग जाते समय, उनसे शिबि के पुण्यकर्मों का वर्णन किया। वे यमराज की सभा के सदस्य बने जो उनके पूज्यदेव थे। जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है, देवताओं का उपासक देवलोक को जाता है (*यान्ति देवव्रता देवान्*), अतएव महाराज शिबि, उस लोक में परम वैष्णव अधिकारी यमराज के पार्षद बन गये। जब वे पृथ्वी पर विद्यमान थे तो वे शरणागतों के रक्षक तथा दानी के रूप में अत्यन्त विख्यात हो चुके थे। एक बार स्वर्ग के राजा (इन्द्र) ने बाज का रूप धारण किया और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण किया। इस कबूतर ने बाज द्वारा पीछा किये जाने पर, महाराज शिबि की गोद में आकर शरण ली, किन्तु बाज चाहता था कि राजा उसे छोड़ दे। राजा उसे खाने के लिए दूसरा मांस देना चाहता था। राजा ने कबूतर को न मारने के लिए अनुनय-विनय की। बाज ने पहले राजा का अनुरोध नहीं माना, लेकिन बाद में यह तय हुआ कि राजा अपने शरीर से कबूतर के भार के बराबर मांस काट कर दे। राजा कबूतर के भार के तुल्य अपने शरीर से मांस काट-काट कर तुला पर रखता जाता, लेकिन रहस्यमय कबूतर सदा भारी ही रहता। तब राजा स्वयं तुला पर चढ़ गया जिससे भार पूरा हो जाये। इस पर देवता उस पर प्रसन्न हो गये। स्वर्ग के राजा तथा अग्निदेव ने अपनी पहचान बताई और राजा को आशीर्वाद दिया। देवर्षि नारद ने भी महाराज शिबि के दान तथा शरणागत की रक्षा के लिए किए गए कार्यों के लिए उनकी महिमा का गान किया। उन्होंने अपने राज्य के मनुष्यों की तुष्टि के लिए अपने पुत्र की बलि दे दी। इस प्रकार बालक परीक्षित दान तथा संरक्षण के मामले में दूसरा शिबि बनेगा।

दौष्यन्ति भरत—इतिहास में अनेक भरत हुए हैं, जिनमें से भगवान् राम के भाई भरत, राजा ऋषभ के पुत्र भरत तथा महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सारे भरत विश्व विख्यात हैं। यह पृथ्वीलोक ऋषभ के पुत्र राजा भरत के कारण भारत या भारतवर्ष के नाम से

विख्यात है, लेकिन कुछ लोगों के मतानुसार, यह देश दुष्यन्त के पुत्र के शासन के कारण भारत के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन हमारे मत से इस देश का भारतवर्ष नाम, राजा ऋषभ के पुत्र भरत के शासन के कारण पड़ा है। उनके पूर्व यह भू-भाग इलावर्त-वर्ष कहलाता था, किन्तु ऋषभ-पुत्र भरत के राज्यारोहण के बाद, यह भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लेकिन इन सबके बावजूद, महाराज दुष्यन्त का पुत्र भरत कम महत्त्वपूर्ण न था। वह सुप्रसिद्ध सुन्दरी शकुन्तला का पुत्र था। महाराज दुष्यन्त वन में इस सुन्दरी के प्रेमपाश में बँधे, तो भरत का गर्भाधान हुआ। तत्पश्चात् दुर्वासा मुनि के शापवश राजा, अपनी पत्नी शकुन्तला को भूल गया। बालक भरत का पालन-पोषण उस वन में ही उसकी माता द्वारा हुआ। वह अपने बाल्यकाल में ही इतना बलशाली था कि वह जंगल के सिंहों तथा हाथियों को ललकारता और उनके साथ वैसे ही लड़ता, जैसे छोटे-छोटे बालक कुत्ते-बिल्लियों से खेलते हैं। बालक के अत्यन्त शक्तिशाली होने से, यहाँ तक कि आधुनिक तथाकथित टार्जन से भी बढ़कर होने से, वन के ऋषिगण उसे सर्वदमन कहते थे। महाराज भरत का पूरा विवरण *महाभारत* के आदि पर्व में दिया हुआ है। कभी-कभी पाण्डवों या कौरवों को भारत कहकर सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि वे राजा दुष्यन्त के पुत्र महाराज भरत के कुल में उत्पन्न हुए थे।

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्विनाम्—महान् धनुर्धरों में; अग्रणीः—सर्वश्रेष्ठ; एषः—यह बालक; तुल्यः—समान रूप से उत्तम; च—तथा; अर्जुनयोः—अर्जुनों का; द्वयोः—दो; हुताशः—अग्नि; इव—सदृश; दुर्धर्षः—दुर्निवार, बेरोक; समुद्रः—समुद्र; इव—सदृश; दुस्तरः—दुर्लंघ्य, पार न करने योग्य।.

महान् धनुर्धरों में यह बालक अर्जुन के समान होगा। यह अग्निदेव के समान दुर्निवार तथा समुद्र की भाँति दुर्लंघ्य होगा।

तात्पर्य : इतिहास में दो अर्जुन हुए हैं—एक कार्तवीर्य अर्जुन, जो हैहय के राजा थे और दूसरे इस बालक के दादा। दोनों ही अर्जुन अपनी धनुर्विद्या के लिए विख्यात हैं। बालक परीक्षित के विषय में

भविष्यवाणी की जा रही है कि वह युद्ध-कला में इन दोनों के समान होगा। पाण्डव अर्जुन का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया है।

पाण्डव अर्जुन—ये *भगवद्गीता* के महान् नायक हैं। ये महाराज पाण्डु के क्षत्रिय पुत्र थे। महारानी कुन्ती देवी किसी भी देवता का आवाहन कर सकती थीं और इस तरह जब उन्होंने इन्द्र का आवाहन किया, तो उससे अर्जुन का जन्म हुआ। अतएव अर्जुन स्वर्ग के राजा इन्द्र के पूर्ण अंश हैं। चूँकि उनका जन्म फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) में हुआ था, अतएव वे फाल्गुनि भी कहलाते हैं। जब वे कुन्ती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए, तो आकाशवाणी हुई कि यह पुत्र महान् होगा। उनके जन्मोत्सव में ब्रह्माण्ड के सारे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—यथा देवता, गन्धर्व, आदित्य (सूर्य लोकवासी), रुद्र, वसु, नाग, ऋषि तथा अप्सराएँ सम्मिलित हुए थे। अप्सराओं ने अपने स्वर्गिक नृत्य तथा गायन से सबों को प्रमुदित किया था। कृष्ण के पिता तथा अर्जुन के मामा श्री वसुदेव ने अपने पुरोहित कश्यप को, सारे संस्कारों द्वारा अर्जुन को परिशुद्ध करने के लिए भेजा था। उनका नामकरण संस्कार शतश्रृंग के निवासी ऋषियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। उनकी चार पत्नियाँ थीं—द्रौपदी, सुभद्रा, चित्रांगदा तथा उलूपी, जिनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनके नाम क्रमशः श्रुतकीर्ति, अभिमन्यु, बभ्रुवाहन तथा इरावान थे।

विद्यार्थी जीवन में इन्हें अन्य पाण्डवों तथा कौरवों के साथ महान् आचार्य द्रोणाचार्य की देखरेख में अध्ययन करने के लिए सौंपा गया था। अपने अध्यवसाय के कारण, ये सबों से आगे रहते थे और द्रोणाचार्य भी इनके प्रति शिष्य-प्रेम के कारण अत्यधिक आकृष्ट थे। द्रोणाचार्य ने इन्हें प्रथम कोटि के छात्र के रूप में ग्रहण किया था और हृदय से प्यार करने के कारण, इन्हें सैन्य-विज्ञान के सारे वर दे दिये थे। वे इतने उत्सुक छात्र थे कि वे रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करते थे, जिसके कारण द्रोणाचार्य इन्हें विश्व का सर्वोपरि धनुर्धर बनाना चाह रहे थे। वे लक्ष्य-वेध की परीक्षा में प्रतिभाशाली रूप से सफल रहे, फलतः द्रोणाचार्य इनसे अतीव प्रसन्न थे। मणिपुर तथा त्रिपुरा के राजपरिवार, अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन के वंशज हैं। अर्जुन ने द्रोणाचार्य को एक घड़ियाल के हमले से बचाया था और आचार्य ने प्रसन्न होकर उन्हें *ब्रह्मशिरस* नामक एक अस्त्र प्रदान किया था। महाराज द्रुपद का द्रोणाचार्य से वैर था, अतएव जब उसने आचार्य पर आक्रमण किया, तब अर्जुन उसे बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के समक्ष लाये। उन्होंने महाराज द्रुपद की नगरी अहिछत्रा को घेर लिया और इसे जीतकर द्रोणाचार्य को

दिया। द्रोणाचार्य ने ब्रह्मशिरस अस्त्र को चलाने का रहस्य बतलाया और अर्जुन से प्रतिज्ञा ली कि वह आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग तभी करेगा, जब स्वयं द्रोणाचार्य शत्रु–रूप में उपस्थित हों। इस तरह आचार्य ने कुरुक्षेत्र के भावी युद्ध की भविष्यवाणी की थी, जिसमें द्रोणाचार्य विपक्ष के साथ थे। यद्यपि महाराज द्रुपद, अर्जुन द्वारा आचार्य के लिए पराजित हुए थे, किन्तु उन्होंने अर्जुन को अपनी पुत्री द्रौपदी समर्पित करने का निश्चय किया। लेकिन जब उन्होंने यह गलत समाचार सुना कि दुर्योधन द्वारा नियोजित लाक्षागृह में अग्नि लगने से अर्जुन की मृत्यु हो गई, तो वे अत्यधिक निराश हुए। अतएव उन्होंने द्रौपदी का स्वयंवर करने का प्रबन्ध किया, जिसमें भावी पति को छत से लटकती मछली की आँख को वेधना था। यह युक्ति जान–बूझकर इसलिए की गई थी, क्योंकि केवल अर्जुन ही ऐसा कर सकते थे। इस तरह वे अपनी योग्य पुत्री को अर्जुन को सौंपने की अपनी योजना में सफल रहे। उस समय अर्जुन व सभी भाई, दुर्योधन से किये गए समझौते के अनुसार, लाक्षागृह की अग्नि से बचकर अज्ञातवास कर रहे थे, अतएव अर्जुन तथा उसके भाइयों ने ब्राह्मण–वेश में द्रौपदी–स्वयंवर में भाग लिया। जब वहाँ पर एकत्रित समस्त क्षत्रिय राजाओं ने देखा कि द्रौपदी ने एक दरिद्र ब्राह्मण को पति रूप में चुना है, तब श्रीकृष्ण ने बलराम से अर्जुन के परिचय का भेद खुला किया।

हरिद्वार (हरद्वार) में उनकी भेंट नागलोक की कन्या उलूपी से हुई। वे उससे आकृष्ट हुए और इस प्रकार इरवान का जन्म हुआ। इसी प्रकार उनकी भेंट मणिपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा से हुई और इससे बभ्रुवाहन प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा के अपहरण के लिए अर्जुन की सहायता करने की योजना बनाई, क्योंकि बलदेव उसे दुर्योधन को देने पर तुले थे। युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण से सहमत थे और इस तरह अर्जुन ने बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण करके उसके साथ विवाह कर लिया। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु था, जिसकी मृत्यु के बाद परीक्षित महाराज ने पुत्र–रूप में जन्म लिया। अर्जुन ने खाण्डव वन का अग्निदाह करके जब अग्निदेव को प्रसन्न कर लिया, तो अग्निदेव ने उन्हें एक अस्त्र प्रदान किया। जब अर्जुन ने खाण्डव वन में अग्नि लगा दी, तो इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अन्य देवताओं की सहायता से अर्जुन पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वे सब अर्जुन द्वारा पराजित हुए और इन्द्रदेव को स्वर्ग लौट जाना पड़ा। अर्जुन ने एक मयासुर की भी रक्षा करने का वचन दिया था

और उसने उन्हें एक मूल्यवान शंख प्रदान किया, जिसका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार इन्द्रदेव ने उनकी शूरवीरता से प्रसन्न होकर उन्होंने अनेक अस्त्र प्रदान किये।

जब महाराज युधिष्ठिर मगध के राजा जरासन्ध को न हरा पाने से निराश हो रहे थे, तब अर्जुन ने ही उन्हें इस प्रकार से आश्वासन दिया और तब अर्जुन, भीम तथा भगवान् कृष्ण उसका वध करने के लिए मगध के लिए रवाना हुए। जब वे विश्व भर के राजाओं को पाण्डवों के अधीन बनाने के लिए बाहर गये, जैसाकि प्रत्येक सम्राट के राजतिलक के बाद होता है, तो उन्होंने केलिन्द नामक देश को जीता और राजा भगदत्त को अपने अधीन किया। इसके बाद वे अन्तगिरि, उलुकपुर तथा मोदपुर जैसे देशों में विचरते रहे और समस्त राजाओं को अपने अधीन बनाया।

कभी-कभी उन्होंने कठोर तपस्याएँ कीं और बाद में उन्हें इन्ददेव से वरदान भी मिला। शिवजी भी अर्जुन के बल की परीक्षा करना चाहते थे, अतएव वे एक आदिवासी के रूप में अर्जुन से मिले। उन दोनों में भीषण युद्ध हुआ और अन्त में जब शिवजी उनसे प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय प्रकट किया। अर्जुन ने विनीत भाव से उनकी प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुन को *पाशुपत* अस्त्र प्रदान किया। उन्होंने विभिन्न देवताओं से अन्य अनेक अस्त्र प्राप्त किये—यथा यमराज से *दण्डास्त्र,* वरुण से *पाशास्त्र,* स्वर्ग के भंडारी कुवेर से *अन्तर्धान-अस्त्र*। इन्द्र ने चाहा कि अर्जुन चन्द्रलोक से भी आगे इन्द्रलोक नामक स्वर्ग के ग्रह में जायें। उस ग्रह पर स्थानीय निवासियों द्वारा उनका हार्दिक स्वागत हुआ और इन्द्रदेव की स्वर्गीय संसद में उनका भव्य स्वागत हुआ। तब वे इन्द्रदेव से मिले, जिन्होंने न केवल उन्हें *वज्रास्त्र* प्रदान किया, अपितु उन्हें सैन्य तथा संगीत-विद्या भी सिखलाई, जो उस समय स्वर्गलोक में प्रचलित थीं। एक तरह से, इन्द्र ही अर्जुन के वास्तविक पिता थे, अतएव वे अर्जुन का मनोरंजन स्वर्ग की सुन्दर अप्सरा उर्वशी द्वारा कराना चाहते थे। स्वर्ग की अप्सराएँ अत्यन्त कामुक होती हैं और उर्वशी अर्जुन के संसर्ग के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, क्योंकि अर्जुन अत्यन्त बलशाली मनुष्य थे। वह उनसे उनके कक्ष में मिली और उनसे अपनी इच्छा व्यक्त की, किन्तु अर्जुन ने अपनी आँखें बन्द करके, उसे कुरुवंश की माता के रूप में सम्बोधित करके अपने निर्दोष चरित्र का परिचय दिया तथा उर्वशी को कुन्ती, माद्री तथा इन्द्रपत्नी शचीदेवी की कोटि में ला दिया। निराश होकर उर्वशी

ने अर्जुन को शाप दे दिया और वहाँ से चली गई। स्वर्ग में ही उनकी भेंट विख्यात साधु लोमश से हुई, जिनसे उन्होंने महाराज युधिष्ठिर की रक्षा करने की प्रार्थना की।

जब उनका घोर विरोधी चचेरा भाई, दुर्योधन गन्धर्वों के चंगुल में था, तो उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से अर्जुन ने गन्धर्वों से अनुनय-विनय की थी कि वे उसे छोड़ दें, लेकिन गन्धर्वों के ऐसा करने से मना करने पर उनसे युद्ध करके दुर्योधन को छुड़ाया था। जब समस्त पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे, तो ये राजा विराट के दरबार में क्लीव (हिजड़ा) के रूप में उपस्थित होकर, अपनी भावी पुत्रवधू उत्तरा के संगीत-शिक्षक बने और विराट के दरबार में बृहन्नला के नाम से विख्यात हुए। बृहन्नला के रूप में वे राजा विराट के पुत्र उत्तर के पक्ष से लड़े थे और अज्ञातवास-काल में कुरुओं को हराया था। उनके गुप्त अस्त्र एक *शमी* वृक्ष में सुरक्षित रखे गये थे और उन्होंने उत्तर को आदेश दिया कि वह उन्हें ले आए। बाद में उत्तर को उनका तथा उनके भाइयों की असली पहचान प्रकट कर दी गई। द्रोणाचार्य को कुरुओं तथा विराटों के युद्ध में अर्जुन के उपस्थित होने की सूचना दी गई थी। बाद में अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में कर्ण तथा अन्य बड़े-बड़े सेनापतियों का वध किया। कुरुक्षेत्र-युद्ध के पश्चात्, उन्होंने अश्वत्थामा को दण्ड दिया, जिसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया था। तब सभी भाई भीष्मदेव के पास गये थे।

यह अर्जुन के कारण ही सम्भव हुआ कि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् ने *भगवद्गीता* का प्रवचन किया। कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में उनके आश्चर्यजनक कार्यों का *महाभारत* में विशद वर्णन हुआ है। किन्तु अर्जुन अपने ही पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा मणिपुर में पराजित हुए और मूर्छित हो गये, पर उलूपी ने तब उनकी रक्षा की। भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने का समाचार अर्जुन द्वारा महाराज युधिष्ठिर को दिया गया। पुन: अर्जुन ने द्वारका की यात्रा की, तो कृष्ण की सारी विधवा पत्नियों ने उनके सामने विलाप किया। वे उन सबों को वसुदेव के पास ले गये और सान्त्वना दी। बाद में, वसुदेव के दिवंगत हो जाने पर, कृष्ण की अनुपस्थिति में उन्होंने ही उनका दाह-संस्कार किया। जब अर्जुन कृष्ण की सभी पत्नियों को इन्द्रप्रस्थ ले जा रहे थे, तो मार्ग में उन पर आक्रमण हो गया और वे उन स्त्रियों की रक्षा नहीं कर पाये। अन्त में व्यासदेव के उपदेश से सारे पाण्डव महाप्रस्थान के लिए चल पड़े। मार्ग में उन्होंने अपने भाई के अनुरोध पर, अपने सारे अस्त्रों को व्यर्थ समझकर उन्हें पानी में फेंक दिया।

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णु: पितराविव ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मृगेन्द्रः—सिंह; इव—सदृश; विक्रान्तः—शक्तिशाली; निषेव्यः—शरण ग्रहण करने योग्य; हिमवान्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; तितिक्षुः—क्षमावान; वसुधा इव—पृथ्वी के समान; असौ—यह बालक; सहिष्णुः—सहिष्णु; पितरौ—माता-पिता; इव—सदृश।

यह बालक सिंह के समान बलशाली तथा हिमालय की भाँति आश्रय प्रदान करनेवाला होगा। यह पृथ्वी के समान क्षमावान तथा अपने माता-पिता के समान सहिष्णु होगा।

तात्पर्य : जब कोई अपने शत्रु का पीछा करने में अत्यन्त प्रबल होता है, तो उसकी तुलना सिंह से की जाती है। मनुष्य को घर में मेमना बने रहना चाहिए, किन्तु शत्रु का पीछा करते समय उसे सिंह होना चाहिए। सिंह कभी पशु को पकड़ने में असफल नहीं होता। इसी प्रकार राज्य के प्रमुख को शत्रु का पीछा करने में कभी असफल नहीं होना चाहिए। हिमालय पर्वत अपनी समृद्धि के लिए विख्यात है। वहाँ रहने के लिए अनेक कन्दराएँ हैं, खाने के लिए उत्तम फलदार वृक्ष हैं, पानी पीने के लिए निर्मल झरने हैं और रोगों को ठीक करने की अनेक औषधियाँ तथा खनिज हैं। जो व्यक्ति भौतिक रूप से सम्पन्न न हो, उसे चाहिए कि इन पर्वतों की शरण ले, तो उसे सारी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाएँगी। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी दोनों ही समान रूप से हिमालय की शरण ग्रहण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासियों द्वारा पृथ्वी पर अनेक उत्पात मचाये जाते हैं। आधुनिक युग में लोग पृथ्वी की सतह पर परमाणु अस्त्रों का विस्फोट करने लगे हैं, फिर भी पृथ्वी इन निवासियों के उत्पातों को सहती रहती है। माता-पिता बच्चों की समस्त प्रकार की शैतानियों को सहते रहते हैं जिस प्रकार एक माता छोटे बच्चे को क्षमा करती है। आदर्श राजा में ये सारे उत्तम गुण होने चाहिए और बालक परीक्षित इन सारे गुणों से परिपूर्ण होने की भविष्यवाणी की जा रही है।

पितामहसम: साम्ये प्रसादे गिरिशोपम: ।
आश्रय: सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रय: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पितामह—पितामह या ब्रह्मा; समः—तुल्य; साम्ये—समता में; प्रसादे—दान या कृपालुता में; गिरिश—शिवजी; उपमः—उपमा, तुलना; आश्रयः—आश्रय, विश्राम-स्थल; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों का; यथा—जिस तरह; देवः—परमेश्वर; रमा-आश्रयः—भगवान्।

यह बालक मन की समता में अपने पितामह युधिष्ठिर या फिर ब्रह्मा के समान होगा। दानशीलता में यह कैलाशपति शिव के समान होगा। यह देवी लक्ष्मी के भी आश्रय, भगवान् नारायण के समान सबों को आश्रय देनेवाला होगा।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा जीवों के पितामह, ब्रह्मा, दोनों ही मन की समता (समदर्शिता) के द्योतक हैं। श्रीधरस्वामी के अनुसार, *पितामह* शब्द ब्रह्मा के लिए आया है, किन्तु विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, पितामह स्वयं महाराज युधिष्ठिर हैं। किन्तु दोनों ही तरह से यह उपमा समान रूप से उत्तम है, क्योंकि दोनों ही परमेश्वर के जाने-माने प्रतिनिधि हैं, अतएव दोनों को ही, जीव के कल्याणकार्य में लगे रहने से, मानसिक समता बनाये रखनी होती है। शासन के किसी भी सर्वोच्च जिम्मेदार कार्यकारी व्यक्ति को उन्हीं सबों के घात सहने पड़ते हैं, जिनके लिए वह कार्य करता है। ब्रह्माजी की आलोचना गोपियों तक ने की, जो भगवान् के महान्तम पूर्ण भक्त हैं। गोपियाँ ब्रह्माजी के कार्य से असन्तुष्ट थीं, क्योंकि इस ब्रह्माण्ड-विशेष के स्रष्टा-रूप में, उन्होंने पलकें बनाईं, जिनके कारण भगवान् कृष्ण का दर्शन करने में उन्हें बाधा पहुँचती थी। वे क्षण भर भी पलक झपकाना पसन्द नहीं करती थीं, क्योंकि इससे उनके परम प्रिय भगवान् का दर्शन रुक जाता था। अतएव अन्यों के विषय में क्या कहा जाये, जो किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति के हर कार्य की आलोचना करते रहते हैं? इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को, अपने शत्रुओं द्वारा उत्पन्न की गई अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करते रहना होता था, किन्तु सभी नाजुक परिस्थितियों में भी वे मानसिक सन्तुलन पूर्णरूपेण बनाये रहे। अतः मानसिक समता बनाये रखने में दोनों पितामहों का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

शिवजी भिखारियों को दान देने के लिए विख्यात देवता हैं। अतएव उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न होनेवाले। वे भूतनाथ भी कहलाते हैं, जिसका अर्थ है सामान्य (गँवई) लोगों के स्वामी, जो उनके प्रति इसलिए आकर्षित होते हैं, क्योंकि वे भावी परिणामों का विचार किये बिना उदार वर देते रहते हैं। रावण शिवजी के प्रति अत्यधिक आसक्त था और वह उन्हें सरलता से प्रसन्न करके इतना शक्तिशाली बन गया कि उसने भगवान् राम की सत्ता को चुनौति देना

चाहा। निस्सन्देह, जब रावण शिवजी के आराध्य भगवान् राम से लड़ा, तो शिवजी ने उसकी कोई सहायता नहीं की। शिवजी ने वृकासुर को ऐसा वरदान दिया था, जो न केवल उपहासास्पद था, अपितु भयावह भी था। शिवजी की कृपा से वृकासुर इतना शक्तिशाली बन गया कि वह किसीके भी मस्तक पर हाथ रख कर उसे तुरन्त नष्ट कर सकता था। यद्यपि शिवजी ने ही यह वरदान दिया था, किन्तु उस चालाक असुर ने शिवजी के मस्तक का स्पर्श करके इसकी शक्ति का परीक्षण करना चाहा। इस तरह शिवजी को इस मुसीबत से अपनी रक्षा करने के लिए विष्णु की शरण लेनी पड़ी। भगवान् विष्णु ने अपनी माया से वृकासुर को अपने ही मस्तक का स्पर्श करके परीक्षण करने के लिए कहा। उसने वैसा ही किया, जिससे वह नष्ट हो गया और इस तरह यह संसार देवताओं के चालाक याचक की सारी मुसीबतों से मुक्त हो सका। सबसे मजेदार बात यह है कि शिवजी कभी किसी को किसी प्रकार का वरदान देने से मना नहीं करते। अतएव वे सर्वाधिक उदार हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे ऐसी कुछ भूल हो जाती है।

रमा का अर्थ है भाग्य की देवी। उनके आश्रय भगवान् विष्णु हैं। भगवान् विष्णु समस्त जीवों के पालक हैं। जीव असंख्य होते हैं, जो न केवल इस ग्रह में रहते हैं, अपितु अन्य लाखों ग्रहों में भी रहते हैं। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उन सबको जीवन की समस्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन इन्द्रियतृप्ति के मार्ग में वे माया के कारण कठिनाई में फँस जाते हैं, अतएव वे आर्थिक विकास की मिथ्या योजना के मार्ग पर जाते हैं। ऐसा आर्थिक विकास कभी सफल नहीं होता, क्योंकि यह भ्रामक है। ये लोग सदैव भ्रामक लक्ष्मीदेवी के पीछे-पीछे लगे रहते हैं, लेकिन ये लोग यह नहीं जानते कि लक्ष्मीजी केवल विष्णु के संरक्षण में ही रह सकती हैं। विष्णु के बिना, लक्ष्मीजी कोरी माया हैं। अतएव हमें प्रत्यक्ष रूप से लक्ष्मीजी का आश्रय न ढूँढ़ कर विष्णु का आश्रय लेना चाहिए। केवल विष्णु तथा उनके भक्त ही सबों को आश्रय प्रदान कर सकते हैं और चूँकि महाराज परीक्षित की रक्षा स्वयं विष्णु कर रहे थे, अतएव यह सर्वथा सम्भव था कि वे अपने शासन में रहनेवाले सबों को पूरा-पूरा संरक्षण प्रदान कर सकें।

सर्वसद्‌गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः ।

रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सर्व-सत्-गुण-माहात्म्ये—समस्त दैवी गुणों से महिमान्वित; एषः—यह बालक; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की तरह; अनुव्रतः—उनके पदचिह्नों पर चलनेवाला; रन्तिदेवः—रन्तिदेव; इव—सदृश; उदारः—उदार; ययातिः—ययाति; इव—सदृश; धार्मिकः—धर्म के मामले में।

यह बालक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों का पालन करते हुए, उन्हीं के समान होगा। उदारता में यह राजा रन्तिदेव के समान तथा धर्म में यह महाराज ययाति की भाँति होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश यह है कि मनुष्य सब कुछ त्याग कर भगवान् के ही चरणचिह्नों का अनुसरण करे। अल्पज्ञानी लोग इस महान् उपदेश को स्वीकार नहीं करते, जो उनका दुर्भाग्य ही है, किन्तु जो मनुष्य सचमुच बुद्धिमान है, वह इस अलौकिक उपदेश को ग्रहण करके तुरन्त लाभान्वित होता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि संगति से ही गुण ग्रहण किये जाते हैं। यहाँ तक कि भौतिक अर्थ में भी, अग्नि की संगति से कोई भी वस्तु गरम हो जाती है। अतएव परम पुरुषोत्तम भगवान् की संगति से मनुष्य भगवान् के ही समान योग्य बन जाता है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् की घनिष्ठ संगति से हम ७८ प्रतिशत भगवदीय गुण प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही भगवान् की संगति करना है। *भगवान् कोई भौतिक वस्तु नहीं हैं, जिसकी उपस्थिति का अनुभव ऐसा संग करने के लिए आवश्यक होता है।* भगवान् सर्वत्र और सभी काल में उपस्थित रहते हैं। यह पूरा सम्भव है कि केवल उनके आदेश पालन करने से ही उनकी संगति प्राप्त हो जाए, क्योंकि भगवान् एवं उनका आदेश तथा भगवान् एवं उनका नाम, यश, गुण तथा साज-सामान, परम ज्ञान होने के कारण उनसे अभिन्न हैं। महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ से लेकर अपने अमूल्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक भगवान् की संगति में रहे, अतएव उन्होंने भगवान् के सारे अनिवार्य उत्तम गुण, पूर्णतया अर्जित कर लिये थे।

रन्तिदेव—ये *महाभारत* काल से भी पहले के प्राचीन राजा हैं, जिनका उल्लेख नारदमुनि ने संजय को उपदेश देते हुए किया था, जैसा कि *महाभारत* (द्रोण पर्व ६७) से ज्ञात होता है। ये महान् राजा थे और आतिथ्य के लिए तथा भोजन वितरण करने के लिए विख्यात थे। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इनके दान तथा आतिथ्य की प्रशंसा की थी। वशिष्ठ मुनि को शीतल जल प्रदान करने के कारण उन्हें उनसे वर प्राप्त हुआ, जिस से वे स्वर्गलोक गये। वे ऋषियों को फल, कन्द तथा पत्तियाँ पहुँचाया करते

थे, जिससे इच्छापूर्ति होने के कारण वे आशिष दिया करते थे। *यद्यपि वे जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु उन्होंने अपने जीवन में कभी भी मांस भक्षण नहीं किया।* उन्होंने वशिष्ठ मुनि का विशेष आतिथ्य किया और उनके आशीर्वाद से ही उन्हें स्वर्गलाभ हुआ। वे उन राजाओं में से हैं, जिनका स्मरण हर प्रात: तथा संध्या समय किया जाता है।

ययाति—ये विश्व के महान् सम्राट और आर्य तथा भारोपीय कुल से सम्बन्धित समस्त महान् राष्ट्रों के आदि पूर्वज थे। ये महाराज नहुष के पुत्र थे और अपने बड़े भाई के मुक्त योगी हो जाने पर विश्व के सम्राट बने थे। उन्होंने कई हजार वर्षों तक राज्य किया और अनेक यज्ञ तथा पुण्यकार्य किये जिनका इतिहास साक्षी है, यद्यपि उनका प्रारम्भिक यौवन अत्यन्त वासनामय तथा प्रेमपूर्ण कहानियों से भरा पड़ा था। वे देवयानी के प्रेमपाश में फँस गये, जो शुक्राचार्य की सर्वाधिक प्रिय पुत्री थी। देवयानी उनसे विवाह करना चाहती थी, किन्तु ब्राह्मण की पुत्री होने के कारण, ययाति ने पहले उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। शास्त्रों के अनुसार केवल एक ब्राह्मण ही ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। वे विश्व में *वर्ण-संकर* जनसंख्या के प्रति विशेष सतर्क रहते थे। लेकिन शुक्राचार्य ने वर्जित विवाह के इस नियम को संशोधित करके राजा ययाति से देवयानी को स्वीकार करने के लिए आग्रह किया। देवयानी की एक सखी शर्मिष्ठा थी, वह भी राजा से प्रेम करने लगी थी। अतएव वह अपनी सखी देवयानी के साथ ससुराल गई। शुक्राचार्य ने सम्राट ययाति को मना किया कि वह शर्मिष्ठा को अपने शयन-कक्ष में न बुलाए, लेकिन ययाति उनके आदेशों का दृढ़ता से पालन न कर सके। उन्होंने चुपके से शर्मिष्ठा से भी विवाह कर लिया, जिससे उनके कई पुत्र हुए। जब इसका पता देवयानी को चला, तो वह अपने पिता के पास गई और शिकायत की। ययाति देवयानी के प्रति अत्यन्त आसक्त थे। अतएव जब वे उसे बुलाने अपने श्वसुर के घर गये, तो शुक्राचार्य ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया कि वह नपुंसक हो जाये। ययाति ने अपने श्वसुर से विनती की कि वे शाप को वापस ले लें। लेकिन मुनि ने ययाति को यौवन लौटाने की शर्त के तौर पर उनसे कहा कि वे अपने पुत्रों का यौवन लेकर, उन्हें वृद्ध एवं नपुंसक हो जाने दें। उनके पाँच पुत्र थे, जिनमें से दो देवयानी से प्राप्त हुए थे और तीन शर्मिष्ठा से। उनके पाँच पुत्रों (१) यदु, (२) तुर्वसु, (३) द्रुह्यु, (४) अनु तथा (५) पुरु से, क्रमश: पाँच विख्यात वंशों का उद्भव हुआ—(१) यदुवंश, (२) यवन (तुर्क) वंश (३) भोजवंश, (४) म्लेच्छ

वंश (ग्रीक) तथा (५) पौरव। ये सारे वंश विश्व भर में फैल गये। वे अपने पुण्यकर्मों से स्वर्गलोक पहुँच गये, लेकिन आत्म-प्रशंसा तथा अन्य महात्माओं की आलोचना करने के कारण उन्हें वहाँ से नीचे गिरना पड़ा। उनके पतन के बाद, उनकी कन्या तथा पौत्र ने उन्हें अपने सारे संचित पुण्य प्रदान किये और वे अपने पौत्र तथा अपने मित्र शिबि की सहायता से पुनः स्वर्गलोक में पहुँच सके, जहाँ वे यमराज की सभा के सदस्य बने और भक्त के रूप में वहीं रहते रहे। उन्होंने एक हजार से अधिक यज्ञ किये और मुक्तहस्त दान दिया। वे अत्यन्त प्रभावशाली राजा थे। सारे विश्व में उनका दबदबा था। जब वे कामवासना से एक हजार वर्षों तक अत्यधिक पीड़ित रहे, तो उनके सबसे छोटे पुत्र ने उन्हें अपना यौवन अर्पित किया। अन्ततः, वे सांसारिक जीवन से विरक्त हो गये और उन्होंने अपने पुत्र पुरु को उसका यौवन लौटा दिया। उन्होंने पुरु को राज्य भी सौंपना चाहा, लेकिन उनके दरबारी तथा प्रजागण इसके लिए राजी न हुए। किन्तु जब उन्होंने उनसे राजा पुरु की महानता का बखान किया, तो वे उसे राजा स्वीकार करने के लिए राजी हो गये और इस तरह सम्राट ययाति गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर गृहत्याग कर, वन चले गये।

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः ।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धृत्या—धैर्य से; बलि-समः—बलि महाराज के समान; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के प्रति; प्रह्लाद—प्रह्लाद महाराज; इव—सदृश; सत्-ग्रहः—भक्त; आहर्ता—सम्पन्न करनेवाला; एषः—यह बालक; अश्वमेधानाम्—अश्वमेध यज्ञों का; वृद्धानाम्—वृद्ध तथा अनुभवी व्यक्तियों का; पर्युपासकः—अनुयायी।

यह बालक धैर्य में बलि महाराज के समान होगा और प्रह्लाद महाराज के समान कृष्ण का अनन्य भक्त, यह अनेक अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न करनेवाला तथा वृद्ध एवं अनुभवी व्यक्तियों का अनुयायी होगा।

तात्पर्य : *बलि महाराज*—ये भगवान् की भक्ति के बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। ये भक्ति के अधिकारी (महान्) इसलिए बने, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए इन्होंने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था और अपने तथाकथित गुरु से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, क्योंकि गुरु ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व न्यौछावर करने में बाधा उत्पन्न की थी। धार्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि,

बिना किसी कारण के या किसी प्रकार के सांसारिक व्यवधान के, भगवद्भक्ति की अहैतुकी अवस्था प्राप्त करना है। बलि महाराज भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व त्याग देने के लिए कृतसंकल्प थे और उन्होंने किसी प्रकार की अड़चन की परवाह नहीं की। ये भक्ति के अन्य प्रामाणिक अधिकारी (महाजन) प्रह्लाद महाराज के पौत्र थे। बलि महाराज तथा विष्णु वामनदेव के साथ उनके व्यवहार की कथा *श्रीमद्भागवत* के आठवें स्कंध (अध्याय ११-२४) में वर्णित है।

प्रह्लाद महाराज—वे भगवान् कृष्ण (विष्णु) के परम भक्त थे। अभी वे केवल पाँच वर्ष के ही थे कि उनके पिता हिरण्यकशिपु ने भगवान् का अनन्य भक्त होने के लिए उन्हें कठोर दण्ड दिया। वे हिरण्यकशिपु के प्रथम पुत्र थे और उनकी माता का नाम कयाधु था। प्रह्लाद महाराज महाभागवत थे, क्योंकि उनके पिता का वध भगवान् नृसिंहदेव ने किया था। इससे यह दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ था कि यदि भक्ति मार्ग में पिता बाधक बने, तो उसे भी भक्ति के पथ से दूर कर देना चाहिए। उनके चार पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र, विरोचन के पुत्र-रूप में, बलि महाराज हुए जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कंध में मिलता है।

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राज-ऋषीणाम्—ऋषि तुल्य राजाओं का; **जनयिता**—उत्पन्न करनेवाला; **शास्ता**—दण्ड देनेवाला; **च**—तथा; **उत्पथ-गामिनाम्**—मर्यादा उल्लंघन करनेवालों का; **निग्रहीता**—दमनकर्ता; **कलेः**—उपद्रव करनेवालों का; **एषः**—यह; **भुवः**—संसार को; **धर्मस्य**—धर्म के; **कारणात्**—कारण से।

यह बालक ऋषि तुल्य राजाओं का पिता होगा। विश्व-शान्ति तथा धर्म के निमित्त यह मर्यादा तोड़नेवालों तथा उपद्रवकारियों को दण्ड देनेवाला होगा।

तात्पर्य : संसार में सबसे विचक्षण व्यक्ति भगवान् का भक्त होता है। ऋषिगण प्रज्ञावान व्यक्ति कहलाते हैं और ज्ञान की विविध शाखाओं के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्रज्ञावान् व्यक्ति होते हैं। अतएव जब तक राजा, या किसी राज्य का अध्यक्ष, सबसे बुद्धिमान व्यक्ति नहीं होता, तब तक वह राज्य के सभी प्रकार के बुद्धिमान व्यक्तियों को वश में नहीं रख सकता। महाराज युधिष्ठिर के कुल की राजसी परम्परा से सारे राजा बिना किसी अपवाद के अपने काल के सर्वाधिक विचक्षण व्यक्ति थे और

ऐसी ही भविष्यवाणी महाराज परीक्षित तथा उनके होनेवाले पुत्र महाराज जनमेजय के विषय में की जा रही थी। ऐसे प्रज्ञावान राजा ही मर्यादा तोड़नेवालों को दण्ड देनेवाले तथा कलि अर्थात् या झगड़ालू तत्त्वों के विच्छेदक बन सकते हैं। जैसाकि अगले अध्यायों से स्पष्ट हो जायेगा, महाराज परीक्षित मूर्तिमंत कलि का वध करना चाहते थे, क्योंकि वह शान्ति तथा धर्म की प्रतीक गाय को मारने का प्रयत्न कर रहा था। कलि के लक्षण हैं—(१) सुरा, (२) स्त्रियाँ, (३) द्यूत क्रीड़ा तथा (४) कसाई घर। समस्त राज्यों के बुद्धिमान शासकों को चाहिए कि वे महाराज परीक्षित से शिक्षा ग्रहण करें कि किस तरह उन मर्यादा भंग करनेवालों का तथा उपद्रव करनेवालों का दमन करके शान्ति तथा नैतिकता स्थिर रखी जाती है, जो सुरा, सुन्दरी, द्यूत क्रीड़ा तथा नियमित रूप से चलाये जा रहे कसाईघरों से मिलनेवाले मांस का सेवन करते हैं। इस कलियुग में कलह उत्पन्न करने वाले इन विभिन्न विभागों को चालू रखने के लिए लाइसेंस दिये जाते हैं। तो ऐसे राज्य में शान्ति तथा नैतिकता की आशा किस तरह की जा सकती है? अतएव राज्य के जनकों को भगवान् की भक्ति द्वारा, अनुशासन को भंग करनेवालों को दण्ड देकर तथा कलह के लक्षणों का उन्मूलन करके चतुर बनने के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। यदि हम प्रज्ज्वलित अग्नि चाहते हैं, तो सूखे ईंधन का प्रयोग करना पड़ेगा, क्योंकि प्रज्ज्वलित अग्नि तथा गीले ईंधन का मेल नहीं होता। शान्ति तथा नैतिकता वहीं फल-फूल सकती हैं, जहाँ महाराज परीक्षित तथा उनके अनुयायियों के सिद्धान्तों का पालन होता हो।

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तक्षकात्—तक्षक नागराज द्वारा; आत्मनः—अपनी; मृत्युम्—मृत्यु को; द्विज-पुत्र—ब्राह्मण पुत्र द्वारा; उपसर्जितात्—भेजा गया; प्रपत्स्यते—शरण ग्रहण करने पर; उपश्रुत्य—सुनकर; मुक्त-सङ्गः—समस्त आसक्ति से मुक्त; पदम्—पद; हरेः—भगवान् का।

वह ब्राह्मण पुत्र के द्वारा भेजे गये तक्षक नाग के डसने से अपनी मृत्यु होने की बात सुनकर समस्त भौतिक आसक्ति से अपने आपको मुक्त करके, भगवान् को आत्म-समर्पण करके उन्हीं की शरण ग्रहण करेगा।

तात्पर्य : भौतिक आसक्ति तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने में कोई मेल नहीं है। भौतिक आसक्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में दिव्य सुख के प्रति अज्ञान। इस संसार में रहते हुए, भगवान् की भक्तिमय सेवा भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अभ्यास करने का साधन है और जब यह परिपक्व हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है और भगवाद्धाम वापस जाने के लिए सक्षम बन जाता है। महाराज परीक्षित, अपनी माता के गर्भ में शरीर धारण करते हुए ही भगवान् के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हो चुके थे और निरन्तर भगवान् की शरण में रह रहे थे। ब्राह्मण पुत्र द्वारा दिये गये शाप के सात दिन के भीतर ही अपनी मृत्यु की तथाकथित चेतावनी उनके लिए वरदान थी, क्योंकि इससे वे भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी कर सकते थे। चूँकि वे भगवान् द्वारा सदा ही रक्षित थे, अतएव यदि वे चाहते तो भगवत्कृपा से इस शाप के प्रभाव से बच सकते थे। लेकिन उन्होंने बिना किसी कारण के भगवत्कृपा का अनुपयुक्त लाभ उठाना पसन्द नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इस नुकसान के सौदे का सर्वोत्तम लाभ उठाया। उन्होंने लगातार सात दिनों तक उपयुक्त पात्र से *श्रीमद्भागवत* सुना और इस तरह वे भगवान् के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त कर सके।

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासित—जिज्ञासा करते हुए; आत्म-याथार्थ्यः—आत्मा का सही ज्ञान; मुनेः—विद्वान, दार्शनिक; व्यास-सुतात्—व्यास के पुत्र से; असौ—वह; हित्वा—त्यागकर; इदम्—इस भौतिक आसक्ति को; नृप—हे राजा; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; यास्यति—जाएगा; अद्धा—सीधे; अकुतः-भयम्—निर्भय जीवन।.

व्यासेदव के महान् दार्शनिक पुत्र से समुचित आत्म-ज्ञान के विषय में जिज्ञासा करने पर वह सारी भौतिक आसक्ति का परित्याग करेगा और निर्भय जीवन प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : भौतिक ज्ञान का अर्थ है, आत्म-ज्ञान से अनभिज्ञता। दर्शन का अर्थ है सही आत्म-ज्ञान की खोज करना, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान। आत्म-साक्षात्कार के बिना का दर्शन मात्र शुष्क चिन्तन या समय तथा शक्ति का अपव्यय मात्र है। *श्रीमद्भागवत* वास्तविक आत्मज्ञान देता है और *श्रीमद्भागवत* सुनकर मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निर्भयता के साम्राज्य (अभयपद) में

प्रवेश कर सकता है। यह भौतिक जगत भय-प्रद है। इसके बन्दी सदैव इस तरह भयभीत रहते हैं मानो बन्दीगृह के भीतर हों। बन्दीगृह का कोई भी व्यक्ति बन्दीगृह के विधि-विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि करता है, तो उसका अर्थ है बन्दी-जीवन की एक और कालावधि का विस्तार। इसी प्रकार हम इस भौतिक जगत में हम सदा भयभीत बने रहते हैं। यह भयातुरता चिन्ता कहलाती है। भौतिक जीवन में समस्त योनियों में हर कोई या तो प्रकृति के नियमों को तोड़ने से या तोड़े बिना भी, चिन्ताग्रस्त रहता है। *मुक्ति* का अर्थ है इन अनवरत स्थायी चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करना। यह तभी सम्भव है, जब चिन्ता को भगवद्-भक्ति में परिणत कर दिया जाय। *श्रीमद्भागवत* हमें अवसर प्रदान करता है कि हम चिन्ता के गुण को पदार्थ से अध्यात्म में बदल दें। ऐसा विद्वान दार्शनिकों की संगति से, जैसे कि श्रीव्यासदेव के महान् पुत्र, स्वरूपसिद्ध शुकदेव गोस्वामी की संगति से सम्भव है। महाराज परीक्षित ने अपनी मृत्यु की चेतावनी मिलने के बाद इस अवसर का लाभ शुकदेव गोस्वामी की संगति करके उठाया और वांछित फल प्राप्त किया।

व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा *श्रीमद्भागवत* के इस तरह से वाचन तथा श्रवण का अनुकरण किया जाता है और मूर्ख श्रोता सोचते हैं कि वे भौतिक आसक्ति के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करके अभय-पद का जीवन प्राप्त कर सकेंगे। *श्रीमद्भागवत* का ऐसा अनुकरणात्मक श्रवण उपहासास्पद होता है और मनुष्य को ऐसे मसखरे लालची लोगों द्वारा भौतिक भोग को बनाये रखने के लिए सम्पन्न किये जानेवाले *भागवतम्* सप्ताह के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; राज्ञे—राजा को; उपादिश्य—उपदेश देकर; विप्राः—वेदों में पारगंत व्यक्ति; जातक-कोविदाः—फलित ज्योतिष में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु व्यक्ति; लब्ध-अपचितयः—जिन्हें पारिश्रमिक के रूप में प्रचुर राशि प्राप्त हो चुकी थी; सर्वे—वे सब; प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; स्वकान्—अपने-अपने; गृहान्—घरों को।

इस प्रकार जो लोग ज्योतिष ज्ञान में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु थे, उन्होंने इस बालक के भविष्य के विषय में राजा युधिष्ठिर को उपदेश दिया। फिर प्रचुर दक्षिणा प्राप्त करके, वे अपने घरों को लौट गये।

तात्पर्य : वेद भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार से ज्ञान के आगार हैं। किन्तु ऐसे ज्ञान का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में, सभ्य मनुष्यों के लिए वेद सभी प्रकार से मार्गदर्शक हैं। चूँकि मानव जीवन समस्त प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाने का सुअवसर है, अतएव वेदों के ज्ञान द्वारा इसका समुचित ढंग से पथ-प्रदर्शन होता है—चाहे वह भौतिक आवश्यकताएँ हों या आध्यात्मिक मोक्ष। मनुष्यों का ऐसा विशेष वर्ग, जो वेदों के ज्ञान में समर्पित होकर लगा रहता था, विप्र अर्थात् वैदिक ज्ञान का स्नातक कहलाता था। वेदों में ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैं, जिनमें से ज्योतिष तथा आयुर्वेद दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं, जो सामान्य जन के लिए आवश्यक हैं। अतएव, बुद्धिमान लोग, जिन्हें सामान्यतया ब्राह्मण कहा जाता है, वैदिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में पारंगत होकर समाज का मार्गदर्शन करते थे। यहाँ तक कि ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति धनुर्वेद में भी पारंगत होते थे। और विप्रगण ज्ञान के इस अनुभाग के भी शिक्षक होते थे, यथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य इत्यादि हुए हैं।

यहाँ पर वर्णित *विप्र* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *विप्रों* तथा *ब्राह्मणों* में थोड़ा अन्तर होता है। विप्रगण वे हैं जो कर्मकाण्ड में दक्ष होते हैं, जो समाज का मार्गदर्शन करके जीवन की भौतिक आवश्कताओं की पूर्ति करते थे, जबकि ब्राह्मण लोग दिव्यता के आध्यात्मिक ज्ञान में पटु होते हैं। ज्ञान का यह विभाग ज्ञान-काण्ड कहलाता है और इससे भी ऊपर उपासना-काण्ड होता है। उपासना-काण्ड का चरम परिणति भगवान् विष्णु की भक्तिमय सेवा में होती है और जब ब्राह्मण सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तो वे वैष्णव कहलाते हैं। पूजा की विधियों में विष्णु-पूजा सर्वोच्च विधि है। समुन्नत ब्राह्मण वैष्णव होते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत,* जो भक्ति का विज्ञान है, वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में बताया जा चुका है, यह वैदिक ज्ञान का परिपक्व फल है और उपरोक्त तीनों काण्डों अर्थात् कर्म, ज्ञान तथा उपासना काण्डों से कहीं अधिक श्रेष्ठ विषय है।

कर्मकाण्ड के पण्डितों में से जातक कर्म में पटु विप्र अच्छे ज्योतिषी होते थे, जो नवजात शिशु के भविष्य को केवल समय (लग्न) की गणना से बता देते थे। महाराज परीक्षित के जन्मकाल के समय ऐसे पटु जातक विप्र विद्यमान थे और उनके पितामह, महाराज युधिष्ठिर ने इन विप्रों को पर्याप्त सोना, भूमि, गाँव, अन्न तथा गाय समेत अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेंट कीं। सामाजिक संरचना में ऐसे विप्रों की

आवश्यकता है और राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे लोगों का अच्छी तरह पालन करे, जैसाकि वैदिक पद्धति में विधान है। ऐसे पटु विप्र, राज्य द्वारा पर्याप्त धन दिए जाने पर, सामान्य लोगों की निःशुल्क सेवा कर सकते हैं और इस तरह वैदिक ज्ञान का यह विभाग सबों के लिए सुलभ हो सकता है।

स एष लोके विख्यात: परीक्षिदिति यत्प्रभु: ।
पूर्वं दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—इस; लोके—संसार में; विख्यातः—प्रसिद्ध; परीक्षित्—परीक्षा लेने वाला; इति—इस प्रकार; यत्—जो; प्रभुः—हे राजा; पूर्वम्—पहले; दृष्टम्—देखा जा चुका; अनुध्यायन्—निरन्तर विचारा जाकर; परीक्षेत—परीक्षा लेगा; नरेषु—प्रत्येक व्यक्ति की; इह—यहाँ।.

इस तरह यह पुत्र संसार में परीक्षित (परीक्षक) नाम से विख्यात होगा, क्योंकि यह उन व्यक्ति की खोज करने के लिए सारे मनुष्यों का परीक्षण करेगा, जिन्हें इसने अपने जन्म के पूर्व देखा है। इस तरह यह निरन्तर उनका (भगवान् का) चिन्तन करता रहेगा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे, क्योंकि माता के गर्भ में रहते हुए ही उन पर भगवान् की छाप पड़ चुकी थी, अतएव वे निरन्तर भगवान् का चिन्तन किया करते थे। एक बार यदि भगवान् के दिव्य रूप की छाप किसी के मन में स्थित हो जाय, तो वह भगवान् को भुलाये नहीं भूल सकता। बालक परीक्षित गर्भ से बाहर आने के बाद, प्रत्येक व्यक्ति की परीक्षा यह देखने के लिए करता रहता था कि कहीं यह वही व्यक्ति तो नहीं हैं, जिसे उसने गर्भ में सर्वप्रथम देखा था। लेकिन भगवान् के समान या उनसे बढ़कर आकर्षक कोई नहीं हो सकता, अतएव वह बालक किसी को स्वीकार नहीं कर सका। लेकिन ऐसी परीक्षा के द्वारा भगवान् निरन्तर उसके साथ रहे और इस तरह स्मरण के द्वारा, महाराज परीक्षित भगवान् की भक्ति में सदैव लगे रहते।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यदि प्रत्येक बालक पर बचपन से ही भगवान् की छाप पड़ जाय, तो वह निश्चित रूप से महाराज परीक्षित की ही भाँति भगवद्भक्त बन सकता है। भले ही कोई महाराज परीक्षित की तरह इतना भाग्यशाली न हो कि उसे माता के गर्भ में ही भगवान् के दर्शन हो लें, लेकिन यदि बालक के माता-पिता चाहें, तो वह ऐसा बन सकता है। इस प्रसंग में मैं अपना व्यावहारिक उदाहरण दे सकता हूँ। मेरे पिता भगवान् के शुद्ध भक्त थे और जब मैं चार-पाँच

वर्ष का था, तो मेरे पिता ने मुझे राधा–कृष्ण की एक युगल मूर्ति प्रदान की थी। मैं खेल–खेल में, अपनी बहन के साथ इन विग्रहों की पूजा किया करता था और मैं निकट के राधा–गोविन्द मन्दिर की पूजाविधि का अनुकरण किया करता था। निरन्तर इस मन्दिर में जाकर तथा वहाँ होनेवाले उत्सवों का अपने खेल के विग्रहों के साथ अनुकरण करके मैंने भगवान् के प्रति सहज आकर्षण विकसित कर लिया। मेरे पिता मेरी स्थिति के अनुरूप इन उत्सवों का अवलोकन करते थे। बाद में स्कूल तथा कालेज जाने के कारण, मेरे ये कार्यकलाप ठप्प हो गये और मेरा अभ्यास छूट गया। किन्तु अपनी युवावस्था में, जब मैं अपने गुरु श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज से मिला, तो मेरी पुरानी अभिरुचि फिर से जागृत हो उठी और वही खेल की मूर्तियाँ मेरे आराध्य अर्चा–विग्रह बन गईं। यह तब तक चलता रहा, जब तक मैंने पारिवारिक सम्बन्ध नहीं तोड़ लिये और मुझे प्रसन्नता है कि मेरे पिता ने मुझ पर जो पहली छाप छोड़ी, वह गुरू की कृपा से बाद में भक्ति में विकसित हो सकी। महाराज प्रह्लाद ने भी यही उपदेश दिया है कि इस प्रकार ईश्वरी छाप बाल्यपन के प्रारम्भ में ही पड़ जानी चाहिए। अन्यथा जीव मनुष्य जीवन रूपी सुअवसर को खो सकता है, जो अन्य रूपों की भाँति नश्वर होते हुए भी अत्यन्त मूल्यवान है।

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः ।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; ववृधे—बड़ा हो गया; आशु—जल्दी ही; शुक्ले—शुक्लपक्ष; इव—सदृश; उडुपः—चन्द्रमा; आपूर्यमाणः—विलासपूर्ण; पितृभिः—पिता जैसे संरक्षकों द्वारा; काष्ठाभिः—पूर्ण विकास; इव—सदृश; सः—वह; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन।

जिस तरह शुक्लपक्ष में चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, उसी तरह यह राजकुमार (परीक्षित) शीघ्र ही अपने संरक्षक पितामहों की देख-रेख तथा सुख-सुविधाओं के बीच तेजी से विकास करने लगा।

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।
राजा लब्धधनो दध्यौ नान्यत्र करदण्डयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यमाणः—सम्पन्न करने की इच्छा करते हुए; अश्वमेधेन—अश्वमेध उत्सव द्वारा; ज्ञाति-द्रोह—स्वजनों से युद्ध; जिहासया—मुक्त होने के लिए; राजा—राजा युधिष्ठिर; लब्ध-धनः—कुछ धन प्राप्त करने के लिए; दध्यौ—विचार किया; न अन्यत्र—अन्यथा नहीं; कर-दण्डयोः—लगान तथा जुर्माना।

इसी समय राजा युधिष्ठिर स्वजनों से युद्ध करने के कारण किए गए पापों से मुक्ति पाने के लिए अश्वमेध यज्ञ करने पर विचार कर रहे थे। लेकिन उन्हें कुछ धन प्राप्त करने की चिन्ता सवार थी, क्योंकि लगान तथा जुर्माने से एकत्र कोष के अतिरिक्त और कोई धन-संग्रह न था।

तात्पर्य : जिस तरह ब्राह्मणों तथा विप्रों को राज्य की तरफ से कुछ आर्थिक सहायता का अधिकार मिला हुआ था, उसी तरह राज्य के कार्यकारी अध्यक्ष को अधिकार था कि वह नागरिकों से कर तथा जुर्माने एकत्र करे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् राजकोष खाली हो चुका था, अतएव कर तथा जुर्माना-संग्रह के अलावा कोई अतिरिक्त निधि नहीं थी। ऐसा कोष केवल राज्य-व्ययों के लिए ही पर्याप्त था तथा और कोई निधि न होने से राजा चिन्तित थे कि किसी अन्य विधि से वे अधिक धन प्राप्त करे, जिससे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो सके। महाराज युधिष्ठिर इस यज्ञ को भीष्मदेव के आदेशानुसार सम्पन्न करना चाह रहे थे।

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, अभिप्राय; आलक्ष्य—देखकर; भ्रातरः—अपने भाई; अच्युत—अच्युत, (भगवान् श्रीकृष्ण); चोदिताः—प्रेरणा पाकर; धनम्—धन; प्रहीणम्—एकत्र करके; आजह्रुः—ले आया; उदीच्याम्—उत्तरी; दिशि—दिशा; भूरिशः—प्रचुर।

राजा की हार्दिक इच्छाओं को जानकर, उसके भाइयों ने अच्युत भगवान् कृष्ण की प्रेरणानुसार, उत्तर दिशा से (राजा मरुत्त द्वारा छोड़ा गया) प्रचुर धन एकत्र किया।

तात्पर्य : *महाराज मरुत्त*—ये विश्व के एक महान् सम्राट थे। इन्होंने महाराज युधिष्ठिर से काफी पहले संसार पर राज्य किया था। ये महाराज अविक्षित के पुत्र थे और सूर्यदेव के यमराज नामक पुत्र के महान् भक्त थे। इनका भाई संवर्त, देवताओं के विद्वान पुरोहित वृहस्पति का प्रतिद्वन्द्वी पुरोहित था। उसने शंकर-यज्ञ का संचालन किया जिससे भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे स्वर्ण के पर्वत-

श्रृंग का अधिकारी बना दिया। यह स्वर्ण–शंगृ हिमालय पर्वत में कहीं पर है और आधुनिक साहसिक यात्री इसकी खोज कर सकते हैं। यह सम्राट इतना शक्तिशाली था कि प्रतिदिन यज्ञ समाप्त होने के बाद, इन्द्र, चन्द्र तथा बृहस्पति लोकों के देवता उसके महल में आया करते थे। चूँकि उसके अधिकार में स्वर्ण–शंगृ था, अतएव उसके पास प्रचुर सोना था। उसके यज्ञ की वेदी का मण्डप पूर्णतया सोने से बनाया गया था। नित्य किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानों में, वायुलोक के कुछ निवासियों को रसोई बनाने के काम जल्दी करने के लिए आमंत्रित किया जाता था तथा देवों की सभा का नेतृत्व विश्वदेव करते थे।

अपने निरन्तर पुण्यकर्मों से वे अपने राज्य से समस्त प्रकार की व्यधियों को दूर रखने में समर्थ हुए थे। उनके महान् याज्ञिक उत्सवों से देवलोक तथा पितृलोक के सारे निवासी प्रसन्न थे। वे प्रतिदिन विद्वान ब्राह्मणों को शय्या, आसन, वाहन तथा प्रचुर सोना दान में देते रहते थे। अपने मुक्तहस्त दान तथा असंख्य यज्ञ सम्पन्न करने के कारण, स्वर्ग के राजा इन्द्रदेव उन पर अत्यधिक प्रसन्न थे और सदा उनकी मंगल कामना करते थे। अपने पुण्यकर्मों के कारण, वे आजीवन युवक बने रहे और अपनी सन्तुष्ट प्रजा, मंत्रियों, वैध पत्नी, पुत्रों तथा भाइयों के साथ रहकर, उन्होंने एक हजार वर्षों तक राज्य किया। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उनके पुण्यकर्मों की प्रशंसा की है। उन्होंने अपनी एकमात्र पुत्री का विवाह महर्षि अंगिरा से कर दिया था और उनके आशीर्वाद से वे स्वर्गलोक का भागी बने। पहले तो वे यज्ञों का पौरोहित्य विद्वान बृहस्पति को देना चाहते थे, लेकिन बृहस्पति ने इस पद को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि राजा इसी धरती का एक मर्त्य प्राणी होता था। इससे वे अत्यन्त दुखी हुए, लेकिन नारद मुनि के कहने पर, उन्होंने संवर्त को इस पद पर नियुक्त किया और अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

किसी विशेष यज्ञ की सफलता इसके प्रभारी पुरोहित पर निर्भर करती है। इस युग में सभी प्रकार के यज्ञ वर्जित हैं, क्योंकि तथाकथित ब्राह्मणों में कोई ऐसा विद्वान पुरोहित नहीं है। वे बिना किसी योग्यता के ही, ब्राह्मण पुत्र होने से ब्राह्मण बन जाते हैं। अतएव इस कलियुग में केवल एक प्रकार के यज्ञ की संस्तुति की गई है, वह है *सङ्कीर्तन यज्ञ* जिसका उद्घाटन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ था।

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तेन—उस धन से; सम्भृत—एकत्रित; सम्भारः—सामग्री, घटक; धर्म-पुत्रः—पवित्र राजा; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; वाजिमेधैः—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन बार; भीतः—कुरुक्षेत्र युद्ध से अत्यधिक भयभीत; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; समयजत्—ठीक से पूजा की; हरिम्—भगवान् की।

उस धन से राजा तीन अश्वमेध यज्ञों के लिए सामग्री उपलब्ध कर सके। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अत्यन्त भयभीत पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार भगवान् हरि को प्रसन्न किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर विश्व के आदर्श एवं विख्यात पुण्यात्मा राजा थे, फिर भी वे कुरुक्षेत्र युद्ध के समापन पर अत्यधिक भयभीत थे, क्योंकि इस युद्ध में में बड़ी मात्रा में नर-संहार हुआ था और यह सब उन्हें सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए किया गया था। अतएव युद्ध में होनेवाले सारे पापों का उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और इन पापों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ करने चाहे, जिसमें घोड़े की बलि दी जाती है। ऐसे यज्ञ काफी महँगे पड़ते हैं। इसके लिए महाराज युधिष्ठिर को भी महाराज मरुत्त का सोना तथा उनके द्वारा ब्राह्मणों को दिया गया सोना लाना पड़ा। चूँकि विद्वान ब्राह्मण महाराज मरुत्त द्वारा दान दिया गया सारा सोना अपने साथ नहीं ले जा सके थे, अतएव दान में प्राप्त बहुत सा सोना वे वहीं छोड़ गए थे। महाराज मरुत्त भी इस तरह दान दिये गए सोने को फिर से संग्रह नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ में काम आनेवाले सारे स्वर्ण की थालियाँ तथा पात्र कूड़े में फेंक दिये गए थे और यह सोना तब तक बिना किसी के स्वामीत्व का पड़ा रहा, जब तक महाराज युधिष्ठिर ने अपने काम के लिए उसे एकत्र नहीं कर लिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के भाइयों को सलाह दी कि वे बिना किसी के स्वामीत्व के सोने को ले आयें, क्योंकि यह सोना राजा का था। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि राज्य की प्रजा ने ऐसे अनधिकृत सोने को एकत्र करके किसी उद्योग अथवा ऐसे ही किसी उद्यम में नहीं लगाया। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य की प्रजा अपनी सभी आवश्यकताओं में अत्यन्त सन्तुष्ट थी, अतएव इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ का उद्योग नहीं चलाना चाहती थी। महाराज युधिष्ठिर ने यह स्वर्ण राशि यज्ञ सम्पन्न करने तथा भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए मँगवाई, अन्यथा राजकोष के लिए संग्रह करने की उनमें कोई आकांक्षा न थी।

हमें चाहिए कि महाराज युधिष्ठिर के कर्मों से शिक्षा ग्रहण करें। वे युद्धस्थल में घटित पापों से भयातुर थे, अतएव वे परम पुरुष को प्रसन्न करना चाह रहे थे। इससे संकेत मिलता है कि हमारे दैनिक कार्यकलापों में अनायास पाप होते रहते हैं और ऐसे अनचाहे पापों के प्रायश्चित्त के लिए, शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं (*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*) कि समस्त अवैध कर्म करने या अनिच्छित अपराधों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। ऐसा करने से वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाएगा। किन्तु जो ऐसा नहीं करते हैं और स्वार्थ अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करते हैं, उन्हें अपने द्वारा किये गये पापों का कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव यज्ञ करने का मुख्य प्रयोजन परम पुरुष हरि को प्रसन्न करना है। यज्ञ की विधियाँ देश, काल तथा व्यक्ति के अनुसार बदल सकती हैं, किन्तु यज्ञों का उद्देश्य सभी काल में तथा सभी परिस्थितियों में एक ही रहता है और वह है परमेश्वर हरि की तुष्टि। पुण्यमय जीवन की यही रीति है और यही संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता लाने की विधि है। महाराज युधिष्ठिर ने संसार के आदर्श पुण्यात्मा राजा के रूप में यह सब किया।

यदि महाराज युधिष्ठिर अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने में, राज्य कार्यों के संचालन में, जहाँ मनुष्य तथा पशुओं के वध को मानी हुई कला समझा जाता है, पाप कर बैठते तो जरा अनुमान करें कि कलियुग की अप्रशिक्षित जनता जाने तथा अनजाने में कितना पाप करती होगी, जिनके पास भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने का कोई साधन भी नहीं है। अतः *भागवत* का कथन है कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य यह है कि अपने वृत्तिपरक कार्यों को सम्पन्न करके परमेश्वर को प्रसन्न करे (भागवत १.२.१३)।

भले ही कोई, किसी भी स्थान या समुदाय, जाति या सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति किसी भी वृत्तिपरक कार्य में क्यों न लगा हो, लेकिन उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार शास्त्रोचित यज्ञ करने चाहिए। वैदिक ग्रंथों में संस्तुति की गई है कि कलियुग में लोग, बिना अपराध के, कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् का गुणगान करें (*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्*)। ऐसा करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम वापस जा कर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। हम इस ग्रंथ में कई स्थानों पर, विशेष रूप से आरम्भ में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का

जीवन–वृत्त प्रस्तुत करते समय, इस विषय में बता चुके हैं और अब भी समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए उसी को दुहरा रहे हैं।

भगवान् ने *भगवद्गीता* में खुलकर घोषणा की है कि वे किस तरह हम पर प्रसन्न होते हैं और वही विधि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन तथा उनके उपदेश–कार्य से प्रदर्शित होती है। भगवान् हरि (परम भगवान् जो हमें संसार के सब कष्टों से मुक्त करते हैं) को जो हमें इस भवबंधन से छुटकारा दिलाते हैं, प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की सम्यक् विधि यही है कि इस कलह तथा विरोध के अंधकारमय युग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के मार्ग का पालन किया जाय।

महाराज युधिष्ठिर को समृद्धि के दिनों में अश्वमेध यज्ञ करने के लिए सामग्री जुटाने हेतु स्वर्ण राशि एकत्र करनी पड़ी थी। अतएव आज के अभावग्रस्त तथा स्वर्ण के सर्वथा अभाव के दिनों में हम ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने की बात नहीं सोच सकते हैं। इस समय हमारे पास कागज का अम्बार है और आधुनिक सभ्यता के आर्थिक विकास द्वारा उसे स्वर्ण में बदलने का वादा किया जाता है। फिर भी हम न तो व्यक्तिगत रूप से, न सामूहिक या राज्य संरक्षण में, महाराज युधिष्ठिर के समान प्रचुर धन खर्च कर सकते हैं। अतएव इस युग के लिए शास्त्र सम्मत तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु द्वारा अनुमोदित विधि ही सर्वथा उपयुक्त है। इस विधि में किसी भी प्रकार का खर्च नहीं होता, फिर भी इससे अन्य व्ययसाध्य यज्ञ विधियों से अधिक लाभ पहुँचता है।

वैदिक विधानों द्वारा सम्पन्न होनेवाले अश्वमेध यज्ञों या गोमेध यज्ञों से यह नहीं समझना चाहिए कि ये पशुओं को मारने की विधियाँ हैं। वास्तव में यज्ञ में बलि किये गये पशु वैदिक मंत्रों के उच्चारण की दिव्य शक्ति से नया जीवन प्राप्त करते थे। समुचित विधि से मंत्र उच्चारण करने की शक्ति सामान्य लोगों की समझ से बाहर है। सारे वेद–मंत्र व्यावहारिक हैं और इसका प्रमाण था, बलि किये गये पशु को नवजीवन का प्राप्त होना।

आधुनिक युग के तथाकथित ब्राह्मणों या पुरोहितों द्वारा इस प्रकार से वैदिक मंत्रों का विधिपूर्वक उच्चारण हो पाना सम्भव नहीं है। द्विज कुलों की अप्रशिक्षित सन्तानें अपने पूर्वजों जैसी नहीं हैं। अतएव उनकी गिनती शूद्रों में अर्थात् एक–जन्मा में की जाती है। ऐसा मनुष्य वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने के लिए अयोग्य होता है, अतएव मूल–मंत्रों का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं होता है।

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन सबों की रक्षा करने के लिए समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए *सङ्कीर्तन* आन्दोलन या यज्ञ का विधान किया था और आधुनिक युग के लोगों के लिए इस निश्चित तथा संस्तुत मार्ग का अनुसरण करने के लिए पुरजोर संस्तुति की गई है।

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आहूतः—बुलाये जाने पर; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; राज्ञा—राजा द्वारा; याजयित्वा—सम्पन्न कराकर; द्विजैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; नृपम्—राजा की ओर से; उवास—निवास किया; कतिचित्—थोड़े; मासान्—महीने; सुहृदाम्—सम्बन्धियों के लिए; प्रिय-काम्यया—प्रसन्नता के लिए।.

महाराज युधिष्ठिर द्वारा यज्ञ में आमंत्रित होकर, भगवान् श्रीकृष्ण ने इस बात का ध्यान रखा कि ये सारे यज्ञ योग्य (द्विज) ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न कराये जाएँ। तत्पश्चात् सम्बन्धियों की प्रसन्नता के लिए, भगवान् वहाँ कुछेक मास रहते रहे।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण को महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ सम्पन्नता का निरीक्षण करने के लिए आमंत्रित किया था और भगवान् ने अपने अग्रज के आदेशों का पालन करने के लिए, विद्वान द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ सम्पन्न कराया। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही कोई यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं बन जाता। उसे समुचित प्रशिक्षण तथा प्रामाणिक आचार्य से दीक्षा ग्रहण करके द्विज बनना होता है। ब्राह्मण कुलों की एकजन्मा सन्तानें शूद्रों के तुल्य होती हैं। अतएव ऐसे *ब्रह्म-बन्धुओं* को किसी ऐसे धार्मिक या वैदिक उत्सव के निमित्त अस्वीकार कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण को यह प्रबन्ध देखना था और चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उन्होंने सफल सम्पन्नता के लिए प्रामाणिक द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों को सम्पन्न कराया।

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः ।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; राज्ञा—राजा द्वारा; अभ्यनुज्ञातः—अनुमति दिये जाने पर; कृष्णया—द्रौपदी से भी; सह—सहित; बन्धुभिः—अन्य सम्बन्धियों के साथ; ययौ—गये; द्वारवतीम्—द्वारका धाम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; स-अर्जुनः—अर्जुन के सहित; यदुभिः—यदुवंश के सदस्यों से; वृतः—घिरे हुए।

हे शौनक, तत्पश्चात् भगवान् ने राजा युधिष्ठिर, द्रौपदी तथा अन्य सम्बन्धियों से विदा लेकर, अर्जुन तथा यदुवंश के अन्य सदस्यों के साथ, द्वारका नगरी के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत ''सम्राट परीक्षित का जन्म'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

धृतराष्ट्र द्वारा गृह-त्याग

सूत उवाच
विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् ।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; विदुरः—विदुर; तीर्थ-यात्रायाम्—विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए; मैत्रेयात्—महर्षि मैत्रेय से; आत्मनः—अपनी, स्व की; गतिम्—गति, गन्तव्य; ज्ञात्वा—जानकर; अगात्—लौट आया; हास्तिनपुरम्—हस्तिनापुर नगरी में; तया—उस ज्ञान से; अवाप्त—प्रचुर लाभ उठाने वाला; विवित्सितः—प्रत्येक ज्ञेय विषय में निष्णात।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तीर्थयात्रा करते हुए विदुर ने महर्षि मैत्रेय से आत्मा की गति का ज्ञान प्राप्त किया और फिर वे हस्तिनापुर लौट आये। वे अपेक्षानुसार इस विषय में पारंगत हो गये।

तात्पर्य : *विदुर— महाभारत* के इतिहास में ये प्रसिद्ध व्यक्तियों में से एक थे। महाराज पाण्डु की माता अम्बिका की दासी के गर्भ से, ये व्यासदेव के द्वारा उत्पन्न हुए थे। वे यमराज के अवतार हैं। मण्डूक मुनि से शाप-ग्रस्त होने के कारण इन्हें शूद्र होना पड़ा। कहानी इस प्रकार है : एक बार राज्य के सिपाहीयों ने कुछ चोर पकड़े, जो मण्डूक मुनि की कुटी में छिपे हुए थे। सिपाहीयों ने चोरों के साथ-साथ जैसे सामान्य रूप से किया जाता है, मण्डूक मुनि को भी बन्दी बना लिया। न्यायाधीश ने

विशेष रूप से मुनि को विशेष रूप से शूली पर चढ़ा कर मार डालने का आदेश दिया। किन्तु जब उन्हें भाला भोंका जाने वाला था, तो इसका समाचार राजा के पास पहुँच गया। अत: उसने तुरन्त ही उनका, महामुनि होने के नाते, वध रोकने का आदेश दिया। राजा ने स्वयं मुनि से अपने व्यक्तियों की गलती के लिए क्षमा माँगी। यह मुनि तुरन्त ही जीवों के भाग्य-विधाता, यमराज के पास पहुँचे। जब मुनि ने उनसे पूछा तो यमराज ने उत्तर दिया कि मुनि ने अपने बचपन में एक तेज नुकीले तिनके से चोंटी को बीध डाला था, इसलिए उसे यह कष्ट उठाना पड़ा। मुनि ने सोचा कि यह यमराज की मूर्खता थी कि उन्हें बचपन के अज्ञान के लिए दण्डित किया गया, अतएव मुनि ने यमराज को शाप दे डाला कि वे शूद्र बन जाये। यमराज का यह शूद्र अवतार विदुर के नाम से विख्यात हुआ, जो धृतराष्ट्र तथा महाराज पाण्डु का शूद्र भ्राता थे। लेकिन भीष्मदेव ने कुरुवंश के इस शूद्र पुत्र के साथ अपने अन्य भतीजों के समान ही व्यवहार किया। कालान्तर में विदुर का विवाह ऐसी कन्या से हुआ, जो एक ब्राह्मण द्वारा शूद्राणी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि विदुर अपने पिता (भीष्मदेव के भाई) की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं हुए, लेकिन विदुर के बड़े भाई धृतराष्ट्र ने उन्हें पर्याप्त राज्य-सम्पत्ति प्रदान की थी। विदुर अपने बड़े भाई के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे और वे उसे निरन्तर सही मार्ग पर ले जाना चाहते थे। कुरुक्षेत्र के भ्रातृ युद्ध के समय विदुर ने बारम्बार अपने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वह पाण्डु-पुत्रों के साथ न्याय बरते, लेकिन दुर्योधन को अपने चाचा की यह दखल पसन्द न थी। अतएव उसने विदुर का अपमान कर दिया था। इसके कारण विदुर घर छोड़कर तीर्थाटन करने तथा मैत्रेय से उपदेश ग्रहण करने चले गये।

यावत: कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रत: ।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यावत:—वह सब; कृतवान्—उन्होंने किये; प्रश्नान्—प्रश्न; क्षत्ता—विदुर का नाम; कौषारव—मैत्रेय का नाम; अग्रत:—की उपस्थिति में; जात—बड़े होकर; एक—एक; भक्ति:—दिव्य प्रेममयी सेव; गोविन्दे—भगवान् कृष्ण की; तेभ्य:—अगले प्रश्नों के सम्बन्ध में; च—तथा; उपरराम—विराम ले लिया; ह—भूतकाल में।.

विविध प्रश्न पूछने के बाद तथा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में स्थिर हो चुकने पर, विदुर ने मैत्रेय मुनि से प्रश्न पूछना बन्द किया।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय मुनि से तब प्रश्न पूछना बन्द किया, जब मैत्रेय ऋषि ने उन्हें आश्वस्त किया कि जीवन का *आश्रय-तत्त्व* तो अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में सुस्थापित होना है, जो गोविन्द हैं अर्थात् जो अपने भक्तों को सभी प्रकार से तुष्ट रखते हैं। बद्धजीव अर्थात् भौतिक अस्तित्व में फँसा हुआ जीव भौतिकतागुणों में अपनी इन्द्रियों को लगाकर सुख की खोज करता है, किन्तु इससे उसे सन्तोष नहीं होता। तब वह अनुभव सिद्ध तात्त्विक तर्क करने की विधि से तथा बौद्धिक करतबों से परम सत्य की खोज में जुट जाता है। किन्तु यदि उसे अन्तिम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, तो वह पुनः भौतिक कार्यकलापों में पतित हो जाता है और अपने आप को विविध परोपकारी तथा परमार्थ कार्य करने में लगा देता है, किन्तु इन सबसे उसे संतोष नहीं मिल पाता। अतः न तो सकाम कर्म और न ही शुष्क दार्शनिक चिन्तन से किसी को सन्तोष मिल सकता है, क्योंकि जीव स्वभावतः परमेश्वर श्रीकृष्ण का सेनातन सेवक है और सारे वैदिक ग्रन्थ इसी चरम लक्ष्य की ओर उसका मार्गदर्शन करते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) द्वारा इस कथन की पुष्टि होती है।

विदुर के समान ही, जिज्ञासु बद्धजीव को, मैत्रेय जैसे प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए और बुद्धिपरक जिज्ञासाओं द्वारा कर्म (सकाम कर्म), ज्ञान (परम सत्य को जानने के लिए दार्शनिक अनुसंधान) और योग (आत्म-साक्षात्कार की योग-विधि) के विषय में प्रत्येक वस्तु को जानने का प्रयास करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गुरु से प्रश्न पूछने के प्रति गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, उसे न तो दिखावटी गुरु करने की आवश्यकता है और न उस व्यक्ति को अन्यों का गुरु होने का दिखावा करना चाहिए, यदि वह अपने शिष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख न कर सके। विदुर मैत्रेय जैसे गुरु के पास पहुँचने में सफल हुए थे और उन्हें जीवन का चरम लक्ष्य—गोविन्द की भक्ति—प्राप्त हो सका। अतः उनके लिए आध्यात्मिक प्रगति के विषय में और कुछ जानना शेष न बचा था।

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः ।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी ।

अन्याश्च जामय: पाण्डोर्ज्ञातय: ससुता: स्त्रिय: ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उस; बन्धुम्—सम्बन्धी को; आगतम्—वहाँ आया हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; धर्म-पुत्र:—युधिष्ठिर ने; सह-अनुज:—अपने छोटे भाइयों के साथ; धृतराष्ट्र:—धृतराष्ट्र; युयुत्सु:—सात्यकि; च—तथा; सूत:—संजय; शारद्वत:—कृपाचार्य; पृथा—कुन्ती; गान्धारी—गान्धारी; द्रौपदी—द्रौपदी; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; सुभद्रा—सुभद्रा; च—तथा; उत्तरा—उत्तरा; कृपी—कृपी; अन्या:—अन्य लोग; च—तथा; जामय:—अन्य परिवारवालों की पत्नियाँ; पाण्डो:—पाण्डुओं की; ज्ञातय:—पारिवारिक सदस्य; स-सुता:—अपने-अपने पुत्रों सहित; स्त्रिय:—स्त्रियाँ।

जब उन्होंने देखा कि विदुर राजमहल लौट आये हैं, तो—महाराज युधिष्ठिर, उनके छोटे भाई, धृतराष्ट्र, सात्यकि, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, कौरवों की अन्य पत्नियाँ तथा अपने-अपने बच्चों के साथ स्त्रियों समेत सारे निवासी—सभी अत्यन्त हर्षित होकर तेजी से उनकी ओर बढ़े। ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने दीर्घकाल के बाद अपनी चेतना फिर से प्राप्त की हो।

तात्पर्य : *गान्धारी*—विश्व के इतिहास की आदर्श सती महिला। ये गान्धार के राजा (अब काबुल का कन्दहार) महाराज सुबल की कन्या थीं। उन्होंने कौमार अवस्था में शिवजी की आराधना की थी। सामान्यतया हिन्दू कुमारिकाएँ उत्तम पति प्राप्त करने के लिए शिवजी की आराधना करती हैं। गान्धारी ने शिवजी को प्रसन्न कर लिया और सौ पुत्र प्राप्त करने का वर प्राप्त करके धृतराष्ट्र से सगाई कर ली, यद्यपि वे जन्मांध थे। जब गान्धारी को पता चला कि उनका होनेवाला पति अन्धा है, तो उन्होंने अपने जीवन-संगी का अनुगमन करने के लिए स्वेच्छा से अन्धा बनने का निश्चय कर लिया। अतएव उन्होंने अपनी आँखों में रेशम की अनेक पट्टियाँ बाँध लीं और वे अपने बड़े भाई शकुनि के मार्गदर्शन में धृतराष्ट्र के साथ ब्याह दी गईं। वे अपने समय की सर्वाधिक सुन्दर कन्या थीं और समान रूप से स्त्री-योचित गुणों से युक्त थीं, जिससे कौरव दरबार का प्रत्येक सदस्य उनसे प्रेम करता था। किन्तु इन सब सद्गुणों के होते हुए भी उनमें स्त्री की सहज दुर्बलताएँ थीं और जब कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया तो ये उसके प्रति ईर्ष्या करने लगीं। यद्यपि दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, किन्तु पहले कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया। इस तरह गान्धारी क्रुद्ध हो गईं और अपने उदर पर प्रहार किया। फलस्वरूप उसने मांस के एक पिण्ड को ही जन्म दिया, लेकिन चूँकि वे व्यासदेव की भक्त थीं, अतएव व्यासदेव की आज्ञा से उस पिण्ड को सौ भागों में विभक्त कर दिया गया और इनमें से प्रत्येक भाग धीरे-धीरे बालक के रूप में विकसित हो गया। इस प्रकार, एक सौ पुत्रों की माता बनने की उनकी मनोकामना पूरी हो गई और वे

उन सबों का अपनी उच्च स्थिति के अनुसार पालन-पोषण करने लगीं। जब कुरुक्षेत्र-युद्ध का षड्यंत्र चल रहा था, तो वे पाण्डवों से युद्ध किये जाने के पक्ष में न थीं, अपितु उन्होंने अपने पति धृतराष्ट्र को ऐसे बन्धुघाती युद्ध के लिए लांछित भी किया। वे चाहती थीं कि राज्य को दो भागों में विभक्त किया जाय और पाण्डु पुत्रों तथा अपने पुत्रों को एक-एक भाग दे दिया जाय। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में उनके सारे पुत्र मारे गये तो वे अत्यन्त शोकमग्न हुईं और वे भीमसेन तथा युधिष्ठिर को शाप देना चाहती थीं, किन्तु व्यासदेव ने उन्हें रोक लिया। भगवान् कृष्ण के समक्ष दुर्योधन तथा दु:शासन की मृत्यु पर उनका विलाप अत्यन्त कारुणिक था और भगवान् कृष्ण ने उन्हें दिव्य संदेश द्वारा सान्त्वना दी। वे कर्ण की मृत्यु से भी उतनी ही दुखी थीं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से कर्ण की पत्नी का विलपना बतलाया। जब श्रील व्यासदेव ने उन्हें उनके मृत पुत्रों को दिखलाया, जिनकी बाद में स्वर्गलोक में उन्नति हुई, तब उन्हें सान्त्वना प्राप्त हुई। वे गंगा के मुहाने के निकट हिमालय के जंगलों में अपने पति के साथ मरीं; वे दावाग्नि में जल मरीं। महाराज युधिष्ठिर ने अपने चाचा तथा चाची का अन्तिम संस्कार किया।

पृथा—ये महाराज शूरसेन की पुत्री तथा भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं। बाद में महाराज कुन्तिभोज ने उन्हें गोद ले लिया था, अतएव वे कुन्ती कहलाईं। वे भगवान् की विजया शक्ति की अवतार थीं। जब उच्चतर ग्रहमंडल से स्वर्ग के निवासी राजा कुन्तीभोज को मिलने के लिए आते थे, तो कुन्ती उनके स्वागत में लगी रहती थीं। उन्होंने महान् योगी दुर्वासा मुनि की भी सेवा की थी। दुर्वासा ने उनकी अच्छी सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें एक मंत्र दिया, जिससे वे मनवांछित देवता का आवाहन कर सकती थीं। उन्होंने उत्सुकतावश तुरन्त ही सूर्यदेव का आवाहन किया, जिन्होंने उनके साथ समागम करना चाहा, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। लेकिन जब सूर्यदेव ने आश्वस्त किया कि इससे उनका कौमार्य भंग नहीं होगा, तो उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। इस समागम के कारण वे गर्भवती हो गईं और उनसे कर्ण का जन्म हुआ। सूर्य की कृपा से वे पुन: कुमारी कन्या में परिणत हो गईं लेकिन माता-पिता के भय से उन्होंने अपने नवजात शिशु, कर्ण का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् जब पति चुनने की बारी आई, तो उन्होंने स्वेच्छा से पाण्डु को पति-रूप में चुना। बाद में महाराज पाण्डु गृहस्थ जीवन त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे, किन्तु कुन्ती ने अपने पति को ऐसा नहीं करने दिया। अन्त में महाराज पाण्डु ने उन्हें अनुमति दे दी कि वे उपयुक्त महापुरुष का

आवाहन करके पुत्र प्राप्त कर सकती हैं। पहले कुन्ती ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब पाण्डु ने अनेक उपयुक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किये, तो वे राजी हो गईं। इस तरह दुर्वासा मुनि द्वारा प्रदत्त मंत्र से उन्होंने धर्मराज का आवाहन किया, जिससे युधिष्ठिर का जन्म हुआ। इसके बाद उन्होंने वायुदेव का आवाहन किया, तो भीम उत्पन्न हुआ। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन करने पर अर्जुन का जन्म हुआ। नकुल तथा सहदेव का जन्म स्वयं पाण्डु ने अश्विनीकुमारों द्वारा माद्री के गर्भ से कराया। बाद में जब महाराज पाण्डु अल्प आयु में ही दिवंगत हो गये, तो कुन्ती इतनी दुखी हुईं कि उन्हें मूर्छा आ गई। तब कुन्ती तथा माद्री दोनों सह-पत्नियों ने यह निश्चय किया कि कुन्ती पाँचों अल्प-वयस्क बालकों, पाण्डवों को पालने के लिए जीवित रहें और माद्री अपने पति के साथ सती हों। वहाँ पर उपस्थित *शतसृङ्ग* तथा अन्य उपस्थित महर्षियों ने इस निर्णय का समर्थन किया।

बाद में जब दुर्योधन के षड्यंत्र से पाण्डवों को राज्य से बाहर निकाल दिया गया, तब कुन्ती अपने पुत्रों के साथ-साथ रहीं और उन दिनों में उन्होंने सारे कष्ट उठाये। वनवास के समय एक असुर कन्या हिडिम्बा ने भीम को पति बनाना चाहा। भीम ने इनकार कर दिया, किन्तु जब कन्या कुन्ती तथा युधिष्ठिर के पास पहुँची, तो उन्होंने भीम को आदेश दिया कि वह उसका प्रस्ताव स्वीकार करे और उसे पुत्र-प्रदान करे। इस संयोग से घटोत्कच का जन्म हुआ और उसने अपने पिता की ओर से कौरवों के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध किया। उनके वनवास-काल में सभी पाण्डव एक ब्राह्मण परिवार के साथ रहे, जो बकासुर राक्षस के कारण अत्यन्त व्यथित था। कुन्ती ने भीम को आदेश दिया कि वह बकासुर का वध करके ब्राह्मण परिवार को असुर के उत्पीड़नों से बचाए। उन्होंने युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे पांचाल देश के लिए प्रस्थान करें। इसी पांचाल देश में अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया, लेकिन कुन्ती के आदेश से पाँचों भाई पांचाली या द्रौपदी के समान रूप से पति बने। वह व्यासदेव की उपस्थिति में पाँचों पाण्डवों के साथ ब्याही गई। कुन्तीदेवी अपने प्रथम पुत्र कर्ण को कभी भी नहीं भूल पाईं। उन्होंने कुरुक्षेत्र-युद्ध में कर्ण की मृत्यु होने पर विलाप किया और अपने अन्य पुत्रों के समक्ष स्वीकार किया कि महाराज पाण्डु से विवाह करने के पूर्व ही कर्ण का जन्म हो चुका था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, जब कृष्ण अपने घर वापस जाने लगे, तब तो उन्होंने जो प्रार्थनाएँ की, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। बाद में वे गान्धारी

के साथ घोर तपस्या करने के लिए जंगल चली गईं। वे प्रत्येक तीसवें दिन पर भोजन करतीं। अन्ततः वे ध्यान में लीन होकर, दावाग्नि में जलकर भस्म हो गईं।

द्रौपदी—ये महाराज द्रुपद की सर्वश्रेष्ठ सती पुत्री तथा इन्द्रपत्नी देवी शची की अंशावतार थीं। महाराज द्रुपद ने मुनि यज की अधीक्षता में एक महान् यज्ञ सम्पन्न किया। पहली आहुति के साथ धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ, और द्वितीय आहुति से द्रौपदी जन्मीं। अतएव ये धृष्टद्युम्न की बहन हैं और पांचाली के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। पाँचों पाण्डवों ने इन्हें पत्नी के रूप में ब्याहा और हर एक पति से इन्हें एक-एक पुत्र प्राप्त हुआ। महाराज युधिष्ठिर से प्रतिभित, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक तथा सहदेव से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ। ये अपनी सास कुन्ती के ही समान अत्यन्त सुन्दरी बताई गई हैं। इनके जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि इनका नाम कृष्णा होगा। साथ ही यह भी आकाशवाणी हुई कि इनका जन्म कई क्षत्रियों का वध करने के लिए हुआ है। शंकर के आशीर्वाद से इन्हें एक से एक योग्य पाँच पति मिले। जब उन्होंने स्वयं अपना पति चुनना चाहा, तो विश्व भर के देशों के राजा तथा राजकुमार आमंत्रित किये गये। वह पाण्डवों के वनवास के समय पाण्डवों से विवाहित हुईं। किन्तु जब वे अपने घर वापस गये, तो महाराज द्रुपद ने उन्हें प्रचुर दहेज दिया। धृतराष्ट्र की सभी बहुओं ने द्रौपदी का स्वागत किया। जब वे जुए में हार दी गईं, तो उन्हें सभा-भवन में जबरन घसीट कर लाया गया और दु:शासन द्वारा नग्न किये जाने का यत्न किया गया, यद्यपि वहाँ पर भीष्म तथा द्रोण जैसे गुरुजन उपस्थित थे। वे भगवान् कृष्ण की परम भक्त थीं। उनकी प्रार्थना सुनकर, भगवान् ने स्वयं असीम वस्त्र बनाकर उन्हें अपमान से बचाया। जब जटासुर नाम के राक्षस ने उनका अपहरण किया, तो भीमसेन ने उसका वध करके उनकी रक्षा की। उन्होंने भगवान् कृष्ण की कृपा से पाण्डवों को दुर्वासा मुनि के शाप से बचाया। जब पाण्डव विराट के राजमहल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कीचक उनके अपूर्व सौन्दर्य पर मोहित हो गया। तब भीमसेन की सहायता से इस दुष्ट का वध किया गया और इस तरह वे बच गईं। जब अश्वत्थामा ने उनके पाँचों पुत्रों का वध कर दिया, तो वे अत्यन्त शोकाकुल हुई। अन्तिम अवस्था में वे अपने पति युधिष्ठिर तथा अन्यों के साथ स्वर्गारोहण के लिए गईं तथा मार्ग पर गिर गईं। युधिष्ठिर ने उनके गिरने का कारण बताया, किन्तु जब युधिष्ठिर स्वर्ग पहुँचे तो उन्होंने देखा कि लक्ष्मीदेवी के रूप में द्रौपदी वहाँ पहले से विद्यमान थीं।

सुभद्रा—वसुदेव की पुत्री तथा भगवान् श्रीकृष्ण की बहिन। ये न केवल वसुदेव की लाड़ली पुत्री थीं, अपितु श्रीकृष्ण तथा बलदेव की भी अत्यन्त प्रिय बहिन थीं। ये दोनों भाई तथा बहन, पुरी के सुप्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर में मूर्तिमान हैं और आज भी नित्य हजारों तीर्थयात्री इस मन्दिर में दर्शन करते हैं। यह मन्दिर सूर्यग्रहण के अवसर पर भगवान् की कुरुक्षेत्र यात्रा तथा बाद में वृन्दावनवासियों से मिलने का स्मृति-स्वरूप है। इस अवसर पर राधा तथा कृष्ण का मिलन अत्यन्त कारुणिक है और पुरी में, भगवान् श्री चैतन्य राधारानी के भाव में, सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के लिए लालायित रहते थे। जब अर्जुन द्वारका में थे, तो उन्होंने सुभद्रा को अपनी रानी बनाना चाहा और भगवान् श्रीकृष्ण से अपनी इच्छा व्यक्त की। श्रीकृष्ण जानते थे कि उनके बड़े भाई, बलदेव, सुभद्रा का विवाह अन्यत्र तय कर रहे हैं। चूँकि श्रीकृष्ण बलदेव द्वारा की जा रही व्यवस्था के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वह उसका हरण कर ले। अतएव जब सारे लोग रैवत पर्वत पर आनन्द मनाने गये थे, तो अर्जुन ने कृष्ण की योजना के अनुसार, सुभद्रा का हरण कर लिया। इस पर बलदेव अर्जुन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और वे उन्हें मार डालना चाहते थे, किन्तु कृष्ण ने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वे अर्जुन को क्षमा-दान दें। तब अर्जुन के साथ सुभद्रा का विधिवत् ब्याह हुआ और सुभद्रा से अभिमन्यु का जन्म हुआ। अभिमन्यु की अकाल मृत्यु से सुभद्रा अत्यन्त दुखी थीं, किन्तु परीक्षित के जन्म से वे सुखी तथा संतुष्ट हुई।

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम् ।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रति—की ओर; **उज्जग्मुः**—गया; **प्रहर्षेण**—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; **प्राणम्**—जीवन, प्राण; **तन्वः**—शरीर का; **इव**—सदृश; **आगतम्**—वापस आया; **अभिसङ्गम्य**—निकट जाकर; **विधि-वत्**—अच्छी तरह से; **परिष्वङ्ग**—आलिंगन; **अभिवादनैः**—अभिवादन (प्रणाम) द्वारा।.

वे सब परम प्रसन्नतापूर्वक उनके निकट गये, मानो उनके शरीरों में फिर से प्राण का संचार हुआ हो। उन्होंने एक दूसरे को प्रणाम किया और गले मिलते हुए एक दूसरे का स्वागत किया।

तात्पर्य : चेतना के अभाव में शरीर के अंग निष्क्रिय रहते हैं, लेकिन जब चेतना वापस आती है, तो अंग तथा इन्द्रियाँ सक्रिय हो उठती हैं और जीव हर्षित हो उठता है। कौरव-परिवार के लिए विदुर

इतने प्रिय थे कि राजमहल में उनकी अनुपस्थिति की तुलना निष्क्रियता से की गई थी। सभी लोग उनके तीव्र वियोग का अनुभव कर रहे थे। अतएव राजमहल में उनका वापस आना सभी के लिए आनन्ददायक था।

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुमुचुः—छोड़ा; प्रेम—प्रेम के; बाष्प-ओघम्—भावुकता के अश्रु; विरह—वियोग; औत्कण्ठ्य—उत्कण्ठा, उत्सुकता; कातराः—दुखी; राजा—राजा युधिष्ठिर; तम्—उसको (विदुर को); अर्हयाम् चक्रे—प्रदान किया; कृत—किया गया; आसन—बैठने का स्थान; परिग्रहम्—व्यवस्था।

चिन्ता तथा लम्बे वियोग के कारण, वे सब प्रेम-विवश होकर रूदन करने लगे। तब राजा युधिष्ठिर ने उनके बैठने के लिए आसन की व्यवस्था की और उनका सत्कार किया।

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने ।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (विदुर को); भुक्तवन्तम्—ठीक से भोजन कराकर; विश्रान्तम्—तथा विश्राम कराके; आसीनम्—बैठाकर; सुखम् आसने—सुखद आसन पर; प्रश्रय-अवनतः—स्वाभाविक रूप से अत्यन्त भद्र तथा विनीत; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; प्राह—बोलना प्रारम्भ किया; तेषाम् च—तथा उनके द्वारा; शृण्वताम्—सुना जाकर।

जब विदुर ठीक से भोजन कर चुके और पर्याप्त विश्राम कर लेने पर उन्हें सुखदायक आसन पर बिठाया गया। तब राजा ने उनसे बोलना शुरू किया और वहाँ पर उपस्थित सारे लोग सुनने लगे।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर अपने पारिवारिक सदस्य तक का स्वागत करने में पटु थे। सभी पारिवारिक सदस्यों ने विदुर का गले मिलते हुए तथा अभिवादन द्वारा सत्कार किया। तत्पश्चात् स्नान एवं समुचित भोजन की व्यवस्था की। फिर पर्याप्त विश्राम करने दिया गया। विश्राम के बाद उन्हें बैठने के लिए सुखद आसन प्रदान किया गया। तब राजा ने परिवार की तथा अन्य विषयों की बातें शुरू कीं। प्रिय मित्र या यहाँ तक कि शत्रु के भी स्वागत की यही उचित विधि है। भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार, घर आये शत्रु का भी इस तरह स्वागत होना चाहिए कि उसे भय की प्रतीति न हो। शत्रु सदैव अपने

शत्रु से भयभीत रहता है, किन्तु जब शत्रु के घर कोई शत्रु आए, तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि घर आये व्यक्ति का कुटुम्बी के समान सत्कार होना चाहिए; तो विदुर जैसे कुटुम्बी का कहना ही क्या, जो परिवार के सभी सदस्यों के शुभचिन्तक थे। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर अन्य सभी सदस्यों की उपस्थिति में विदुर से बोले।

युधिष्ठिर उवाच
अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् ।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अपि—क्या; स्मरथ—आपको स्मरण है; नः—हमको; युष्मत्—आपसे; पक्ष—पक्षियों के पंखों सदृश हमारे प्रति पक्षपात; छाया—संरक्षण; समेधितान्—आपके द्वारा पाले गये हम सबों द्वारा; विपत्-गणात्—विभिन्न प्रकार की विपत्तियों से; विष—विष-रूप शासन द्वारा; अग्नि-आदेः—अग्नि-काण्ड आदि से; मोचिताः—छुटकारा दिलाया; यत्—आपने जो किया; स—सहित; मातृकाः—हमारी माता।.

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे चाचा, क्या आपको याद है कि आपने किस तरह सदा हमारी माता तथा हम सबकी समस्त प्रकार की विपत्तियों से रक्षा की है? आपके पक्षपात ने, पक्षियों के पंखों के समान, हमें विष-पान तथा अग्निदाह से बचाया है।

तात्पर्य : अल्पायु में ही पाण्डु की मृत्यु हो जाने से उनके छोटे-छोटे पुत्र तथा विधवा स्त्री परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों द्वारा, विशेष रूप से भीष्मदेव तथा महात्मा विदुर द्वारा, संरक्षण प्राप्त करते रहे। पाण्डवों की राजनीतिक स्थिति के कारण विदुर उनका थोड़ा-बहुत पक्षपात करते रहते थे। यद्यपि धृतराष्ट्र भी महाराज पाण्डु के छोटे-छोटे बालकों के प्रति समान रूप से सचेष्ट रहते थे, लेकिन वे उन षड्यंत्रकारी दलों में से एक थे, जो पाण्डु के वंशजों का नामोनिशान मिटा देना चाहते थे और उनके स्थान पर अपने पुत्रों को राज्य का शासक बनाना चाहते थे। महाराज विदुर धृतराष्ट्र तथा उनके दल के इस षड्यंत्र को समझते थे। अतएव अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के आज्ञाकारी सेवक होते हुए भी उन्हें उनकी यह राजकीय महत्त्वाकांक्षा, जो अपने पुत्रों के निमित्त थी, पसन्द नहीं थी। अतएव वे पाण्डवों एवं उनकी विधवा माता की सुरक्षा के प्रति अत्यधिक सावधान रहते थे। इस प्रकार कह सकते है कि वे पाण्डवों के पक्षपाती थे और उन्हें धृतराष्ट्र के पुत्रों से अधिक चाहते थे, यद्यपि सामान्य दृष्टि से वे दोनों ही उन्हें प्रिय थे। वे अपने भतीजों के दोनों दलों के प्रति इस तरह समान-वत्सल थे, फिर भी

अपने चचेरे भाइयों के प्रति षड्यंत्र करने की नीति के लिए वे दुर्योधन को सदैव प्रताड़ित करते रहते थे। वे अपने अग्रज की आलोचना अपने पुत्रों को बढ़ावा देने की नीति के लिए करते रहते, किन्तु साथ ही पाण्डवों को विशेष संरक्षण प्रदान करने के प्रति सदैव सतर्क रहते। राजमहल के भीतर विदुर के ये सारे कार्यकलाप उन्हें पाण्डवों का पक्षपाती घोषित करनेवाले थे। महाराज युधिष्ठिर ने विदुर के घर से दीर्घकालीन तीर्थाटन के लिए जाने के पूर्व के विगत इतिहास का उल्लेख किया है। महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें याद दिलाई कि वे कुरुक्षेत्र-युद्ध जैसी घोर पारिवारिक दुर्घटना के बाद भी अपने बड़े हो चुके भतीजों के प्रति कितने दयालु तथा पक्षपाती बने रहे।

कुरुक्षेत्र-युद्ध के पूर्व, धृतराष्ट्र की नीति यह थी कि वह अपने भतीजों का सफाया शान्तिपूर्ण ढंग से कर दे, अतएव उसने पुरोचन को आज्ञा दी कि वह वारणावत में एक महल निर्मित करे और जब वह महल बन कर तैयार हो गया, तो धृतराष्ट्र ने इच्छा व्यक्त की कि उसके भाई का परिवार वहाँ कुछ काल तक रहे। जब सारे पाण्डव राजकुल के अन्य सदस्यों की उपस्थिति में वहाँ जा रहे थे, तो विदुर ने अत्यन्त चालाकी से पाण्डवों को धृतराष्ट्र की भावी योजना की जानकारी दी। इसका विशेष वर्णन *महाभारत* (आदिपर्व ११४) में हुआ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें संकेत दिया—"ऐसा अस्त्र जो इस्पात या किसी अन्य धातु का न बना हो वह इतना तेज हो सकता है कि शत्रु का वध कर दे। किन्तु जो यह जानता है, वह कभी मारा नहीं जाता।" कहने का तात्पर्य यह था कि उन्होंने संकेत कर दिया कि पाण्डवों को वारणावत इसलिए भेजा जा रहा है कि उनका वध किया जा सके। इस तरह उन्होंने युधिष्ठिर को सचेत किया कि वे नये आवास-महल में अत्यन्त सतर्क रहें। उन्होंने अग्नि का भी संकेत किया और कहा कि अग्नि आत्मा का दहन नहीं कर सकती, लेकिन भौतिक शरीर को विनष्ट कर सकती है। किन्तु जो आत्मा की रक्षा करता है, वह जीवित रह सकता है। महाराज युधिष्ठिर तथा विदुर के ऐसे वार्तालाप को कुन्ती नहीं समझ पाईं, अतएव जब उन्होंने अपने पुत्र से उस वार्तालाप का भावार्थ जानना चाहा, तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि विदुर की बातों से लग रहा है कि हम लोग जहाँ रहने जा रहे हैं, उस भवन में अग्नि लगने का संकेत है। बाद में, विदुर अपना वेश बदल कर पाण्डवों के पास पहुँचे और उन्हें सूचित किया कि शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को द्वारपाल महल में आग लगाएगा। यह धृतराष्ट्र का षड्यंत्र था कि पाण्डव अपनी माता समेत एकसाथ मर जाँए। उनके सचेत करने से, पाण्डव

पृथ्वी के नीचे बनी सुरंग के द्वारा बच निकले, किन्तु उनके बचने का समाचार धृतराष्ट्र को ज्ञात न हो सका, यहाँ तक कि अग्नि लगने के बाद, सारे कौरव पाण्डवों की मृत्यु के प्रति इतने आश्वस्त थे कि धृतराष्ट्र ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनके अन्तिम संस्कार भी सम्पन्न कर डाले तथा शोक की अवधि में महल के सारे सदस्य शोक-मग्न थे, किन्तु विदुर ने शोक नहीं मनाया, क्योंकि उन्हें पता था कि सारे पाण्डव कहीं पर जीवित हैं। विपत्तियों के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं और उन सबों में विदुर ने एक ओर जहाँ पाण्डवों को संरक्षण प्रदान किया, तो दूसरी ओर, वे अपने भाई धृतराष्ट्र को ऐसी षड्यंत्रकारी नीतियों से रोकते रहे। इसलिए वे पाण्डवों के प्रति उसी तरह पक्षपात करते रहे, जिस प्रकार पक्षी अपने पंख से अंडों की रक्षा करता है।

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् ।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कया—किन; **वृत्त्या**—साधनों से; **वर्तितम्**—जीविका चलाते रहे; **वः**—आप; **चरद्भिः**—विचरण करते हुए; **क्षिति-मण्डलम्**—पृथ्वी पर; **तीर्थानि**—तीर्थ-स्थानों; **क्षेत्र-मुख्यानि**—प्रमुख पवित्र स्थानों; **सेवितानि**—आपके द्वारा सेवित; **इह**—इस संसार में; **भूतले**—इस ग्रह में।

पृथ्वी पर विचरण करते हुए, आपने अपनी जीविका कैसे चलाई? आपने किन-किन पवित्र स्थलों तथा तीर्थस्थानों पर सेवा की?

तात्पर्य : विदुर राजमहल से बाहर इसलिए चले गये थे, क्योंकि वे अपने को घरेलू मामलों से, विशेष रूप से राजनीतिक षड्यंत्रों से विलग करना चाह रहे थे। जैसाकि इसके पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, दुर्योधन उन्हें शूद्राणी-पुत्र कहकर उनका एक तरह से अपमान कर चुका था, यद्यपि किसी की पितामही (दादी) के विषय में अनाप-शनाप बातें करना कोई नई बात नहीं है। विदुर की माता शूद्राणी होते हुए भी, दुर्योधन की दादा लगती थी और कभी-कभी दादी तथा नातियों के बीच ऐसा मजाक चलता है। चूँकि यह छींटाकशी एक वास्तविकता थी, अतएव विदुर को बुरी लगनेवाली थी; फलतः इसे प्रत्यक्ष अपमान के रूप में ग्रहण किया गया। फलस्वरूप, विदुर ने तय किया कि वे अपना पैतृक महल त्याग कर, विरक्त जीवन बिताने की तैयारी करेंगे। यह तैयारी की अवस्था *वानप्रस्थ आश्रम* कहलाती है, अर्थात् ऐसा विरक्त जीवन जिसमें पृथ्वी भर में विचरण करके तीर्थस्थलों का दर्शन किया

जाता है। भारत में वृन्दावन, हरिद्वार, जगन्नाथपुरी तथा प्रयाग जैसे तीर्थस्थलों में अनेक महान् भक्त हैं और जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं, उनके लिए वे मुफ्त अन्नक्षेत्र (लंगर) चलाये जाते हैं। महाराज युधिष्ठिर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि क्या विदुर अपना जीवन-निर्वाह ऐसे अन्नक्षेत्रों (छत्र) से कर रहे थे?

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूता: स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भवत्—आप; विधाः—जैसे; भागवताः—भक्त; तीर्थ—तीर्थयात्रा के पवित्र स्थल; भूताः—बने हुए; स्वयम्—अपने आप; विभो—हे शक्तिमान; तीर्थी-कुर्वन्ति—तीर्थस्थान बनाते हैं; तीर्थानि—तीर्थस्थल; स्व-अन्तः-स्थेन—हृदय में स्थित होकर; गदा-भृता—भगवान् के।

हे प्रभु, आप जैसे भक्त, निश्चय ही, साक्षात् पवित्र स्थान होते हैं। चूँकि आप भगवान् को अपने हृदय में धारण किए रहते हैं, अतएव आप समस्त स्थानों को तीर्थस्थानों में परिणत कर देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण सर्वव्यापी हैं, जिस प्रकार बिजली सर्वत्र फैली हुई रहती है। भगवान् की सर्वव्यापकता का अनुभव तथा उसका प्राकट्य उसी प्रकार विदुर जैसे अनन्य भक्तों द्वारा किया जाता है, जिस प्रकार बिजली के बल्ब में बिजली प्रकट होती है। विदुर जैसा शुद्ध भक्त भगवान् की उपस्थिति को सर्वत्र अनुभव करता है। वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति में देखता है और भगवान् को प्रत्येक वस्तु में। पृथ्वी पर जितने भी पवित्र स्थान हैं, वे भगवान् के अनन्य भक्तों की उपस्थिति से परिपूरित वातावरण द्वारा मनुष्य की दूषित चेतना को शुद्ध बनाने के निमित्त हैं। यदि कोई इन पवित्र स्थानों में जाता है, तो उसे चाहिए कि वहाँ रहनेवाले शुद्ध भक्तों को खोजे, उनसे शिक्षा ग्रहण करें, उस शिक्षा को व्यावहारिक जीवन में उतारे और इस तरह धीरे-धीरे अपने आपको मोक्ष के लिए, या भगवद्-धाम वापस जाने के लिए तैयार करे। किसी पवित्र स्थान में जाने का अर्थ मात्र गंगा या यमुना नदी में स्नान करना या उन स्थानों के मन्दिरों का दर्शन करना नहीं होता। उसे विदुर जैसे प्रतिनिधियों को खोजना चाहिए, जिन्हें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई आकांक्षा नहीं होती। भगवान् सदा से ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ रहते हैं, क्योंकि उनकी अनन्य सेवा,

सकाम कर्म या व्यर्थ चिन्तन से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती। वे भगवान् की असली सेवा में, विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन के माध्यम से लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त प्राधिकारियों से श्रवण करते हैं, कीर्तन करते हैं और भगवान् की महिमाओं का लेखन करते हैं। महामुनि व्यासदेव ने नारद से सुना था और तब उन्होंने लिखकर कीर्तन किया; शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता से शिक्षा ग्रहण की और परीक्षित से उसका वर्णन किया, *श्रीमद्भागवत* की यही विधि है। इस तरह भगवान् के शुद्ध भक्त अपने कार्यों से किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल सकते हैं और तीर्थस्थलों का नाम उन्हीं के कारण होता है। ऐसे शुद्ध भक्त किसी भी स्थान के दूषित वातावरण को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं। तो ऐसे पवित्र स्थान की तो बात ही क्या है, जो उन स्वार्थी व्यक्तियों के सन्देहास्पद कार्यों द्वारा अपवित्र हो रहा हो, जो ऐसे पवित्र स्थान की प्रसिद्धि की परवाह न करते हुए अपना धन्धा चलाते हैं।

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारे; सुहृदः—शुभचिन्तक; तात—हे चाचा; बान्धवाः—मित्र; कृष्ण-देवताः—भगवान् कृष्ण की सेवा में सदैव तत्पर रहनेवाले; दृष्टाः—उन्हें देखकर; श्रुताः—या उनके विषय में सुनकर; वा—अथवा; यदवः—यदुवंशी लोग; स्व-पुर्याम्—अपने-अपने निवास-स्थानों में; सुखम् आसते—सुखी तो हैं।

हे चाचा, आप द्वारका भी गये होंगे? उस पवित्र स्थान में यदुवंशी हमारे मित्र तथा शुभचिन्तक हैं, जो नित्य ही भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। आप उनसे मिले होंगे अथवा उनके विषय में सुना होगा? वे अपने-अपने घरों में सुखपूर्वक रह रहे हैं न?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *कृष्ण देवताः* महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, वे जो सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं। यादव तथा पाण्डव, जो सदा ही भगवान् कृष्ण एवं उनकी विभिन्न दिव्य लीलाओं के विचार में मग्न रहते थे, वे सबके सब विदुर के ही समान भगवान् के शुद्ध भक्त थे। विदुर ने इसीलिए गृहत्याग किया था, जिससे वे पूर्णतया भगवान् की सेवा में लग सकें, किन्तु सारे पाण्डव तथा यादव तो सदा ही कृष्ण के विचार में डूबे रहते थे। अतएव उनके शुद्ध भक्ति-गुणों में कोई अन्तर नहीं है। शुद्ध भक्त, चाहे घर में रहे या घर छोड़ दे, उसका वास्तविक गुण तो कृष्ण के विचार में अनुकूल रूप से मग्न रहना होता है अर्थात् भलीभाँति यह जानना कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरूषोत्तम

भगवान् हैं। यद्यपि कंस, जरासंध, शिशुपाल तथा उन्हीं जैसे अन्य असुर भी भगवान् कृष्ण के विचार में सदैव निमग्न रहते थे, किन्तु वे भिन्न प्रकार से—प्रतिकूल होकर—निमग्न रहते थे या उन्हें केवल शक्तिशाली मनुष्य मानते थे। अतएव कंस तथा शिशुपाल को शुद्ध भक्तों का वह पद प्राप्त नहीं है, जो विदुर, पाण्डवों तथा यादवों जैसे शुद्ध भक्तों को प्राप्त है।

महाराज युधिष्ठिर भी भगवान् कृष्ण तथा उनके द्वारका के पार्षदों के विचार में सदैव निमग्न रहा करते थे। अन्यथा, वे विदुर से उन सबके विषय में न पूछते। अतएव महाराज युधिष्ठिर विश्व के राज्य के मामलों में लगे रहकर भी, विदुर के समान भक्ति-पद पर स्थित थे।

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—पूछे जाने पर; धर्म-राजेन—राजा युधिष्ठिर द्वारा; सर्वम्—सब कुछ; तत्—यह; समवर्णयत्—ठीक से वर्णन किया; यथा-अनुभूतम्—जैसा उसने अनुभव किया था; क्रमशः—एक के बाद एक; विना—रहित; यदु-कुल-क्षयम्—यदुवंश का विनाश।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा इस तरह पूछे जाने पर महात्मा विदुर ने क्रमशः सब कुछ कह सुनाया, जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। केवल यदुवंश के विनाश की बात उन्होंने नहीं कही।

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम् ।
नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अप्रियम्—अप्रिय; दुर्विषहम्—असह्य; नृणाम्—मानव जाति का; स्वयम्—अपने ढंग से; उपस्थितम्—प्राकट्य; न—नहीं; आवेदयत्—व्यक्त किया; सकरुणः—दयामय; दुःखितान्—दुखी जनों को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अक्षमः—असमर्थ।

दयावान महात्मा विदुर पाण्डवों को कभी भी दुखी नहीं देख सकते थे। अतएव उन्होंने इस अप्रिय तथा असह्य घटना को प्रकट नहीं होने दिया, क्योंकि आपदाएँ तो अपने आप आती हैं।

तात्पर्य : *नीतिशास्त्र* के अनुसार, ऐसा अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिए, जिससे अन्यों को कष्ट हो। विपदा सदैव प्रकृति के नियमानुसार स्वतः आती है। अतएव इसका प्रचार करते हुए इसे अधिक उभारना नहीं चाहिए। विदुर जैसे दयावान व्यक्ति के लिए, विशेष रूप से प्रिय पाण्डवों के साथ व्यवहार

करते हुए, यदुवंश के विनाश जैसी अप्रिय घटना को उद्घाटित करना प्रायः असम्भव था। इसीलिए उन्होंने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया।

कञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम् ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां सुखमावहन् ॥ १४॥

शब्दार्थ

कञ्चित्—कुछ दिनों तक; कालम्—समय; अथ—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहते रहे; सत्-कृतः—सम्मानित होने पर; देव-वत्—दैवी व्यक्ति के समान; सुखम्—सुविधाएँ; भ्रातुः—भाई का; ज्येष्ठस्य—बड़े भाई का; श्रेयः-कृत्—उनके प्रति अच्छाई करने के कारण; सर्वेषाम्—आप सबों का; सुखम्—सुख; आवहन्—सम्भव बनाया।

इस प्रकार अपने कुटुम्बियों द्वारा देवतुल्य सम्मानित होकर, महात्मा विदुर कुछ काल तक अपने बड़े भाई की मनोदशा को ठीक करने के लिए तथा इस प्रकार अन्य सबों को सुख देने के लिए वहाँ पर रहते रहे।

तात्पर्य : विदुर जैसे महात्मा पुरुषों का सत्कार स्वर्ग के निवासियों जैसा होना चाहिए। उन दिनों, स्वर्ग के निवासी महाराज युधिष्ठिर जैसे लोगों के घरों में आया करते थे और कभी-कभी अर्जुन जैसे व्यक्ति स्वर्ग-लोक की यात्रा किया करते थे। नारद तो ऐसे अन्तरिक्ष-यात्री हैं, जो बिना रोक-टोक के न केवल भौतिक ब्रह्माण्डों में, अपितु आध्यात्मिक लोकों में भी विचरण कर सकते हैं। नारद भी महाराज युधिष्ठिर के महलों में आते जाते थे, तो फिर अन्य देवताओं के विषय में कहना ही क्या। सम्बद्ध लोगों की आध्यात्मिक संस्कृति से ही, विभिन्न लोकों के मध्य इसी शरीर से यात्रा कर पाना सम्भव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने विदुर का वैसा ही सत्कार किया, जैसा देवताओं का किया जाता है।

महात्मा विदुर पहले ही वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर चुके थे। अतएव वे अपने पैतृक महल में भी कोई भौतिक सुख भोगने नहीं आये थे। उन्होंने अपनी कृपा से ही महाराज युधिष्ठिर द्वारा अर्पित सेवाभाव का स्वीकार किया, लेकिन उस महल में रहने का एकमात्र उद्देश्य अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का उद्धार करना था, जो सांसारिकता में अत्यधिक आसक्त थे। धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर से युद्ध करके अपना सारा राजपाट तथा सारे वंशज खो दिये थे; तो भी अपनी असहाय अवस्था के कारण वे महाराज युधिष्ठिर का दान तथा आतिथ्य ग्रहण करने में लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिर के

लिए यह बिल्कुल उचित था कि वे अपने ताऊ को समुचित ढंग से रख रहे थे, किन्तु इस प्रकार का भव्य आतिथ्य धृतराष्ट्र के लिए स्वीकार करना उचित न था। उन्होंने इसे स्वीकार कर रखा था, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अन्य कोई विकल्प न था। विदुर वहाँ पर विशेष रूप से धृतराष्ट्र को प्रबुद्ध करने तथा उन्हें उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही आये थे। प्रबुद्ध व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे पतितात्माओं का उद्धार करें और विदुर इसी उद्देश्य से आये थे। किन्तु आध्यात्मिक प्रबोध की बातें इतनी सुहावनी होती हैं कि जब विदुर धृतराष्ट्र को उपदेश दे रहे थे, तो परिवार के सारे सदस्य उनकी ओर आकृष्ट हो गये और सबों ने धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनने में आनन्द का अनुभव किया। आध्यात्मिक अनुभूति की यही विधि है। सन्देश को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए और यदि किसी अनुभूत व्यक्ति द्वारा यह सन्देश दिया जाता है, तो यह बद्धजीव के सुप्त हृदय पर प्रभाव डालता है। और निरन्तर श्रवण करते रहने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अबिभ्रत्—दिया गया; अर्यमा—अर्यमा; दण्डम्—दण्ड; यथावत्—समुचित; अघ-कारिषु—पाप करनेवालों को; यावत्—जब तक; दधार—स्वीकार किया; शूद्रत्वम्—शूद्र का शरीर; शापात्—शाप के फलस्वरूप; वर्ष-शतम्—सौ वर्षों तक; यमः—यमराज।

मण्डूक मुनि के द्वारा शापित होकर, जब तक विदुर शूद्र का शरीर धारण किये रहे, तब तक पाप कर्म करने वालों को दण्डित करने के लिए यमराज के पद पर अर्यमा कार्य करते रहे।

तात्पर्य : विदुर शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने भाइयों—धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के साथ राज्य के उत्तराधिकार से भी वंचित थे; तो भला वे धृतराष्ट्र तथा महाराज युधिष्ठिर जैसे विद्वान राजाओं एवं क्षत्रियों के शिक्षक पद पर कैसे रह सकते थे? इसका पहला उत्तर यह है कि यद्यपि वे जन्म से शूद्र माने जाते थे, लेकिन चूँकि उन्होंने ऋषि मैत्रेय के आदेशानुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिए संसार का परित्याग कर दिया था और उनसे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी, अतएव वे आचार्य पद को ग्रहण करने के लिए पूर्णतया सक्षम थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो दिव्य ज्ञान या ईश-तत्त्व में निपुण है, वह चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, गुरु होने के लिए

योग्य है। यहाँ तक कि सामान्य नीतिशास्त्र में (महान् राजनीतिज्ञ तथा नीतिविद् चाणक्य पंडित के मतानुसार) शूद्र से भी निम्न व्यक्ति से शिक्षा ग्रहण करने में कोई हानि नहीं मानी गई। यह उत्तर का एक अंश हुआ। दूसरा अंश यह है कि विदुर वास्तव में शूद्र न थे। उन्हें मण्डूक मुनि के शाप के कारण, एक सौ वर्षों तक शूद्र की भूमिका निभानी थी। वे यमराज के अवतार थे, जो बारह महाजनों में से एक थे और ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, भीष्म, प्रह्लाद इत्यादि महापुरुषों के समान उच्च पद पर थे। महाजन होने के कारण, यमराज का कर्तव्य है कि वे विश्व के लोगों को भक्ति सम्प्रदाय का उसी प्रकार उपदेश दें जिस प्रकार नारद, ब्रह्मा तथा अन्य महाजन करते हैं। किन्तु यमराज सदैव अपने राज्य में पापकर्म करनेवालों को दण्ड देने के कार्य में ही व्यस्त रहते हैं। भगवान् ने यमराज को एक विशेष ग्रह के लिए, जो पृथ्वी से कुछ लाखों मील दूरी पर स्थित है, नियुक्त किया है, जहाँ वे मृत्यु के बाद भ्रष्ट जीवात्माओं को ले जाकर उनके पाप कर्मों के अनुसार दण्ड दें। अतएव यमराज को दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देने के उत्तरदायी काम से ही फुरसत नहीं मिल पाती। दुष्कर्म करनेवालों की संख्या सत्कर्मियों से अधिक है। अतएव यमराज को भगवान् द्वारा अधिकृत अन्य देवों की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है। लेकिन यमराज तो भगवान् की महिमा का उपदेश देना चाहते थे। अतएव भगवत् इच्छा से मण्डूक मुनि के शाप के कारण, उन्हें विदुर के अवतार रूप में इस पृथ्वी पर आने का मौका मिला और महान् भक्त की तरह निरन्तर भगवान् की सेवा में जुटने का मौका मिला। ऐसा भक्त न तो शूद्र होता है, न ब्राह्मण। वह संसारी समाज के ऐसे विभाजन से परे होता है, जिस प्रकार भगवान् शूकर के रूप में अवतरित होकर भी न तो शूकर हैं, न ही ब्रह्मा हैं। वे समस्त संसारी प्राणियों के ऊपर हैं। कभी-कभी, भगवान् तथा उनके विभिन्न अधिकृत भक्तों को बद्धजीवों के उद्धार हेतु निम्नतर प्राणियों की भूमिका अदा करनी पड़ती है, किन्तु भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त दोनों सदैव दिव्य पद पर बने रहते हैं। जब यमराज इस तरह विदुर के रूप में अवतरित हुए, तो कश्यप तथा अदिति के अनेक पुत्रों में से एक, अर्यमा ने यह पद सँभाला। आदित्यगण अदिति के पुत्र हैं और आदित्यों की संख्या बारह है। अर्यमा इन बारह आदित्यों में से एक है। अतएव विदुर की अनुपस्थिति में सौ वर्षों तक यमराज के कार्यभार को सँभालने के लिए अर्यमा का चुनाव ठीक ही था। निष्कर्ष यह है कि विदुर कभी भी शूद्र न थे, वे तो शुद्धतम ब्राह्मण से भी महान् थे।

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम् ।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर ने; लब्ध-राज्यः—अपने पैतृक राज्य का अधिकारी होकर; दृष्ट्वा—देखकर; पौत्रम्—नाती को; कुलम्-धरम्—वंश के अनुकूल; भ्रातृभिः—भाइयों से; लोक-पालाभैः—जो सभी पटु प्रशासक थे; मुमुदे—जीवन का भोग किया; परया—असामान्य; श्रिया—ऐश्वर्य से।

अपना राज्य वापस पाकर तथा एक ऐसे पौत्र का जन्म देखकर, जो उनके परिवार की प्रशस्त परम्परा को आगे चलाने में सक्षम था, महाराज युधिष्ठिर ने शान्तिपूर्वक शासन चलाया और उन छोटे भाइयों के सहयोग से, जो सारे के सारे कुशल प्रशासक थे, असामान्य ऐश्वर्य का भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन दोनों ही, कुरुक्षेत्र युद्ध के शुरू होने के दिन से ही अप्रसन्न थे, किन्तु युद्ध में स्वजनों को मारने की अनिच्छा होते हुए भी, उन्हें उसे कर्तव्य समझकर करना पड़ रहा था, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की परम इच्छा से इसकी योजना की गई थी। युद्ध के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ऐसे सामूहिक संहार से दुखी थे। एक तरह पाण्डवों के बाद कुरु वंश को चलानेवाला कोई नहीं था। यदि एक मात्र आशा शेष थी, तो वह पुत्रवधू उत्तरा के गर्भ में स्थित बालक था और उस पर भी अश्वत्थामा ने हमला कर दिया था, किन्तु भगवान् की कृपा से वह बालक बच गया था। अतएव सभी उपद्रवों के शान्त होने पर तथा राज्य में शान्ति स्थापित होने पर और एकमात्र बचे हुए बालक परीक्षित को देखकर युधिष्ठिर सन्तुष्ट थे और सदैव क्षणिक और भ्रांत करने वाले भौतिक सुख के प्रति आकर्षण न होने पर भी मानव होने के कारण, उन्हें कुछ चैन मिला था।

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; गृहेषु—घरेलू मामलों में; सक्तानाम्—अत्यन्त आसक्त पुरुषों के; प्रमत्तानाम्—बेवकूफी से आसक्त; तत्-ईहया—ऐसे विचारों में निमग्न; अत्यक्रामत्—पार कर गया; अविज्ञातः—अनजाने; कालः—सनातन काल; परम—परम; दुस्तरः—दुर्लंघ्य।

जो लोग घरेलू मामलों में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और उन्हीं के विचारों में मग्न रहते जाते हैं, उन्हें दुस्तर सनातन काल अनजाने ही धर दबोचता है।

तात्पर्य : ''मैं अब सुखी हूँ; अब सब कुछ ठीक-ठीक है; मेरे पास बैंक में प्रचुर धन है; अब मैं अपने लड़कों को काफी जागीर दे सकता हूँ; अब मैं सफल हूँ; ये भिखारी संन्यासी ईश्वर पर आश्रित तो रहते हैं, किन्तु वे मेरे सामने हाथ फैलाने आते हैं, अतएव मैं परमेश्वर से भी बढ़कर हूँ।'' ये कुछ विचार हैं, जो उन प्रमत्त आसक्त गृहस्थों के मनों में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, जो शाश्वत काल के प्रति अन्धे रहते हैं। हमारी आयु सीमित है और परम इच्छा से नियत किये गये काल के विपरीत, इसे एक क्षण भी बढ़ा पाना सम्भव नहीं है। मनुष्यों के लिए ऐसा समय अत्यन्त मूल्यवान है और इसे सतर्कता से बिताया जाना चाहिए, क्योंकि अदृश्य रूप से बीते एक क्षण को कठिन कमाई से संग्रह किये गये हजारों सोने के सिक्कों से भी बदला नहीं जा सकता। मानव जीवन का प्रत्येक क्षण अन्तत: जीवन की समस्याओं को हल करने के निमित्त अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु एवं ८४,००,००० योनियों में भटकते रहने से छुटकारा पाने के लिए है। यह भौतिक शरीर, जो जन्म तथा मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे से ग्रस्त होता रहता है, जीव के समस्त कष्टों की जड़ है अन्यथा जीव तो शाश्वत है। न तो वह कभी जन्मता है, न कभी मरता है। मूर्ख लोग इस समस्या को भूल जाते हैं। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि जीवन की समस्याओं को किस तरह हल किया जाए। उल्टे वे क्षणिक पारिवारिक झंझटों में उलझे रहते हैं और उनकी समझ में यह नहीं आता कि शाश्वत समय, अदृश्य रूप से बीतता जा रहा है, उनकी सीमित आयु हर क्षण घटती जा रही है और जन्म-मृत्यु एवं रोग तथा बुढ़ापे के चक्कर की सबसे बड़ी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। ही भ्रम कहलाता है।

किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा के प्रति जागरूक रहता है, उस पर यह भ्रम प्रभाव नहीं डाल सकता। युधिष्ठिर महाराज तथा उनके भाई पाण्डव सभी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लगे रहते थे और उन्हें इस भौतिक जगत के मायावी सुख के प्रति तनिक भी आकर्षण न था। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, महाराज युधिष्ठिर भगवान् मुकुन्द (मोक्षदाता भगवान्) की सेवा में अचल थे, अतएव उन्हें स्वर्ग में उपलब्ध जीवन के सुख का भी आकर्षण न था, क्योंकि ब्रह्मलोक तक में उपलब्ध सुख क्षणिक तथा भ्रामक होता है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव वह भगवान् के नित्य धाम

(परव्योम) में ही सुखी रह सकता है जहाँ से बारम्बार जन्म-मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे के इस भूभाग में कोई नहीं लौटता। अतः ऐसा कोई भी सुख या भौतिक सुविधा, जो शाश्वत जीवन प्रदान नहीं कर सकती, शाश्वत जीव के लिए भ्रम ही है। जो इस तथ्य को समझ लेता है, वह विद्वान है और ऐसा विद्वान व्यक्ति, *ब्रह्मसुखम्* के नाम से विख्यात वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी भौतिक सुख का बलिदान कर सकता है। इस सुख के लिए वास्तविक योगी तक लालायित रहते हैं और जिस तरह भूखा व्यक्ति, भोजन के बिना, अन्य समस्त सुख-सुविधाओं से सुखी नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार जिसे आध्यात्मिक परम सुख की भूख है, उसे कितना ही भौतिक सुख क्यों न प्राप्त हो, किन्तु इसकी यह भूख बुझती नहीं। अतएव इस श्लोक में वर्णित उपदेश को महाराज युधिष्ठिर पर या उनके भाइयों तथा माता पर लागू नहीं किया जा सकता। यह धृतराष्ट्र जैसे व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें शिक्षा देने के लिए विदुर विशेष रूप से आये।

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—महात्मा विदुर ने; **तत्**—वह; **अभिप्रेत्य**—ठीक से जानकर; **धृतराष्ट्रम्**—धृतराष्ट्र से; **अभाषत**—कहा; **राजन्**—हे राजा; **निर्गम्यताम्**—कृपा करके बाहर निकलें; **शीघ्रम्**—शीघ्र ही; **पश्य**—देखो; **इदम्**—इस; **भयम्**—भय को; **आगतम्**—पहले से आया हुआ।

महात्मा विदुर यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा : हे राजन्, कृपा करके यहाँ से शीघ्र ही बाहर निकल चलिये। विलम्ब न कीजिये। जरा देखें तो, भय ने किस प्रकार आपको वशीभूत कर रखा है।

तात्पर्य : क्रूर काल को किसी की परवाह नहीं रहती, चाहे वह धृतराष्ट्र हो या महाराज युधिष्ठिर ही क्यों न हों। अतएव बूढ़े धृतराष्ट्र को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया गया, वह उनसे कम आयुवाले महाराज युधिष्ठिर पर भी लागू होता था। एक तरह से, राजमहल का प्रत्येक व्यक्ति, राजा तथा उनके भाइयों एवं माता सहित, विदुर के भाषणों को ध्यान से सुन रहा था। किन्तु विदुर को ज्ञात था कि उनके उपदेश विशेषकर धृतराष्ट्र के ही निमित्त हैं, क्योंकि वे अत्यधिक भौतिकतावादी थे। *राजन्* शब्द से धृतराष्ट्र को विशेष रूप से सम्बोधित किया गया है। धृतराष्ट्र अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे, अतएव

नियमों के अनुसार, उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर आरूढ़ होना था, किन्तु जन्मान्ध होने के कारण, वे अपने न्यायोचित अधिकार से अयोग्य मान लिए गये थे। वे इस शोकावस्था को भूल नहीं पाये, किन्तु अपने छोटे भाई पाण्डु की मृत्यु के बाद, यह निराशा कुछ कम हो गई। उनके छोटे भाई अपने पीछे कुछ अल्पवयस्क पुत्र छोड़ गये थे। अतएव धृतराष्ट्र उनके स्वाभाविक अभिभावक बन चुके थे, किन्तु उनकी हार्दिक अभिलाषा यह थी कि वे असली राजा बनें और अपना राज्य दुर्योधन आदि अपने पुत्रों को हस्तान्तरित कर दें। इन राजसी महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर, धृतराष्ट्र राजा बनना चाह रहे थे, अतएव वे अपने साले शकुनी की सलाह से, सभी प्रकार के षड्यंत्र रच रहे थे। किन्तु भगवान् की इच्छा से सारी योजना असफल रही। वे अन्तिम अवस्था में भी अपना सब कुछ, सारे लोग तथा अपना सारा धन खोकर भी, राजा बने रहना चाहते थे, क्योंकि वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ जो थे। अपना कर्तव्य समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की राजसी प्रतिष्ठा को बनाये रखा और धृतराष्ट्र सुखपूर्वक राजा बने रहने, अथवा महाराज युधिष्ठर के राजसी ताऊ होने के भ्रम में अपने इने-गिने दिन काट रहे थे। विदुर धृतराष्ट्र के छोटे कर्तव्यनिष्ठ स्नेही भाई एवं एक साधु पुरूष होने के कारण, एक साधु पुरूष, उन्हें रोग तथा बुढ़ापे की नींद से जगाना चाह रहे थे। अतएव उन्होंने व्यंग्यपूर्वक धृतराष्ट्र को ''राजन्'' कहकर सम्बोधित किया जबकि वास्तव में वे राजा थे नहीं। हर व्यक्ति सनातन काल का दास है, अतएव कोई भी इस भौतिक जगत में राजा नहीं हो सकता। राजा का अर्थ है, वह जो आज्ञा दे सके। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजा काल तथा ज्वार-भाटा को आदेश देना चाहता था, किन्तु काल तथा ज्वार-भाटा ने उसकी आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया। अतएव इस भौतिक जगत में मनुष्य मिथ्या का राजा होता है और धृतराष्ट्र को विशेष रूप से, उनके मिथ्या पद का तथा उन वास्तविक भयानक घटनाओं का, जो उस समय घट चुकी थीं, स्मरण दिलाया जा रहा था। विदुर ने उनसे तुरन्त ही इस अवस्था से बाहर निकल आने के लिए कहा, यदि वे तेजी से बढ़ने वाली इस भयावह परिस्थिति से बचना चाह रहे हों। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से इस प्रकार नहीं कहा, क्योंकि उन्हें पता था कि महाराज युधिष्ठिर इस विकट संसार की भयावह परिस्थति से अवगत हैं और कालक्रम में वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकेंगे, भले ही उस समय विदुर वहाँ उपस्थित न हों।

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।
स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रतिक्रिया—उपचार; न—नहीं है; यस्य—जिसका; इह—इस भौतिक संसार में; कुतश्चित्—किसी प्रकार से भी; कर्हिचित्—या किसी के द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; सः—वह; एषः—निश्चित रूप से; भगवान्—भगवान्; कालः—शाश्वत काल; सर्वेषाम्—सबों का; नः—हम सबका; समागतः—आया हुआ।

इस भौतिक संसार में कोई भी व्यक्ति इस भयावह स्थिति का निराकरण नहीं कर सकता। हे स्वामी, शाश्वत काल के रूप में, पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् हम सबों के पास आ पहुँचे हैं।

तात्पर्य : ऐसी कोई बेहतर शक्ति नहीं है, जो मृत्यु के क्रूर पंजे को रोक सके। किसी को चाहे कितना ही शारीरिक कष्ट क्यों न होता हो, तब भी कोई मरना नहीं चाहता। आज की तथाकथित ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति के समय में भी न तो बुढ़ापे का कोई उपचार है, न मृत्यु का। वृद्धावस्था क्रूर काल द्वारा दी गई मृत्यु के आगमन की सूचना है और कोई भी शाश्वत काल के बुलावे को या परम निर्णय को स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता है। यह सब धृतराष्ट्र को बताया जा रहा है, क्योंकि हो सकता है कि वे विदुर से इस आसन्न भयावह स्थिति से निपटने के लिए कोई उपचार ढूँढ़ निकालने के लिए कहें, जैसाकि वे इसके पूर्व कई बार कह चुके थे। किन्तु आज्ञा देने के पूर्व, विदुर ने धृतराष्ट्र को सूचित किया कि इस जगत में इसका किसी के पास या किसी साधन से कोई उपचार प्राप्त नहीं हो सकता। और चूँकि इस भौतिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, अतः मृत्यु भगवान् से अभिन्न है जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा है।

इस भौतिक जगत में मृत्यु को न तो किसी के द्वारा, न ही किसी साधन से रोका जा सकता है। हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था और उसने उग्र तपस्या की थी, जिससे सारा संसार थरथरा रहा था और ब्रह्मा स्वयं उसे ऐसी उग्र तपस्या से विरत कराने के लिए उसके पास गये थे। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से यह वर माँगा कि वह अमर हो जाय, किन्तु ब्रह्मा ने कहा कि वे स्वयं सर्वोच्च लोक में रहकर भी मृत्यु के अधीन हैं, अतएव वे उसे अमरत्व का वरदान कैसे दे सकते हैं? अतः इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक में भी मृत्यु है। फिर अन्य लोकों के विषय में तो कहना ही क्या, जो गुणता में ब्रह्मा के आवास के ग्रह ब्रह्मलोक से कहीं निम्न कोटि के हैं? जहाँ कहीं भी सनातन काल का प्रभाव है, वहीं-वहीं जन्म, रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु इन कष्टों की शृंखला का अस्तित्व है और ये सारे अपराजेय हैं।

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि ।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

येन—ऐसे काल द्वारा खींचा गया; च—तथा; एव—निश्चय ही; अभिपन्नः—पकड़ में या प्रभाव में; अयम्—यह; प्राणैः—जीवन से; प्रिय-तमैः—जो सबों को अत्यन्त प्रिय है; अपि—यद्यपि; जनः—व्यक्ति; सद्यः—शीघ्र; वियुज्येत—त्याग दे; किम् उत अन्यैः—अन्य वस्तु के विषय में क्या कहा जाय; धन-आदिभिः—यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर।

जो भी सर्वोपरि काल (शाश्वत समय) के प्रभाव में है, उसे अपना सबसे प्रिय जीवन काल को अर्पित करना पड़ता है, अन्य वस्तुओं यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर का तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : एक महान् भारतीय वैज्ञानिक जो आयोजन करने के कार्य में व्यस्त रहता था, जब योजना आयोग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेने जा रहा था, तो सहसा उसे अजेय काल का बुलावा आ गया और उसे अपना जीवन, पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, धन इत्यादि सब कुछ त्यागना पड़ा। भारत में राजनीतिक उथल-पुथल तथा पाकिस्तान एवं हिन्दुस्तान में इसके विभाजन के समय अनेक धनी तथा प्रभावशाली भारतीयों को काल के वश में आकर अपना जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान, सभी कुछ समर्पित कर देना पड़ा। सारे विश्व में, सारे ब्राह्मण्ड में, इस तरह के सैकड़ों-हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं, जो सारे काल के प्रभाव के कारण हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा शक्तिशाली जीव नहीं है, जो काल के प्रभाव को जीत सके। अनेक कवियों ने काल के प्रभाव के विषय में विलाप करते हुए कविताएँ लिखीं हैं। काल के प्रभाव से ही ब्रह्माण्डों में अनेक विनाश-की घटनाएँ होती रही हैं और कोई भी उन्हें किसी साधन से रोक नहीं पाया। यहाँ तक कि हमारे हररोज के जीवन में ऐसी अनेक बातें घटती रहती हैं, जिनमें हमारा वश नहीं चलता और हमें उन्हें सहना पड़ता है। उनका कोई निवारक उपाय नहीं होता। यही काल का परिणाम है।

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयम् ।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पितृ—पिता; भ्रातृ—भाई; सुहृत्—शुभचिन्तक; पुत्राः—पुत्र; हताः—सारे के सारे मृत; ते—आपके; विगतम्—निःशेष; वयम्—आयु; आत्मा—शरीर; च—भी; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्तः—अभिभूत, परास्त; पर-गेहम्—दूसरे के घर; उपाससे—जमे रहते हो।

आपके पिता, भाई, शुभचिन्तक तथा पुत्र सभी मर चुके हैं और दूर चले गये हैं। आपने स्वयं भी अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत कर लिया है, अब आपके शरीर को बुढ़ापे ने आ दबोचा है और आप पराए घर में पड़े हुए हैं।

तात्पर्य : राजा धृतराष्ट्र को क्रूर काल द्वारा वशीभूत उनकी गम्भीर दशा का स्मरण कराया जा रहा है। उन्हें अपने विगत अनुभव के कारण उन्हें अधिक बुद्धिमान हो जाना चाहिए था कि उनके जीवन में क्या घटित होने जा रहा है। उनके पिता, विचित्रवीर्य, काफी पहले मर चुके थे, जब वे तथा उनके छोटे भाई सभी छोटे-छोटे बालक थे। यह तो भीष्मदेव की देखरेख तथा सहृदयता का परिणाम था कि वे सभी अच्छी तरह पल सके। फिर उनके भाई पाण्डु भी चल बसे। तत्पश्चात्, उनके एक सौ पुत्र तथा सारे पौत्र, अपने अन्य समस्त हितैषि समेत, यथा भीष्मदेव, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा अन्य बहुत से राजाओं तथा मित्र सभी, कुरुक्षेत्र के युद्ध में काम आ चुके थे। इस प्रकार उनके सारे जन तथा उनका सारा धन नष्ट हो चुका था और अब वे अपने भतीजे की कृपा पर जीवित थे, जिसे उन्होंने सभी प्रकार की मुसीबतों में डाला था। इन सारी विफलताओं के बावजूद, वे सोच रहे थे कि वे अपना जीवन दीर्घ काल तक ऐसे ही चलाते रहेंगे। धृतराष्ट्र को विदुर यह बता देना चाहते थे कि हर एक को अपने कर्म तथा भगवत्कृपा द्वारा अपनी रक्षा करनी होती है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक अपना कर्म करना चाहिए, फल तो परमेश्वर पर आश्रित है। जो व्यक्ति परमेश्वर द्वारा रक्षित नहीं है, उसकी रक्षा न कोई मित्र, न सन्तानें, न पिता, न भाई, न राज्य या अन्य कोई कर सकता है। अतएव मनुष्य को भगवान् के संरक्षण की खोज करनी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य जीवन इसी खोज के लिए मिला है। उन्हें उनकी गम्भीर स्थिति की जानकारी निम्नलिखित शब्दों द्वारा और भी अधिक दी गई।

अन्धः पुरैव वधिरो मन्दप्रज्ञाश्च साम्प्रतम् ।
विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः सरागः कफमुद्वहन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्धः—अंधा; पुरा—प्रारम्भ से; एव—निश्चय ही; वधिरः—बहरा; मन्द-प्रज्ञाः—कुन्द स्मृति; च—तथा; साम्प्रतम्—हाल ही में; विशीर्ण—हिलते हुए; दन्तः—दाँत; मन्द-अग्निः—यकृत की क्रिया का कम होना; स-रागः—ध्वनि सहित; कफम्—कफ; उद्वहन्—निकलता हुआ।

आप जन्म से ही अन्धे रहे हैं और हाल ही में आप कुछ बहरे हो चुके हैं। आपकी स्मृति कम हो गई है और आपकी बुद्धि विचलित हो गई है। आपके दाँत हिल चुके हैं, आपका यकृत खराब हो चुका है और आपके कफ निकल रहा है।

तात्पर्य : वृद्धावस्था के सारे लक्षण धृतराष्ट्र में पहले से प्रकट हो चुके थे और उन सबों को एक-एक करके बतलाकर, उन्हें आगाह किया जा रहा है कि उनकी मृत्यु अत्यन्त निकट है; तो भी वे भविष्य के प्रति मूर्ख की तरह लापरवाह थे। धृतराष्ट्र के शरीर में इंगित किये गये सारे लक्षण *अपक्षय* के थे, अर्थात् मृत्यु के अन्तिम आघात के पूर्व शरीर के क्षय होने के लक्षण थे। यह शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है, बना रहता है, दूसरे शरीरों को जन्म देता है, उसका क्षय होता है और तब वह नष्ट हो जाता है। किन्तु मूर्ख लोग नश्वर शरीर के साथ स्थायी समझौता करना चाहते हैं और सोचते हैं कि उनकी जायदाद, सन्तानें, समाज, देश इत्यादि उन्हें संरक्षण प्रदान करेंगे। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों में आकर, वे ऐसे अस्थायी कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि उन्हें यह अस्थायी शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना है और समाज, मित्रता तथा प्यार की फिर नई व्यवस्था करनी है और अन्त में फिर से नष्ट हो जाना है। वे अपना स्थायी स्वरूप भूल जाते हैं और अपने मूल कर्तव्य को भूलकर अस्थायी कार्यों में सक्रिय हो जाते हैं। विदुर जैसे साधु-सन्त ऐसे लोगों को वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत करने के लिए उनके पास पहुँचते हैं, किन्तु वे ऐसे साधु-सन्तों को समाज पर आश्रित अवांछित तत्त्व समझते हैं और लगभग सभी उनकी बातें अनसुनी कर देते हैं, यद्यपि वे अपनी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले तथाकथित दिखावटी साधु-सन्तों का स्वागत करते रहते हैं। विदुर ऐसे साधु न थे, जो धृतराष्ट्र की दुर्भावना की तुष्टि करते। वे जीवन की वास्तविक स्थिति को सही-सही बता रहे थे और यह बता रहे थे कि ऐसी विपत्तियों से अपने आपको किस प्रकार बचाया जाए।

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यथा भवान् ।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; महीयसी—शक्तिमान; जन्तोः—जीवों की; जीवित-आशा—जीवन की उम्मीद; यथा—जिस तरह; भवान्—आप हैं; भीम—भीमसेन (युधिष्ठिर के भाई) के; अपवर्जितम्—जूठा; पिण्डम्—भोजन; आदत्ते—खाया गया; गृह-पाल-वत्—घेरलू कुत्ते के समान।

ओह! प्राणी में जीवित रहने की कितनी प्रबल इच्छा होती है! निश्चय ही आप एक घेरलू कुत्ते की भाँति रह रहे हैं और भीम द्वारा दिये गये जूठन को खा रहे हैं।

तात्पर्य : साधु को कभी भी सुखमय जीवन बिताने की इच्छा से, राजाओं या धनियों की चापलूसी नहीं करनी चाहिए। साधु को चाहिए कि वह गृहस्थों से जीवन के कटु सत्य के बारे में बताए, जिससे वे इस भौतिक अस्तित्व के संकटपूर्ण अनिश्चित जीवन के विषय में सचेत हो सकें। धृतराष्ट्र गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त वृद्ध पुरुष के जीते-जागते उदाहरण हैं। वे वास्तव में दरिद्र हो चुके थे, फिर भी वे पाण्डवों के घर में सुख-पूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। इनमें से भीमसेन का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र के दो प्रमुख पुत्रों—दुर्योधन तथा दुस्शासन का स्वयं वध किया था। ये दोनों पुत्र अपने छल-कपट एवं दुष्ट कार्यों के कारण उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और भीमसेन का विशेष उल्लेख इसलिए हुआ है, क्योंकि उसने इन दोनों प्रिय पुत्रों को मारा था। तो धृतराष्ट्र पाण्डवों के घर में क्यों रह रहे थे? क्योंकि सारा अपमान सहकर भी वे सुखपूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। अत: विदुर को आश्चर्य हो रहा था कि जीवित रहने की आशा कितनी प्रबल होती है। यह जीविताशा सूचित करती है कि जीव शाश्वत है और वह अपने शारीरिक निवासस्थान को बदलना नहीं चाहता। मूर्ख व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे यह शरीर सीमित अवधि के लिए बन्दी के रूप में बिताने के लिए मिला है और मनुष्य शरीर तो अनेकानेक जन्मांतरों के बाद मिलता है, जो भगवद्धाम वापस जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार का सुअवसर होता है। लेकिन धृतराष्ट्र जैसे व्यक्ति, लाभ-सहित सुखी रहकर जीवित रहने की योजनाएँ बनाते हैं, क्योंकि उन्हें असली रूप में ज्ञान नहीं होता। धृतराष्ट्र अन्धे थे और जीवन की समस्त विषमताओं के बीच वे सुखपूर्वक जीवित रहने की आशा लगाये हुए थे। विदुर जैसे साधु ऐसे अंधे व्यक्तियों को सावधान करने के लिए तथा शाश्वत जीवन बिताने के लिए भगवद्-धाम जाने में सहायता करने के लिए होते हैं। एक बार वहाँ जाकर कोई इस दुखमय संसार में वापस नहीं आना चाहता। अतएव हम सोच सकते हैं कि महात्मा विदुर जैसे साधु पुरूषों को कितना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने के लिए सौंपा जाता है।

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; निसृष्टः—लगाया हुआ; दत्तः—दिया हुआ; च—तथा; गरः—विष; दाराः—विवाहिता स्त्री; च—तथा; दूषिताः—अपमानित; हृतम्—बलपूर्वक छीना गया; क्षेत्रम्—राज्य; धनम्—सम्पत्ति; येषाम्—जिनका; तत्—उनका; दत्तैः—दिया गया; असुभिः—जीने में; कियत्—अनावश्यक है।

आपने अग्नि लगाकर तथा विष देकर जिन लोगों को मारना चाहा, उन्हीं के दान पर आपको जीवित रहने तथा गिरा हुआ जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं है। उनकी एक पत्नी को भी आपने अपमानित किया है और उनका राज्य तथा धन छीन लिया है।

तात्पर्य : *वर्णाश्रम धर्म* पद्धति में मनुष्य जीवन का एक अंश पूर्णतया आत्म-साक्षात्कार के हेतु तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सुरक्षित रहता है। यह जीवन काल का सामान्य विभाजन है, लेकिन धृतराष्ट्र-जैसे लोग वृद्धावस्था में भी घर में बने रहना चाहते हैं, भले ही दुश्मन से दान स्वीकार करके अधम जीवन ही क्यों न बिताना पड़े। विदुर यह बताना चाह रहे थे और धृतराष्ट्र पर जोर डालना चाहते थे कि इस तरहअपमानित होकर दान स्वीकार करने की अपेक्षा अपने पुत्रों की भाँति मर जाना अधिक श्रेयस्कर है। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व एक धृतराष्ट्र था, लेकिन इस समय तो घर-घर में धृतराष्ट्र हैं! राजनेता तो विशेष रूप से राजनैतिक गतिविधियों से तब तक अवकाश नहीं लेते, जब तक क्रूर मृत्यु उन्हें घसीटकर नहीं ले जाती या कोई विरोधी तत्त्व उन्हें मार नहीं डालता। अपने मनुष्य जीवन के अन्त तक गृहस्थ जीवन में चिपके रहना सबसे निपट अधमता है। अतएव इस समय भी ऐसे विदुरों की आवश्यकता है, जो धृतराष्ट्रों को मार्ग दिखा सकें।

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥ २५॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—के बावजूद; तव—तुम्हारा; देहः—शरीर; अयम्—यह; कृपणस्य—कंजूस का; जिजीविषोः—जीवन की इच्छा करनेवाले का; परैति—क्षीण हो जाएगा; अनिच्छतः—न चाहते हुए भी; जीर्णः—टूटा-फूटा; जरया—पुराने; वाससी—वस्त्रों; इव—सदृश।

मरने के लिए आपकी अनिच्छा होने तथा आत्म-सम्मान की बलि देकर जीवित रहने की आपकी इच्छा होने पर भी, आपका यह कृपण शरीर निश्चय ही क्षीण होगा तथा पुराने वस्त्र की भाँति नष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : *कृपणस्य जिजीविषोः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्यों के दो वर्ग होते हैं—एक *कृपण* कहलाते हैं और दूसरे *ब्राह्मण*। *कृपण* अर्थात् कंजूस अपने भौतिक शरीर का कोई मूल्यांकन नहीं कर पाता, किन्तु ब्राह्मण अपना तथा अपने शरीर का पूरा-पूरा मूल्यांकन कर सकता है। कृपण अपने शरीर का गलत मूल्यांकन करने के कारण, इन्द्रियतृप्ति का भरपूर ताकत से भोग करना चाहता है और बुढ़ापे में भी औषधियों के उपचार से या किसी अन्य तरह से जवान बनना चाहता है। धृतराष्ट्र को यहाँ पर कृपण कहा गया है, क्योंकि वह अपने शरीर का कोई मूल्यांकन किये बिना येन-केन-प्रकारेण जीवित रहना चाहता है। विदुर उसकी आँखें खोलना चाह रहे हैं कि वह निश्चित अवधि से अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता और अब उसे मरने के लिए तैयार रहना चाहिए। चूँकि मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो उसे जीवित रहने के लिए ऐसी अपमाजनक स्थिति का स्वीकार क्यों करना चाहिए? श्रेयस्कर तो यही है कि मृत्यु की जोखिम उठाते हुए भी समुचित राह पकड़ी जाय। यह मनुष्य जीवन भौतिक अस्तित्त्व के सारे दुखों को समाप्त करने के लिए मिला है और जीवन को इस प्रकार नियमित बनाना चाहिए कि वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सके। धृतराष्ट्र, जीवन के प्रति गलत धारणा के कारण, अपनी अर्जित शक्ति का अस्सी प्रतिशत भाग पहले ही गँवा चुके थे, अतएव उन्हें कृपण जीवन के अन्तिम दिनों का सदुपयोग परम कल्याण के लिए करना चाहिए। ऐसा जीवन कृपण कहलाता है, क्योंकि इस तरह कोई मनुष्य जीवन की सारी निधियों का सही-सही उपयोग नहीं कर पाता। सौभाग्य से ही, ऐसे कृपण मनुष्य की विदुर जैसे स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से भेंट होती है और उसके उपदेश से भवसागर के अज्ञान से छुटकारा प्राप्त होता है।

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गत-स्व-अर्थम्—ठीक से उपयोग किये बिना; इमम्—इस; देहम्—भौतिक शरीर को; विरक्तः—अन्यमनस्क; मुक्त—मुक्त होकर; बन्धनः—सारे बन्धनों से; अविज्ञात-गतिः—अज्ञात लक्ष्य; जह्यात्—इस शरीर को त्याग देना चाहिए; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निश्चय ही; धीरः—अविचल; उदाहृतः—कहलाता है।.

वह धीर कहलाता है, जो किसी अज्ञात सुदूर स्थान को चला जाए और जब यह भौतिक शरीर व्यर्थ हो जाए, तब सारे बन्धनों से मुक्त होकर अपने शरीर को त्यागता है।

तात्पर्य : महान् भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है, "हे भगवान्! मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। मनुष्य शरीर पाने पर भी, मैंने आपकी उपासना की उपेक्षा की है, अत: मैंने जानबूझ कर विषपान किया है।" दूसरे शब्दों में, मनुष्य का शरीर विशेष रूप से भगवान् की भक्तिमय सेवा के ज्ञान के अनुशीलन के लिए मिला है, जिसके बिना जीवन चिन्ताओं से भरा तथा कष्टमय बन जाता है। अतएव जिसने ऐसे सांस्कृतिक कार्यकलापों के बिना ही अपना जीवन गवाँ दिया हो, तो उसे सलाह दी जाती है कि वह मित्रों तथा सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़ दे और इस तरह परिवार, समाज, देश इत्यादि के बन्धनों से मुक्त हो ले तथा ऐसे अज्ञात स्थान में शरीर का त्याग करे, जिससे लोग यह न जान सकें कि कब और कैसे उसकी मृत्यु हुई। *धीर* का अर्थ है, जो बहुत उत्तेजित किये जाने पर भी विचलित न हो। मनुष्य अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अपने स्नेहमय सम्बन्धों के कारण सुखमय गृहस्थ जीवन का त्याग नहीं कर पाता। परिवार के प्रति ऐसे व्यर्थ के स्नेह से आत्म-साक्षात्कार अवरूद्ध हो जाता है और जो कोई ऐसे सम्बन्ध को भुलाने में समर्थ होता है, वह *धीर* कहलाता है। किन्तु यह तो हताश जीवन का वैराग्य-पथ है। ऐसे वैराग्य का स्थिरीकरण प्रामाणिक सन्तों तथा स्वरूप-सिद्ध महात्माओं के सान्निध्य से ही सम्भव है, जिससे मनुष्य भगवद्भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। दिव्य सेवाभाव को जागृत करके भगवान् के चरणकमलों में एकनिष्ठ शरणागति सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा सम्भव हो पाता है। धृतराष्ट्र भाग्यशाली थे कि उनका ऐसा भाई था, जिसकी संगति उनके हताश जीवन के लिए मुक्ति का साधन थी।

य: स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥ २७॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; स्वकात्—अपने जागरण से; परतः वा—अथवा अन्यों से सुनकर; इह—इस संसार में; जात—बनता है; निर्वेदः—भौतिक आसक्ति के प्रति अन्यमनस्क; आत्मवान्—चेतना; हृदि—हृदय के भीतर; कृत्वा—ग्रहण किया जाकर; हरिम्—भगवान् को; गेहात्—घर से; प्रव्रजेत्—बाहर चला जाता है; सः—वह; नर-उत्तमः—प्रथम कोटि का मनुष्य है।

अपने आप से या दूसरे के समझाने से जो व्यक्ति जाग जाता है और इस भौतिक जगत की असत्यता तथा दुखों को समझ लेता है तथा अपने हृदय के भीतर निवास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित होकर घर त्याग देता है, वह निश्चय ही उत्तम कोटि का मनुष्य है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादीयों की तीन श्रेणियाँ हैं—(१) *धीर* अर्थात् वह जो पारिवारिक संगति से दूर रहने के कारण विचलित नहीं होता, (२) *संन्यासी* जो हताश भावना के कारण विरक्त जीवन बिताता है; तथा (३) निष्ठावान भगवद्भक्त, जो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ईश्वर-चेतना जगाता है और हृदय में वास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहकर गृह-त्याग कर देता है। भाव यह है कि भौतिक जगत में हताश भावनामय जीवन के बाद संन्यास आत्म-साक्षात्कार के मार्ग का प्रथम सोपान हो सकता है, *किन्तु मुक्ति-मार्ग में वास्तविक सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य उन भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास कर लेता है,* जो परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित रहते हैं। वह, भले ही घर के परे गहन अंधकारमय जंगल में क्यों न रहे, किन्तु धीर भक्त अच्छी तरह जानता है कि वह अकेला नहीं है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सदैव अपने सच्चे भक्त के साथ रहते हैं और किसी भी विषम परिस्थिति में उसकी रक्षा करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् के पवित्र नाम, रूप, लीलाओं, पार्षदों आदि का श्रवण तथा कीर्तन करते हुए घर पर ही भक्ति का अभ्यास करे और यह अभ्यास उसकी निष्ठा के अनुसार उसमें ईश्वर-चेतना जगाने में सहायता करता है। जो व्यक्ति ऐसे कार्यों के द्वारा भौतिक लाभ चाहता है, वह कभी भी भगवान् पर आश्रित नहीं रह सकता, यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में वास करनेवाले हैं। न ही, उन लोगों को जो इस तरह के भौतिक लाभ के लिये भगवान् की पूजा करते हैं, भगवान् कोई निर्देश देते हैं। ऐसे भौतिकतावादी भक्तों को भगवान् भौतिक लाभ का वर दे सकते हैं, किन्तु वे कभी भी उत्तमकोटि के पुरुषों की कोटि को प्राप्त नहीं कर पाते, जैसाकि ऊपर बताया गया है। विश्व के इतिहास में, विशेष रूप से भारत में, ऐसे निष्ठावान भक्तों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं और वे सब आत्म-साक्षात्कार के पथ में हमारे

मार्गदर्शक हैं। महात्मा विदुर ऐसे ही एक महान् भक्त हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिये हमें उनके कमल सदृश चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिये।

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।
इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; उदीचीम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा को; यातु—चले जाइये; स्वैः—अपने सम्बन्धियों द्वारा; अज्ञात—जाने बिना; गतिः—गतिविधियाँ; भवान्—आपकी; इतः—इसके बाद; अर्वाक्—सूत्रपात होगा; प्रायशः—सामान्यतया; कालः—काल, समय; पुंसाम्—मनुष्यों के; गुण—गुण; विकर्षणः—ह्रास।

अतएव कृपया आप अपने कुटुम्बियों को बताये बिना, तुरन्त उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दीजिए, क्योंकि शीघ्र ही ऐसा समय आनेवाला है, जिसमें मनुष्य के सद्गुणों का ह्रास होगा।

तात्पर्य : मनुष्य धीर बनकर या अपने सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़कर, हताश जीवन की क्षतिपूर्ति कर सकता है और विदुर ने अपने अग्रज को अविलम्ब इस मार्ग को अपनाने की सलाह दी, क्योंकि कलियुग का शीघ्र ही आगमन होने वाला था। बद्धजीव भौतिक संसर्ग के कारण पहले से पतित हुआ होता है और कलियुग में तो मनुष्य के सद्गुण निम्नतम स्तर तक पहुँच चुके होंगे। उन्हें सलाह दी गई है कि कलियुग के आगमन के पूर्व ही वे घर छोड़ दें, क्योंकि विदुर ने जीवन के कई सत्य के विषय में अपने बहुमूल्य उपदेशों द्वारा जो वातावरण उत्पन्न किया था, वह कलियुग के तेजी से निकट आने के कारण लुप्त हो जाएगा। सामान्य व्यक्ति के लिए, *नरोत्तम* बनना अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण पर पूर्णतया निर्भर रहनेवाला उत्तम कोटि का मनुष्य बनना सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२८) में कहा गया है कि जो व्यक्ति पापकर्मों के दूषणों से पूर्णतया रहित हो जाता है, वही भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित रह सकता है। धृतराष्ट्र को विदुर ने सलाह दी कि यदि वे *संन्यासी* या *नरोत्तम* नहीं बन सकते, तो प्रारम्भ में कम से कम *धीर* तो बन लें। *धीर* अवस्था से *नरोत्तम* अवस्था प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। धीर अवस्था योग-पद्धति के दीर्घकालीन अभ्यास से, प्राप्त होती है, किन्तु विदुर की कृपा से धीर अवस्था के साधनों के ग्रहण करने

की इच्छा करने से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है, जो संन्यास की प्रारम्भिक अवस्था है। *संन्यास* अवस्था *परमहंस* अवस्था अर्थात् प्रथम श्रेणी के भक्त की प्रारम्भिक अवस्था है।

एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; राजा—राजा धृतराष्ट्र; विदुरेण अनुजेन—अपने छोटे भाई विदुर द्वारा; प्रज्ञा—आत्मनिरीक्षण का ज्ञान; चक्षुः—आँखें; बोधितः—समझी जाकर; आजमीढः—धृतराष्ट्र, जो आजमीढ़ वंश की संतान थे; छित्त्वा—तोड़कर; स्वेषु—सम्बन्धियों के विषय में; स्नेह-पाशान्—स्नेह के बन्धनों को; द्रढिम्नः—दृढ़ता के कारण; निश्चक्राम—बाहर चले गये; भ्रातृ—अपने भाई द्वारा; सन्दर्शित—दिखलाये हुए; अध्वा—मुक्तिपथ।

इस प्रकार आजमीढ़ के वंशज महाराज धृतराष्ट्र ने आत्मनिरीक्षणयुक्त ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा पूर्णतः आश्वस्त होकर तुरन्त ही अपने दृढ़ संकल्प से पारिवारिक स्नेह के सारे दृढ़ पाश तोड दिये। तत्पश्चात् वे तत्काल घर छोड़कर, अपने छोटे भाई विदुर द्वारा दिखलाये गये मुक्ति-पथ पर निकल पड़े।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के सिद्धान्तों के महान् प्रचारक भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति पर विशेष बल दिया है। उन्होंने बताया है कि शुद्ध भक्त के साथ एक क्षण की संगति से भी उसे सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हम यह स्वीकार करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं हैं कि हमने अपने व्यावहारिक जीवन में ऐसा ही अनुभव किया है। यदि कुछ मिनट की प्रथम भेंट के समय कृष्ण कृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज की कृपा न हुई होती, तो अंग्रेजी में *श्रीमद्भागवत* के वर्णन का यह गुरुतर कार्य स्वीकार कर पाना हमारे लिए असम्भव होता। उस उपयुक्त क्षण में उनका दर्शन किये बिना हम एक धुरंधर व्यापारी होते, किन्तु मुक्ति के मार्ग पर चलने तथा अपने गुरु के आदेशानुसार भगवान् की सेवा करने के मार्ग पर अग्रसर होने में कभी समर्थ न हुए होते। और यहाँ पर प्रस्तुत है दूसरा व्यावहारिक उदाहरण—धृतराष्ट्र के साथ विदुर की संगति का प्रभाव। महाराज धृतराष्ट्र राजनीति, अर्थशास्त्र तथा पारिवारिक आसक्ति से सम्बद्ध भौतिक आकर्षण के जाल में मजबूती से बँधे हुए थे और अपनी सुनियोजित परियोजनाओं को सफल बनाने के लिये उन्होंने पूरी शक्ति से कार्य किया, किन्तु उन्हें अपने भौतिक कार्यकलापों में अथ से इति तक,

हताशा ही हाथ लगी। इसके बावजूद, अपने जीवन की विफलताओं के होते हुए भी, उन्होंने आदर्श साधु के प्रतीक समान भगवान् के शुद्ध भक्त के शक्तिशाली उपदेशों से आत्म-साक्षात्कार में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की। अतएव शास्त्रों का आदेश है कि केवल साधुओं की संगति करनी चाहिये और अन्य समस्त प्रकार की संगतियों का तिरस्कार कर देना चाहिए। ऐसा करने से साधुओं से श्रवण करने के लिए पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हो सकेगा, जो इस भौतिक जगत में माया के स्नेह-बन्धन को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। तथ्य यह है कि यह भौतिक जगत महान् मोह (भ्रम) है, क्योंकि इसमें प्रत्येक वस्तु यथार्थ सत्य प्रतीत होती है, लेकिन दूसरे ही क्षण वह समुद्र के उफनते फेन की भाँति या आकाश में बादलों की भाँति छूमन्तर हो जाती है। आकाश में बादल सचमुच ही वास्तविक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनसे वर्षा होती है और वर्षा के कारण बहुत सारी क्षणभंगुर हरी-हरी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु काल-क्रम में बादल, वर्षा तथा हरी-हरी वनस्पतियाँ सब कुछ विलुप्त हो जाता हैं। लेकिन आकाश बना रहता है और आकाश में चमचमाते तारे हमेशा ही बने रहते हैं। इसी प्रकार परम सत्य जिसकी उपमा आकाश से दी जाती है, शाश्वत बने रहते हैं और बादल स्वरूप मोह (भ्रम) आता तथा जाता रहता है। मूर्ख जीव क्षणिक बादल के प्रति आकृष्ट होते हैं, लेकिन जो बुद्धिमान हैं, वे शाश्वत आकाश तथा वहाँ की समस्त विविधता से सरोकार रखते हैं।

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री
पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सत्सम्प्रहार: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति को; प्रयान्तम्—घर त्यागते समय; सुबलस्य—राजा सुबल की; पुत्री—योग्य पुत्री; पति-व्रता—अपने पति को समर्पित; च—भी; अनुजगाम—पीछे-पीछे गई; साध्वी—सती; हिमालयम्—हिमालय पर्वत की ओर; न्यस्त-दण्ड—संन्यास आश्रम के दण्ड को स्वीकार करनेवाला; प्रहर्षम्—हर्ष का विषय; मनस्विनाम्—महान् योद्धाओं का; इव—सदृश; सत्—वैध; सम्प्रहार:—अच्छी पिटाई।

कन्दहार (गान्धार) के राजा सुबल की पुत्री, परम साध्वी गान्धारी ने जब यह देखा कि उसके पति हिमालय पर्वत की ओर जा रहे हैं, जो कि संन्यासियों को वैसा ही आनन्द देता है

जैसा कि युद्ध के मैदान में योद्धा को शत्रुओं के प्रहार से प्राप्त होता है, तो वह भी अपने पति के पीछे-पीछे चल पड़ीं।

तात्पर्य : सुबल की पुत्री तथा राजा धृतराष्ट्र की पत्नी, सौबलिनी अर्थात् गान्धारी, अत्यन्त पति-परायणा आदर्श पत्नी थीं। वैदिक सभ्यता में साध्वी तथा पतिव्रता स्त्रियाँ होती थीं, जिनमें से गान्धारी का भी वर्णन इतिहास में पाया जाता है। लक्ष्मीजी सीता देवी एक महान् राजा की पुत्री होते हुए भी अपने पति भगवान् रामचन्द्र के पीछे-पीछे जंगल गईं। इसी प्रकार सामान्य स्त्री की तरह, गान्धारी अपने घर या मायके में रह सकती थीं, किन्तु साध्वी तथा भद्र महिला की भाँति, बिना कुछ विचार किये उन्होंने अपने पति का अनुसरण किया। विदुर ने धृतराष्ट्र को वानप्रस्थ आश्रम के उपदेश दिये थे और गान्धारी अपने पति के साथ-साथ रहीं। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि तुम मेरे साथ चलो, क्योंकि उस समय वे उसी तरह दृढ़-संकल्प थे, जिस प्रकार एक महान् योद्धा युद्धभूमि में सभी प्रकार के खतरों को झेलता है। वे तथाकथित पत्नी या सम्बन्धियों के प्रति अब तनिक भी आकृष्ट न थे, उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया था, किन्तु साध्वी नारी के रूप में गांधारी ने अन्तिम क्षण तक अपने पति का अनुसरण करने का निश्चय किया। महाराज धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर लिया। इस अवस्था में स्त्री को स्वेच्छा से सेविका-रूप में साथ रहने की अनुमति है, लेकिन संन्यास आश्रम में कोई भी पत्नी अपने पूर्व पति के साथ नहीं रह सकती। नागरिकता की दृष्टि से, संन्यासी मृत मनुष्य समझा जाता है, अतएव उसकी स्त्री अपने पूर्व पति से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने के कारण विधवा हो जाती है। महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी श्रद्धालु पत्नी को मना नहीं किया और वह स्वेच्छा से अपने पति का अनुसरण करती रही।

संन्यासी लोग संन्यास आश्रम के प्रतीक-स्वरूप दण्ड धारण करते हैं। संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। जो श्रीपाद शंकराचार्य के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते हैं, वे केवल एक दण्ड स्वीकार करते हैं (*एक-दण्डी*), किन्तु जो वैष्णव दर्शन का पालन करते हैं, वे तीन संयुक्त दण्ड धारण करते हैं (*त्रि-दण्डी*)। मायावादी संन्यासी एक-दण्डी स्वामी होते हैं जबकि वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी स्वामी, या और स्पष्टता से कहा जाए तो त्रि-दण्डी गोस्वामी कहलाते हैं, जिससे मायावादी चिन्तकों से अन्तर किया जा सके। एक-दण्डी स्वामी अधिकांशतया हिमालय के प्रेमी होते हैं, लेकिन वैष्णव संन्यासी

वृन्दावन तथा पुरी के लिये इच्छुक रहते हैं। वैष्णव संन्यासी *नरोत्तम* होते हैं जबकि मायावादी संन्यासी *धीर* होते हैं। महाराज धृतराष्ट्र को *धीरों* का अनुगमन करने की सलाह दी गई थी, क्योंकि उस अवस्था में उनके लिये *नरोत्तम* बन पाना कठिन था।

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
विप्रान्नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चापश्यत्पितरौ सौबलीं च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अजात—जो कभी जन्मा नहीं; शत्रुः—शत्रु; कृत—किया गया; मैत्रः—देवताओं की पूजा करना; हुत-अग्निः—अग्नि में; विप्रान्—ब्राह्मणों को; नत्वा—नमस्कार करके; तिल-गो-भूमि-रुक्मैः—अन्न, गौवों, भूमि तथा स्वर्ण के साथ; गृहम्—महल के भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; गुरु-वन्दनाय—गुरुजनों को नमस्कार करने के लिये; न—नहीं; च—भी; अपश्यत्—देखा; पितरौ—अपने चाचाओं को; सौबलीम्—गांधारी को; च—भी।.

अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर ने वन्दना करके, सूर्यदेव को अग्नि-यज्ञ अर्पित करके तथा ब्राह्मणों को नमस्कार करके एवं उन्हें अन्न, गाय, भूमि तथा स्वर्ण अर्पित करके, अपने नैत्यिक प्रातःकालीन कर्म किये। तत्पश्चात् वे गुरुजनों का अभिवादन करने के लिए राजमहल में प्रविष्ट हुए। किन्तु उन्हें न तो उनके ताऊ मिले, न ही राजा सुबल की पुत्री (गांधारी) अर्थात् ताई मिलीं।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त पवित्र राजा थे, क्योंकि वे स्वयं गृहस्थ के सारे नैत्यिक कर्म किया करते थे। गृहस्थों को प्रातःकाल जल्दी जगना होता है और स्नान करने के बाद, उन्हें प्रार्थना से, अग्नि में आहुति से, ब्राह्मणों को भूमि, गौवें, अन्न, सोना, इत्यादि का दान देकर तथा गुरुजनों को सादर नमस्कार करके अर्चा-विग्रह को अभिवादन करना होता है। जो व्यक्ति, शास्त्रों द्वारा नियत आदेशों का पालन करने को तैयार नहीं होते, वे केवल किताबी ज्ञान से उत्तम व्यक्ति (नरोत्तम) नहीं बन सकते। आधुनिक गृहस्थों को विभिन्न प्रकार की जीवन-शैलियों की आदत हो गई है, जैसे कि देर से जगना और फिर बिना किसी प्रकार की उपरिवर्णित शुद्धि के बिस्तर में लेटे-लेटे चाय पीना। घर के बच्चे अपने माता-पिता को जो कुछ करते देखते हैं, उसी का अभ्यास करते हैं, अतएव सारी की सारी पीढ़ी का नर्क की ओर पतन होता है। जब तक वे साधु की संगति नहीं करते, तब तक उनसे किसी अच्छाई

की आशा नहीं की जा सकती। भौतिकतावादी मनुष्य, धृतराष्ट्र की भाँति, विदुर जैसे साधु से शिक्षा ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार आधुनिक जीवन के दुष्प्रभावों से शुद्ध हो सकता है।

लेकिन महाराज युधिष्ठिर को राजमहल में, राजा सुबल की पुत्री गांधारी समेत, उनके चाचा-ताऊ-धृतराष्ट्र तथा विदुर—नहीं मिले। वे उन्हें मिलने को आतुर थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र के निजी सचिव सञ्जय से पूछा।

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; सञ्जयम्—संजय को; आसीनम्—बैठा; पप्रच्छ—पूछा; उद्विग्न-मानसः—चिन्ता से पूरित; गावल्गणे—गवल्गण पुत्र, सञ्जय; क्व—कहाँ हैं; नः—हमारा; तातः—ताऊ; वृद्धः—बूढ़ा; हीनः च—तथा विहीन; नेत्रयोः—आँखों से।

चिन्ता से पूरित महाराज युधिष्ठिर संजय की ओर मुड़े, जो वहाँ बैठे थे और उनसे पूछा : हे संजय, हमारे वृद्ध तथा अंधे ताऊ कहाँ हैं?

अम्बा च हतपुत्रार्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् ।
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया ।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अम्बा—माता, ताई; च—तथा; हत-पुत्रा—जिनके सारे पुत्र मारे जा चुके थे; आर्ता—अत्यन्त दुखी; पितृव्यः—चाचा विदुर; क्व—कहाँ; गतः—गये हुए; सुहृत्—शुभ-चिन्तक; अपि—क्या; मयि—मुझको; अकृत-प्रज्ञे—कृतघ्न; हत-बन्धुः—जिसके सारे पुत्र नहीं रहे हों; सः—धृतराष्ट्र; भार्यया—अपनी पत्नी सहित; आशंसमानः—संशय-युक्त मन में; शमलम्—अपराध; गङ्गायाम्—गंगा-जल में; दुःखितः—मन में दुखी; अपतत्—गिर पड़े।

मेरे शुभचिन्तक चाचा विदुर तथा अपने सभी पुत्रों के निधन से अत्यन्त शोकाकुल माता गांधारी कहाँ हैं? मेरे ताऊ धृतराष्ट्र भी अपने समस्त पुत्रों तथा पौत्रों की मृत्यु के कारण शोकार्त थे। निस्सन्देह, मैं अत्यन्त कृतघ्न हूँ। अतएव, क्या वे मेरे अपराधों को अत्यन्त गम्भीर मानकर अपनी पत्नी-सहित गंगा में कूद पड़े?

तात्पर्य : पाण्डवों ने और विशेष रूप से महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन ने, कुरुक्षेत्र युद्ध के परवर्ती प्रभावों की पूर्ण कल्पना कर ली थी, अतएव अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था। यह युद्ध

भगवान् की इच्छा से हुआ, लेकिन पारिवारिक शोक के प्रभाव उसी तरह सत्य उतरे, जैसा उन्होंने पहले से सोच रखा था। महाराज युधिष्ठिर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा ताई गांधारी की दुर्दशा के प्रति सदैव सचेत थे। अतएव उनकी वृद्धावस्था में तथा दुखी अवस्थाओं में, वे उनकी यथा-सम्भव देखभाल करते रहते थे। अतएव जब उन्हें राजमहल में अपने ताऊ तथा ताई नहीं मिले, तो स्वाभाविक था कि उन्हें सन्देह हुआ और उन्होंने सोचा कि वे गंगा की धारा में डूब गये। उन्होंने अपने आपको कृतघ्न माना, क्योंकि जब सारे पाण्डव पितृ-विहीन थे, तब महाराज धृतराष्ट्र ने रहने के लिए उन्हें सारी राजसी सुविधाएँ प्रदान की थीं, किन्तु एक वे हैं कि बदले में उन्होंने धृतराष्ट्र के सारे पुत्रों को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मार डाला। पुण्यात्मा के रूप में, महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे अपरिहार्य दुष्कर्मों पर विचार किया, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने ताऊ तथा उनके दल के दुष्कर्मों के विषय में नहीं सोचा। धृतराष्ट्र भगवान् की इच्छा से ही अपने दुष्कर्मों के फल भोग चुके थे, लेकिन महाराज युधिष्ठिर अपने अपरिहार्य दुष्कर्मों के ही विषय में सोच रहे थे। एक श्रेष्ठ मनुष्य तथा भगवद्भक्त का ऐसा ही स्वभाव होता है। एक भक्त कभी भी दूसरों में दोष नहीं निकालता, अपितु अपने ही दोषों को खोजने का प्रयास करता है और जहाँ तक सम्भव होता है, उन्हें सुधारने का प्रयास करता है।

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पितरि—मेरे पिता के; **उपरते**—मरने पर; **पाण्डौ**—महाराज पाण्डु के; **सर्वान्**—समस्त; **नः**—हम सबों का; **सुहृदः**—शुभचिन्तक; **शिशून्**—छोटे छोटे बालकों को; **अरक्षताम्**—रक्षा की; **व्यसनतः**—सभी प्रकार के संकटों से; **पितृव्यौ**—दोनों चाचाओं ने; **क्व**—कहाँ; **गतौ**—चले गये; **इतः**—इस स्थान से।.

जब मेरे पिता पाण्डु की मृत्यु हो गई और हम सभी छोटे-छोटे बालक थे, तो इन दोनों चाचा-ताऊ ने हमें समस्त प्रकार की विपत्तियों से बचाया था। वे सदैव हमारे शुभचिन्तक रहे। हाय! वे यहाँ से कहाँ चले गये?

सूत उवाच
कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्शितः ।

आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृपया—करुणा से; स्नेह-वैक्लव्यात्—अत्यधिक स्नेह के कारण मानसिक असंतुलन से; सूतः—सञ्जय; विरह-कर्शितः—वियोग से दुखी; आत्म-ईश्वरम्—अपने स्वामी को; अचक्षाणः—न देखने से; न—नहीं; प्रत्याह—उत्तर दिया; अति-पीडितः—अत्यधिक दुखी होकर।

सूत गोस्वामी ने कहा : करुणा तथा मानसिक क्षोभ के कारण, संजय अपने स्वामी धृतराष्ट्र को न देखने से अत्यन्त दुखी थे, अतएव वे महाराज युधिष्ठिर को ठीक से उत्तर नहीं दे सके।

तात्पर्य : सञ्जय दीर्घकाल तक महाराज धृतराष्ट्र के निजी सहायक रहे, अतएव उन्हें धृतराष्ट्र के जीवन का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। अत: जब उन्होंने देखा कि उनकी जानकारी के बिना धृतराष्ट्र घर से चले गये, तो उनके शोक का ठिकाना नहीं रहा। वे धृतराष्ट्र के प्रति अत्यन्त करुणामय थे, क्योंकि कुरुक्षेत्र युद्धरूपी जुए में, वे सर्वस्व, सारे पुरुष तथा धन, हार चुके थे और अन्त में राजा तथा रानी को हताशा में घर छोड़ देना पड़ा। उन्होंने इस परिस्थिति का अध्ययन अपने ढंग से किया, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात न था कि विदुर द्वारा धृतराष्ट्र की अन्तर्दृष्टि जगाई जा चुकी है और वे गृह-रूपी अंधे कुएँ से निकल कर श्रेष्ठतर जीवन बिताने के लिए घर छोड़ गए हैं। जब तक किसी को इस जीवन के त्याग के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की आशा नहीं होती, तब तक वह केवल कृत्रिम वेश में, अथवा घर से बाहर रह कर संन्यासी-जीवन में चिपका नहीं रह सकता।

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विमृज्य—पोंछ कर; अश्रूणि—आँखों के आँसुओं को; पाणिभ्याम्—अपने हाथों से; विष्टभ्य—स्थित; आत्मानम्—मन को; आत्मना—बुद्धि से; अजात-शत्रुम्—महाराज युधिष्ठिर को; प्रत्यूचे—उत्तर देने लगा; प्रभोः—अपने स्वामी के; पादौ—पाँवों का; अनुस्मरन्—चिन्तन करते हुए।

पहले उन्होंने बुद्धि द्वारा अपने मन को शान्त किया, फिर अश्रु पोंछते हुए तथा अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का स्मरण करते हुए, वे महाराज युधिष्ठिर को उत्तर देने लगे।

सञ्जय उवाच
नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।

गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; **न**—नहीं; **अहम्**—मैं; **वेद**—जानता हूँ; **व्यवसितम्**—संकल्प; **पित्रोः**—चाचाओं का; **वः**—आपके; **कुल-नन्दन**—हे कुरुवंश की सन्तान; **गान्धार्याः**—गान्धारी का; **वा**—अथवा; **महा-बाहो**—हे महान् राजा; **मुषितः**—धोखा दिया गया, ठगा गया; **अस्मि**—हूँ; **महा-आत्मभिः**—उन महात्माओं द्वारा।

संजय ने कहा : हे कुरुवंशी, मुझे आपके दोनों ताउओं तथा गान्धारी के संकल्प का कुछ भी पता नहीं है। हे राजन्, उन महात्माओं द्वारा मैं तो ठगा गया।

तात्पर्य : यह जानकर आश्चर्य होगा कि महात्मा अन्यों को धोखा देते (ठगते) हैं, किन्तु यह तथ्य है कि महात्मा महत् कार्य के लिए अन्यों को ठगते हैं। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को सलाह दी थी कि वे द्रोणाचार्य के समक्ष असत्य बोलें और यह भी एक महान् उद्देश्य के लिए था। चूँकि भगवान् इसे चाहते थे, अतः यह महान् उद्देश्य था। जो प्रामाणिक भक्त है, उसके समक्ष एकमात्र कसौटी है भगवान् की प्रसन्नता और उसके जीवन की चरम सिद्धि यह है कि अपने धर्म द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया जाय। यह *गीता* तथा *भागवत* का निर्णय है।* गांधारी समेत धृतराष्ट्र तथा विदुर ने, संजय से अपना संकल्प प्रकट नहीं किया, यद्यपि वह निजी सहायक के रूप में धृतराष्ट्र के साथ निरन्तर रहता था। संजय ने यह कभी नहीं सोचा था कि धृतराष्ट्र उससे पूछे बिना कोई काम करेंगे। किन्तु धृतराष्ट्र का घर से निकल जाना इतना गोपनीय था कि संजय को भी इसका पता नहीं चल पाया। सनातन गोस्वामी ने भी बन्दी-गृह के पहरेदार को धोखा दिया, तभी वे श्री चैतन्य महाप्रभु से मिल पाये थे। इसी प्रकार रघुनाथ दास गोस्वामी ने भी अपने पुरोहित को धोखा देकर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए घर छोड़ा था। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाय वह उत्तम है, क्योंकि यह परम सत्य से सम्बन्धित रहता है। हमने भी अपने परिवार वालों को धोखा दिया था और *श्रीमद्भागवत* की सेवा में लगने के लिए घर छोड़ा था। एक महान् कार्य के लिए इस तरह धोखा देना आवश्यक था और ऐसे दिव्य षड्यंत्र में किसी भी पक्ष को कोई क्षति नहीं होती।

अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः ।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्मुनिम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आजगाम—आ पहुँचे; भगवान्—दैवी पुरुष; नारदः—नारद; सह-तुम्बुरुः—अपने तंबूरे के साथ; प्रत्युत्थाय—अपने-अपने आसनों से उठकर; अभिवाद्य—प्रणाम करके; आह—कहा; स-अनुजः—अपने छोटे भाइयों समेत; अभ्यर्चयन्—अच्छे मन से स्वागत करते हुए; मुनिम्—मुनि से ।.

*footnote starts here

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (*भगवद्गीता* १८.४६)

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरि-तोषणम्॥ (*भागवत* १.२.१३)

footnote ends here

जब संजय इस प्रकार बोल रहे थे, तो शक्तिसम्पन्न दैवी पुरुष श्रीनारद अपना तंबूरा लिए हुए वहाँ प्रकट हुए। महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों समेत, अपने-अपने आसन से उठकर प्रणाम करते हुए उनका विधिवत् स्वागत किया।

तात्पर्य : देवर्षि नारद को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त हैं। जो लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् तथा उनके अत्यन्त विश्वास-पात्र भक्तों को एक ही जैसा माना जाता है। भगवान् को ऐसे विश्वास-पात्र भक्त अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि वे भगवान् के यश का गुणगान करने के लिए अपनी विभिन्न क्षमता के अनुसार सर्वत्र विचरण करते रहते हैं और अभक्तों को भक्त बनाने के लिए प्रयास करते रहते हैं, जिससे उन्हें सचेतन स्तर पर लाया जा सके। वास्तव में कोई भी जीव अपनी वैधानिक स्थिति के कारण अभक्त नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई अभक्त या नास्तिक बन जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह व्यक्ति अपने जीवन की समुचित अवस्था में नहीं है। भगवान् के विश्वासपात्र भक्त ऐसे मोहग्रस्त जीवों का उपचार करते हैं, अतएव वे भगवान् की नजरों में प्रिय माने जाते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं कि जो नास्तिकों तथा अभक्तों को भक्त बनाने के लिए भगवान् की महिमा का प्रचार करते हैं, उनसे अधिक प्रिय उन्हें अन्य कोई नहीं है। नारद जैसे महापुरुषों को उसी प्रकार का समुचित सम्मान मिलना चाहिए, जिस प्रकार साक्षात् भगवान् को मिलता है। महाराज युधिष्ठिर अपने सुयोग्य भाइयों समेत नारद जैसे शुद्ध भगवद्भक्त का

सम्मान करना अन्यों के लिए अनुकरणीय हैं, जिनके लिए अपनी वीणा लिए हुए भगवान् का गुणगान करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच
नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः ।
अम्बा वा हतपुत्रार्ता क्व गता च तपस्विनी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; गतिम्—प्रयाण; पित्रोः—चाचाओं का; भगवन्—हे दैवी पुरुष; क्व—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से; अम्बा—ताई; वा—अथवा; हत-पुत्रा—अपने पुत्रों के मारे जाने से; आर्ता—दुखी; क्व—कहाँ; गता—गई हुई; च—भी; तपस्विनी—साध्वी।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देव पुरुष, मैं नहीं जानता कि मेरे दोनों चाचा कहाँ चले गये। न ही मैं अपनी उन तपस्विनी ताई को देख रहा हूँ, जो अपने समस्त पुत्रों की क्षति के कारण शोक से व्याकुल थीं।

तात्पर्य : महात्मा तथा भगवद्भक्त के रूप में महाराज युधिष्ठिर सदैव अपनी ताई की महान् क्षति तथा तपस्विनी के रूप में उनके कष्टों के प्रति सदैव जागरूक रहे। तपस्वी सभी प्रकार के कष्टों से कभी विचलित नहीं होता। इससे तो वह और भी मजबूत तथा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर दृढ़ होता है। महारानी गांधारी अनेक अग्नि-परीक्षाओं में अपने अद्भुत चरित्र के कारण तपस्विनी का एक अद्भुत उदाहरण हैं। वे माता, पत्नी तथा तपस्विनी के रूप में एक आदर्श महिला थीं और विश्व के इतिहास में ऐसे चरित्र वाली महिला विरले ही पाई जाती है।

कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः ।
अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कर्ण-धारः—जहाज के कप्तान; इव—सदृश; अपारे—विस्तृत सागर में; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; पार-दर्शकः—दूसरी ओर ले जानेवाले; अथ—इस प्रकार; आबभाषे—कहने लगे; भगवान्—देव पुरुष; नारदः—ऋषि नारद; मुनि-सत्-तमः—भक्त-चिन्तकों में सर्वश्रेष्ठ।

आप इस अपार समुद्र में जहाज के कप्तान सदृश हैं और आप ही हमें अपने गन्तव्य का मार्ग दिखा सकते हैं। इस प्रकार से सम्बोधित किये जाने पर, देव-पुरुष, भक्तों में सर्वश्रेष्ठ चिन्तक देवर्षि नारद कहने लगे।

तात्पर्य : दार्शनिक चिन्तक कई प्रकार के होते हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़े वे हैं, जिन्होंने भगवान् का दर्शन पा लिया है और भगवान् की प्रेमामयी दिव्य सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है। भगवान् के ऐसे समस्त शुद्ध भक्तों में देवर्षि नारद प्रमुख हैं, अतएव यहाँ पर उन्हें सभी दार्शनिक भक्तों में सबसे बड़ा बताया गया है। जब तक कोई प्रामाणिक गुरु से वेदान्त-दर्शन का श्रवण करके विद्वान दार्शनिक नहीं बन लेता, तब तक वह विद्वान दार्शनिक भक्त नहीं हो सकता। उसे अत्यन्त श्रद्धालु, विद्वान तथा विरक्त होना चाहिए, अन्यथा वह शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। भगवान् का शुद्ध भक्त ही हमें अज्ञान-सागर की दूसरी ओर जाने का मार्गदर्शन कर सकता है। देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर के महल में आया करते थे, क्योंकि सारे पाण्डव भगवान् के शुद्ध भक्त थे और देवर्षि नारद आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अच्छी सलाह देने के लिए सदैव तैयार रहते थे।

नारद उवाच
मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; मा—कभी नहीं; कञ्चन—सभी प्रकार से; शुचः—मत शोक करो; राजन्—हे राजा; यत्—क्योंकि; ईश्वर-वशम्—भगवान् के वश में; जगत्—संसार; लोकाः—सारे जीव; स-पालाः—अपने नेताओं समेत; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; वहन्ति—ले जाते हैं; बलिम्—पूजा का साधन; ईशितुः—रक्षित होने के लिए; सः—वह; संयुनक्ति—पास लाता है; भूतानि—सारे जीवों को; सः—वह; एव—भी; वियुनक्ति—विलग करता है; च—तथा।

श्रीनारद ने कहा : हे धर्मराज, आप किसी के लिए शोक मत करो, क्योंकि सारे लोग परमेश्वर के अधीन हैं। अतएव सारे जीव तथा उनके नेता (लोकपाल) अपनी रक्षा के लिए पूजा करते हैं। वे ही सबों को पास-पास लाते हैं तथा उन्हें विलग करते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह इस जगत में हो या आध्यात्मिक जगत में, परमेश्वर के अधीन है। इस ब्रह्माण्ड के नायक ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक, सभी परमेश्वर की आज्ञा का पालन

करनेवाले हैं। इस प्रकार जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् के अधीन रहने की है। मूर्ख जीव, विशेषतया मनुष्य, झूठे ही परमेश्वर के नियम के विरुद्ध विद्रोह करता है और इस तरह असुर या नियम-भंग करने वाले के रूप में प्रताड़ित होता है। कोई भी जीव, परमेश्वर की आज्ञा से किसी विशेष स्थिति को प्राप्त होता है और वह परमेश्वर या उनके अधिकृत दूत के आदेश द्वारा ही किसी अन्य पद पर बिठाया जाता है। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर या आधुनिक इतिहास के नैपोलियन, अकबर, सिकन्दर, गाँधी, सुभाष तथा नेहरू—सभी भगवान् के दास हैं और परमेश्वर की परम इच्छा से ही अपने स्थानों पर बिठाये तथा उनसे हटाये जाते हैं। इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। यद्यपि ऐसे लोग या नेता विद्रोह करके भगवान् की श्रेष्ठता को मान्यता नहीं प्रदान करते, किन्तु इसके लिए उन्हें विभिन्न कष्टों द्वारा भौतिक संसार के और अधिक कठोर नियमों के अन्तर्गत रखा जाता है। अत: जो मूर्ख व्यक्ति होगा, वही कहता है कि ईश्वर नहीं हैं। महाराज युधिष्ठिर को इस कटु सत्य के प्रति आश्वस्त किया जा रहा था, क्योंकि वे अपने चाचाओं तथा ताई के सहसा चले जाने से अत्यधिक व्याकुल थे। महाराज धृतराष्ट्र को यह स्थिति उनके पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त हुई थी; वे भूतकाल में तमाम कष्ट भोग चुके थे या सुख पा चुके थे, लेकिन सौभाग्य से उन्हें विदुरजैसा छोटा भाई प्राप्त हुआ था और उन्होंने उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार के सारे खातों को बन्द करके गृह-त्याग कर दिया था।

सामान्यतया, कोई किसी योजना से अपने सुख तथा दुख के प्रवाह को बदल नहीं सकता। हर एक को काल के सूक्ष्म प्रबन्ध के अन्तर्गत उन्हें उसी रूप में ग्रहण करना होता है। उनका प्रतिरोध करने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करे और यह जन्मसिद्ध अधिकार मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि उसके मन तथा बुद्धि अत्यन्त विकसित होते हैं। मनुष्य जीवन में मोक्ष-लाभ के लिए, मनुष्य को ही, विभिन्न वैदिक आदेश उपलब्ध हैं। जो कोई उन्नत बुद्धि के इस सुअवसर का दुरुपयोग करता है, वह अधम है और उसे इसी जीवन में या भविष्य में विभिन्न प्रकार के कष्ट मिलते हैं। यही तरीका है, जिससे भगवान् सब पर नियंत्रण रखते हैं।

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाश्च दामभि: ।

वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गावः—बैल; नसि—नाक से; प्रोताः—नाथी हुई; तन्त्याम्—डोरी से; बद्धाः—बँधी हुई; च—भी; दामभिः—रस्सियों से; वाक्-तन्त्याम्—वैदिक स्तोत्रों के जाल में; नामभिः—नाम पद्धति से; बद्धाः—बद्ध; वहन्ति—पालन करते हैं; बलिम्—आदेशों को; ईशितुः—परमेश्वर द्वारा नियंत्रित होने के लिए।.

जिस प्रकार बैल एक लम्बी रस्सी से नाक से नत्थी होकर बंधन में रहता है, उसी तरह मनुष्य जाति विभिन्न वैदिक आदेशों से बँध कर परमेश्वर के आदेशों का पालन करने के लिए बद्ध है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह मनुष्य हो या पशु या पक्षी, यही सोचता है कि वह स्वतंत्र है, किन्तु वास्तव में भगवान् के कठोर नियमों से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। भगवान् के नियम कठोर हैं, क्योंकि किसी भी परिस्थिति में उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। धूर्त लोग मनुष्य-निर्मित नियमों से बच सकते हैं, किन्तु, परम विधि-नियन्ता की संहिता में, नियमों के उल्लंघन की तनिक भी सम्भावना नहीं होती। ईश्वर-निर्मित नियम में थोड़ा-सा भी परिवर्तन करनेवाले नियम-भंजक को काफी कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। परमेश्वर के ऐसे नियम विभिन्न अवस्थाओं में धर्म-संहिता कहलाते हैं, किन्तु धर्म का सिद्धान्त सर्वत्र एक सा होता है, यह है, परमेश्वर के आदेशों का पालन करना। ऐसी है भौतिक जगत की दशा। सभी जीवों ने इस भौतिक संसार में अपनी रुचि से बद्ध जीवन का खतरा मोल ले रखा है और इस तरह वे प्रकृति के नियमों द्वारा जकड़े हुए हैं। इस बंधन से छूटने की एकमात्र विधि यह है कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन किया जाय। लेकिन, माया के चंगुल से मुक्त होने के बजाय मूर्ख लोग विभिन्न पद-नामों से और अधिक बँध जाते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, भारतीय, यूरोपीय, अमरीकी, चीनी इत्यादि कहलाते हैं और इस तरह वे अपने-अपने शास्त्रों या विधानों के प्रभाव में परमेश्वर के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य के संवैधानिक नियम धार्मिक संहिता के अपूर्ण प्रतिरूप हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य या ईश्वर-विहीन राज्य नागरिकों को ईश्वरीय नियमों को तोड़ने की छूट देते हैं, किन्तु राज्य के नियमों का उल्लंघन करने से रोकते हैं; फल यह होता है कि मनुष्य-निर्मित अपूर्ण नियमों का पालन करने की अपेक्षा ईश्वर के नियमों को तोड़ने के कारण जनसामान्य को अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक जगत के विधान की परिस्थिति के अन्तर्गत अपूर्ण है और इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं है कि भौतिकता में सर्वाधिक उन्नत व्यक्ति भी पूर्ण विधान का पालन कर सके। दूसरी ओर ईश्वर के नियम हैं, जिनमें ऐसी अपूर्णता नहीं है। यदि

नेताओं को भगवान् के नियमों की शिक्षा दी जाय, तो उद्देश्यहीन व्यक्तियों की कामचलाऊ विधान सभा बनाने की कोई आवश्यकता ही न रहे। मानव-निर्मित कामचलाऊ नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता तो रहती है, लेकिन ईश्वर-निर्मित नियमों में नहीं, क्योंकि वे परम पूर्ण भगवान् द्वारा पूर्ण बनाये गये हैं। धर्म-संहिताएँ या शास्त्रीय आदेश, जीव की विभिन्न दशाओं को देखते हुए, ईश्वर के मुक्त प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हैं और सारे जीव, भगवान् के आदेशों का पालन करके, संसार-बंधन से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो परमेश्वर के सनातन सेवक की है। अपनी मुक्त अवस्था में वह दिव्य प्रेम से भगवान् की सेवा करता है और पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन बिताता है—कभी-कभी भगवान् के समान स्तर पर, तो कभी-कभी उनसे भी बढ़कर। लेकिन इस बद्ध भौतिक जगत में प्रत्येक जीव अन्य जीवों के ऊपर प्रभुता जमाना चाहता है। इस तरह माया के भ्रम से यह प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति बद्ध भौतिक जीवन के आगे-आगे बढ़ते रहने का कारण बनती है। अतएव जब तक जीव सनातन सेवक भाव की मूल स्थिति को पुनः प्राप्त करके भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह इस भौतिक जगत से अधिकाधिक बद्ध होता जाता है। यही *भगवद्गीता* तथा संसार के अन्य सभी मान्य शास्त्रों का अन्तिम उपदेश है।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **क्रीड-उपस्कराणाम्**—खेल की वस्तुएँ; **संयोग**—मिलना; **विगमौ**—बिछुड़ना; **इह**—इस संसार में; **इच्छया**—इच्छा से; **क्रीडितुः**—खेल करने के लिए; **स्याताम्**—घटित होता है; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **ईश**—परमेश्वर की; **इच्छया**—इच्छा से; **नृणाम्**—मनुष्यों की।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **क्रीड-उपस्कराणाम्**—खेल की वस्तुएँ; **संयोग**—मिलना; **विगमौ**—बिछुड़ना; **इह**—इस संसार में; **इच्छया**—इच्छा से; **क्रीडितुः**—खेल करने के लिए; **स्याताम्**—घटित होता है; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **ईश**—परमेश्वर की; **इच्छया**—इच्छा से; **नृणाम्**—मनुष्यों की।

जिस प्रकार खिलाड़ी अपनी इच्छानुसार खिलौनों को सजाता तथा बिगाड़ता है, उसी तरह भगवान् की परम इच्छा मनुष्यों को पास-पास लाती है और उन्हें विलग भी करती है।

तात्पर्य : हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि हम जिस पद पर अभी हैं, वह हमारे अपने ही विगत कर्मों के अनुसार, परम इच्छा द्वारा नियोजित है। परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२३) में बताया गया है। अतएव वे हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था की गतिविधियों को जानते रहते हैं। वे हमें किसी विशेष पद पर बिठाकर, हमारे कर्मों का फल प्रदान करते हैं। धनी मनुष्य का बच्चा सम्पन्नता के बीच जन्म लेता है; किन्तु धनी मनुष्य के पुत्र के रूप में आने वाला बच्चा इस स्थान के योग्य था; अत: यह स्थान उसे ईश्वर की इच्छा से मिलता है। यदि उस बच्चे को किसी क्षण किसी दूसरे स्थान में ले जाया जाता है, तो वह भी परमेश्वर की इच्छा से होता है, भले ही बच्चा या पिता ऐसे सुखद सम्बन्ध से वियोग पसन्द न करें। यही बात निर्धन व्यक्ति पर भी लागू होती है। जीवों के मिलने या बिछुड़ने पर धनी या निर्धन कोई भी व्यक्तियों का कोई वश नहीं चलता। खिलाड़ी तथा उसके खिलौने के उदाहरण से किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब भगवान् हमें हमारे कर्मों का ही फल देने के लिए बाध्य हैं, तो खिलाड़ी का उदाहरण यहाँ पर उपयुक्त नहीं बैठता। लेकिन ऐसा नहीं है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् की ही इच्छा परम है और वे किसी नियम से बँधे नहीं हैं। सामान्यतया कर्म का नियम यह है कि लोगों को उन्हीं के कर्मों का फल मिलता है, लेकिन विशेष मामलों में भगवान् की इच्छा से ऐसे कर्म-फल बदल भी जाते हैं। लेकिन यह बदलाप भगवान् की इच्छा से ही आ सकता है, अन्य किसी से नहीं। अतएव इस श्लोक में दिया गया खिलाड़ी का उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि भगवान् जो कुछ चाहते हैं, उसे करने के लिए परम स्वतंत्र हैं और चूँकि वे सभी प्रकार से पूर्ण हैं, अतएव उनके कर्मों या फलों में कोई त्रुटि नहीं रहती। जब किसी शुद्ध भक्त का मामला आता है, तब कर्म-फलों में ये परिवर्तन विशेष रूप से परमेश्वर द्वारा किये जाते हैं। *भगवद्गीता* (९.३०-३१) में आश्वासन दिया गया है कि भगवान् अपने उस शुद्ध भक्त को सारे पाप-फलों से बचाते हैं, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। विश्व के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान् द्वारा कर्म-फल बदले गये हैं। यदि भगवान् किसी के

विगत कर्मों के फलों को परिवर्तित कर सकते हैं, तो यह निश्चित है कि वे अपने ही कर्मों से या कर्मों के फलों से बँधे नहीं रहते। वे पूर्ण हैं और सारे नियमों के परे होते हैं।

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यत्—भले ही; मन्यसे—सोचते हो; ध्रुवम्—परम सत्य; लोकम्—लोगों की; अध्रुवम्—अवास्तविकता; वा—अथवा; न—नहीं; च—भी; उभयम्—अथवा दोनों; सर्वथा—सभी परिस्थितियों में; न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; शोच्याः—शोक का विषय; ते—वे; स्नेहात्—स्नेह के कारण; अन्यत्र—अथवा दूसरी तरह; मोह-जात्—मोह-जनित।

हे राजन्, सभी परिस्थितियों में, चाहे आप आत्मा को नित्य मानो अथवा भौतिक देह को नश्वर, अथवा प्रत्येक वस्तु को निराकार परम सत्य में स्थित मानो या प्रत्येक वस्तु को पदार्थ तथा आत्मा का अकथनीय संयोग मानो, वियोग की भावनाएँ केवल मोहजनित स्नेह के कारण हैं, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जीव परम पुरुष का व्यक्तिगत अंश है और उसकी स्वाभाविक स्थिति अधीनस्थ सहयोगी सेवक की है। चाहे जीव अपनी बद्ध अवस्था में हो अथवा ज्ञान तथा शाश्वतता से पूर्ण अपनी मुक्त अवस्था में हो, वह नित्य परमेश्वर के ही अधीन रहता है। लेकिन जो वास्तविक ज्ञान के जानकार नहीं हैं, वे जीव की वास्तविक स्थिति के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु दर्शन की सभी विचारधाराओं द्वारा यह स्विकार किया गया है कि जीव शाश्वत है और यह पाँच भौतिक तत्त्वों से बना शरीर रूपी ओढ़न विनाशशील तथा अस्थायी है। यह शाश्वत जीव, कर्म-नियम के द्वारा, एक भौतिक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है और ये भौतिक शरीर, अपनी मूलभूत संरचना के कारण, विनाशशील हैं। अतएव आत्मा के देहान्तरण के कारण या किसी अवस्था में भौतिक शरीर के विनष्ट होने से किसी तरह का शोक नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग हैं, जो भौतिक बन्धन से छूटने पर, परमात्मा में आत्मा के तादात्म्य में विश्वास करते हैं। और कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते, अपितु पदार्थ में विश्वास करते हैं। हमारे दैनिक जीवन में हम न जाने कितने पदार्थ अन्य पदार्थों में रूपान्तरित होते देखे जाते हैं, किन्तु हम ऐसे

परिवर्तनशील स्वरूपों के लिये शोक नहीं करते। प्रत्येक दशा में, दैवी शक्ति का वेग अप्रतिहत होता है, इसमें किसी का वश नहीं है, अतएव शोक करने का कोई कारण नहीं होता।

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; जहि—छोड़ दो; अङ्ग—हे राजा; वैक्लव्यम्—मानसिक विकलता; अज्ञान—अज्ञान; कृतम्—के कारण; आत्मनः—अपना; कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अनाथाः—असहाय; कृपणाः—निरीह प्राणी; वर्तेरन्—जीवित रहने में समर्थ; ते—वे; च—भी; माम्—मेरे; विना—रहित।

अतएव तुम आत्मा को न जानने के कारण उत्पन्न अपनी चिन्ता छोड़ दो। अब आप यह सोच रहे है कि वे असहाय जीव तुम्हारे बिना किस तरह रहेंगे।

तात्पर्य : जब हम अपने सगे-सम्बन्धियों को असहाय तथा अपने ऊपर आश्रित सोचते हैं, तो यह अज्ञान के कारण होता है। परमेश्वर के आदेश से प्रत्येक जीव को इस संसार में उसकी अर्जित स्थिति के अनुसार सुरक्षा प्रदान की गई है। भगवान् *भूत-भृत्* कहलाते हैं, अर्थात् वे जो सभी जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। मनुष्य को केवल अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई किसी को भी सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। अगले श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत समय; कर्म—कर्म; गुण—प्रकृति के गुण; अधीनः—के अधीन; देहः—भौतिक शरीर तथा मन; अयम्—यह; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना; कथम्—कैसे; अन्यान्—दूसरे; तु—लेकिन; गोपायेत्—सुरक्षा प्रदान करते हैं; सर्प-ग्रस्तः—साँप द्वारा दंशित; यथा—जिस तरह; परम्—दूसरे।

पाँच तत्त्वों से निर्मित यह स्थूल भौतिक शरीर पहले से ही सनातन काल, कर्म तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन है। तो किस तरह से यह अन्यों की रक्षा कर सकता है, जबकि यह स्वयं सर्प के मुँह में फँसा हुआ है?

तात्पर्य : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रचार द्वारा विश्व आन्दोलनों से किसी को कोई लाभ होनेवाला नहीं, क्योंकि ये श्रेष्ठ शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। बद्धजीव पूरी तरह से भौतिक प्रकृति के नियंत्रण में होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाववश होने वाले कर्म तथा सनातन काल के रूप में व्यक्त होता है। प्रकृति के तीन गुण हैं अर्थात् सत, रज तथा तम। सतोगुणी हुए बिना, मनुष्य वस्तुओं को असली रूप में नहीं देख पाता। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति वस्तुओं को उनके असली रूप में कभी नहीं देख पाता। अतएव रजोगुणी तथा तमोगुणी व्यक्ति अपने कार्यों को सही दिशा नहीं दे पाते, केवल सतोगुणी व्यक्ति ही कुछ हद तक ऐसा कर पाता है। चूँकि अधिकांश व्यक्ति राजसी तथा तामसी होते हैं, अतएव उनकी योजनाएँ तथा परियोजनाएँ शायद ही अन्यों को कुछ लाभ पहुँचा सकें। प्रकृति के गुणों के भी ऊपर शाश्वत समय होता है, जो *काल* कहलाता है, क्योंकि यह भौतिक जगत की हर वस्तु की आकृति को बदल देता है। यदि हम अस्थायी रूप से कोई लाभ-प्रद कार्य कर भी लें, तो समय बीतने पर काल द्वारा यह अच्छी परियोजना भी विनष्ट कर दी जाती है। यदि कुछ किया जा सकता है, तो इतना ही कि इस सनातन काल से छुटकारा पा लिया जाय, जिसकी तुलना *काल-सर्प* से की गई है, जिसका दंश सदैव जानलेवा होता है। कोई भी व्यक्ति सर्प-दंश से नहीं बच पाता। अतएव काल-सर्प अथवा प्रकृति के गुणों के चंगुल से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्तियोग है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* (१४.२६) में की गई है। सबसे पूर्ण लोकोपयोगी परियोजना यह है कि हर व्यक्ति को, विश्व भर में, भक्तियोग के प्रचार कार्य में लगाया जाय, क्योंकि उसी के द्वारा लोगों को काल, कर्म तथा गुण द्वारा व्यक्त माया के चंगुल से बचाया जा सकता है। *भगवद्गीता* (१४.२६) से इसकी स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है।

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अहस्तानि—हाथविहीनों के; **स-हस्तानाम्**—हाथ वालों के; **अपदानि**—पैर-विहीनों का; **चतुः-पदाम्**—चार पैर वालों का; **फल्गूनि**—निर्बल; **तत्र**—वहाँ; **महताम्**—शक्तिमानों को; **जीवः**—जीव; **जीवस्य**—जीव का; **जीवनम्**—जीवन निर्वाह, गुजारा।

जो बिना हाथ वाले हैं, वे हाथ वालों के शिकार हैं। जो पाँवों से विहीन हैं, वे चौपायों के शिकार हैं। निर्बल सबल के भोज्य हैं और सामान्य नियम यह है कि एक जीव दूसरे जीव का भोजन बना हुआ है।

तात्पर्य : अस्तित्व टिकाए रखने के लिए जीवन-संघर्ष का नियम भगवान् की परम इच्छा से है और कितनी भी योजनाओं के द्वारा किसी के भी लिए इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। जो जीव इस संसार में परम पुरुष की इच्छा के विपरीत आये हैं, वे माया-शक्ति नामक उच्चतर शक्ति के अधीन रहते हैं, जो भगवान् द्वारा नियुक्त होती है। यह *दैवी माया* बद्धजीवों को तीन प्रकार के तापों से सताती रहती है, जिनमें से एक की व्याख्या इस श्लोक में हुई है—*निर्बल सबल का आहार है।* कोई भी, अपने से अधिक सबल के हमले से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और भगवान् की इच्छा से निर्बल, सबल तथा सर्वाधिक सबल—ये तीन कोटियाँ बनी हुई हैं। यदि बाघ निर्बल पशु को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, खा जाता है, तो इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह तो परमेश्वर का नियम है। यद्यपि नियम यह कहता है कि मनुष्य को किसी अन्य के जीवन पर जीवन-निर्वाह करना होता है, लेकिन सद्भाव का भी नियम है, क्योंकि मनुष्य को शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। अन्य जीवधारियों द्वारा ऐसा करना सम्भव नहीं होता। मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिये आया है, इसलिये उसे भगवान् को अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु नहीं खानी है। भगवान् अपने भक्तों से शाक, फल, पत्ती तथा अन्न के बने विविध व्यंजन स्वीकार करते हैं। अतएव फल, पत्ती तथा दूध के विविध पकवान भगवान् को अर्पित किये जा सकते हैं और जब भगवान् इन्हें पा लें, तो भक्त इस *प्रसाद* को ग्रहण कर सकता है, जिससे जीवन-संघर्ष के सारे क्लेश क्रमशः दूर हो जायेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२६) में हुई है। जो लोग पशुओं का भक्षण करने के आदी हो गये हैं, वे भी सीधे भगवान् को भोज्य-पदार्थ न अर्पित कर, धार्मिक अनुष्ठानों की कतिपय दशाओं में, भगवान् के किसी दूत को अर्पित कर सकते हैं। शास्त्रों का आदेश मांस-भक्षकों को प्रोत्साहित करना नहीं, अपितु नियमों के द्वारा उन पर प्रतिबन्ध लगाना है।

जीव अपने से अधिक सबल अन्य जीव का भक्ष्य होता है। किसी को किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन-निर्वाह के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र ही जीव हैं और कहीं पर

भोजन के अभाव में एक भी जीव भूखों नहीं मरता। महाराज युधिष्ठिर को नारद जी उपदेश देते हैं कि भोजन के अभाव में अपने चाचाओं के कष्ट भोगने की चिन्ता न करें, क्योंकि वे जंगलों में उपलब्ध शाकों को भगवान् के प्रसाद के रूप में प्राप्त करके जीवित रह सकते हैं और इस तरह मोक्ष-मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

सबल द्वारा दुर्बल का शोषण प्राकृतिक अस्तित्व का नियम है; जीवों के विभिन्न साम्राज्यों में, निर्बल को निगल जाने का सदैव प्रयास होता रहता है। भौतिक परिस्थितियों में, किसी कृत्रिम साधन से इस प्रवृत्ति को रोके जाने की कोई सम्भावना नहीं है। इसे मनुष्य के आध्यात्मिक भाव को, आध्यात्मिक नियमों के अभ्यास द्वारा जगाकर ही रोका जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक विधि-विधान एक ओर मनुष्य को निर्बल पशुओं का वध करने तथा दूसरी ओर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की शिक्षा नहीं देता। यदि मनुष्य पशुओं को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अनुमति नहीं देता, तो फिर वह किस तरह मानव समाज में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की उम्मीद कर सकता है? अतएव अन्धे नेताओं को चाहिए कि वे परम पुरुष को जानें और तब ईश्वर की राजसत्ता को लागू करने का प्रयास करें। विश्व के जन-समुदाय के मन में ईश्वर-चेतना को जगाये बिना ईश्वर राज्य या राम-राज्य असम्भव है।

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक् ।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; इदम्—यह अभिव्यक्ति; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजन्; एकः—एक अद्वितीय; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अपनी शक्तियों से; स्व-दृक्—गुणों में अपने ही जैसा; अन्तरः—बाहर; अनन्तरः—भीतर तथा अपने द्वारा; भाति—प्रकट करता है; पश्य—देखो; तम्—उन्हें ही; मायया—विभिन्न शक्तियों के प्राकट्य से; उरुधा—अनेक प्रतीत होता है।.

अतएव हे राजन्, तुम्हें एकमात्र परमेश्वर को देखना चाहिए, जो अद्वितीय हैं और जो विभिन्न शक्तियों से साक्षात् प्रकट होते हैं और भीतर तथा बाहर दोनों में हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा स्वयं प्रकट होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आनन्दमय हैं। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति के प्राकट्य हैं, जो गुणों में भगवान् के समान हैं और भगवान् की बहिरंगा तथा अंतरंगा शक्तियों के भीतर तथा बाहर,

दोनों ही जगह असंख्य जीव हैं। चूँकि आध्यात्मिक जगत भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, अतएव जो जीव उस अन्तरंगा शक्ति के भीतर हैं, वे बहिरंगा शक्ति से दूषित हुए बिना, गुण में भगवान् समान ही हैं। जीव भगवान् से गुणों में एक होकर भी, भौतिक जगत के कल्मष के कारण विकृत रूप में दिखता है। अतएव उसे भौतिक जगत में तथाकथित सुख तथा दुख का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव क्षणिक होते हैं और उनसे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे क्षणिक सुख तथा दुख की अनुभूति अपने भगवान् के समान गुण की विस्मृति के कारण होती है। किन्तु भगवान् से भीतर तथा बाहर एक नियमित धारा प्रवाहित होती रहती है, जिससे जीव अपनी पतित अवस्था को सुधार सकता है। भीतर से, वे अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में इच्छा करनेवाले जीवों को सुधारते हैं और बाहर से, वे गुरु तथा शास्त्रों के रूप में अपनी अभिव्यक्ति द्वारा सुधारते रहते हैं। मनुष्य को भगवान् की ओर ही दृष्टि लगानी चाहिए। उसे तथाकथित सुख तथा दुख प्रकट होने पर विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु पतितात्माओं का सुधार करने के भगवान् के बाह्यकार्यों में उनकी सहायता करनी चाहिए। उन्हीं के आदेश से ही मनुष्य को आध्यात्मिक गुरु बनकर उनको सहयोग देना चाहिए। किसी को अपने निजी लाभ के लिए, आजीविका कमाने के लिए अथवा धन्धे के साधन के लिए गुरु नहीं बनना चाहिए। ऐसे प्रामाणिक गुरु जो भगवान् को सहयोग देने के लिए भगवान् की ओर दृष्टि लगाते हैं, वे गुणात्मक रूप से भगवान् से एक होते हैं और भुलक्कड़ जीव केवल विकृत प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। अतएव युधिष्ठिर महाराज को नारद उपदेश देते हैं कि वे तथाकथित सुख तथा दुख के मामलों से तनिक भी विचलित न हों, अपितु भगवान् के उस ध्येय को पूरा करने के लिए भगवान् की ओर देखें, जिसके लिए भगवान् अवतरित हुए हैं। यही उनका मूल कर्तव्य है।

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे परमेश्वर; **अयम्**—भगवान् श्रीकृष्ण; **अद्य**—इस समय; **महाराज**—हे राजा; **भगवान्**—भगवान्; **भूत-भावनः**—प्रत्येक सृजित वस्तु के स्त्रष्टा या पिता; **काल-रूपः**—सर्वभक्षी काल के वेश में; **अवतीर्णः**—अवतरित; **अस्याम्**—विश्व पर; **अभावाय**—निकाल फेंकने के लिए; **सुर-द्विषाम्**—जो लोग भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हैं, उन्हें।

वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, सर्वभक्षी काल के वेश *(कालरूप)* में, अब संसार से द्वेषी लोगों का सर्वनाश करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की दो श्रेणियाँ हैं—द्वेषी तथा आज्ञा-पालक। चूँकि परमेश्वर एक हैं और वे सभी जीवों के पिता हैं, अतएव द्वेषी लोग भी उन्हीं की सन्तान हैं, लेकिन वे *असुर* कहलाते हैं। किन्तु जो जीव सर्वोपरि पिता के प्रति आज्ञाकारी है, वे *देवता* कहलाते हैं, क्योंकि वे जीवन की भौतिक अवधारणा द्वारा कलुषित नहीं होते हैं। असुर लोग न केवल भगवान् के अस्तित्व को नकार करके द्वेष दिखाते हैं, अपितु वे अन्य समस्त जीवों से भी द्वेष रखते हैं। जगत में असुरों के प्राधान्य को कभी-कभी भगवान् उनको पूरी तरह विनष्ट करके ठीक करते हैं और पाण्डव जैसे देवताओं का राज्य स्थापित करते हैं। छद्मरूप में काल नाम की उनकी उपाधि महत्त्वपूर्ण है। वे रंचमात्र भी भयावह नहीं हैं, अपितु वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के दिव्य रूप हैं। जो भक्त हैं, उनके सामने उनका वास्तविक रूप प्रकट होता है, किन्तु जो अभक्त हैं उनके लिए वे *कालरूप* में प्रकट होते हैं, जो उनका कारण-रूप है। भगवान् का यह कारण-रूप असुरों को तनिक भी सुहावना नहीं लगता, अतएव वे भगवान् को निराकार मान लेते हैं, जिससे उनकों (झूठी) सुरक्षा की भावना का अनुभव हो और वे ऐसा सोच सकें कि अब उन्हें भगवान् द्वारा नष्ट नहीं किया जाएगा।

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।
तावद् यूयमवेक्षध्वं भवेद् यावदिहेश्वरः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

निष्पादितम्—सम्पन्न; **देव-कृत्यम्**—देवताओं की ओर से जो कुछ होना था; **अवशेषम्**—शेष; **प्रतीक्षते**—प्रतीक्षित होकर; **तावत्**—उस समय तक; **यूयम्**—आप सारे पाण्डव; **अवेक्षध्वम्**—देखो तथा प्रतीक्षा करो; **भवेत्**—हो; **यावत्**—जब तक; **इह**—इस संसार में; **ईश्वरः**—परमेश्वर।

भगवान् ने देवताओं की सहायता करने का अपना कर्तव्य पहले ही पूरा कर दिया है और जो शेष है, उसके लिए वे प्रतीक्षारत हैं। आप सभी पाण्डव तब तक प्रतीक्षा कर सकते हो, जब तक भगवान् इस धरा पर उपस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने धाम (कृष्णलोक) से, जो आध्यात्मिक आकाश का सर्वोच्च लोक है, इस भौतिक विश्व के देव-शासकों की सहायता करने के लिए तब-तब अवतरित होते हैं, जब-जब वे

उन असुरों द्वारा अत्यधिक सताये जाते हैं, जो न केवल भगवान् से अपितु उनके भक्तों से भी द्वेष रखते हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, बद्धजीव अपनी ही रुचि से भौतिक जगत के साधनों पर प्रभुत्व जताने की अपनी प्रबल इच्छा द्वारा प्रेरित होकर भौतिक संसर्ग में आते हैं और वे सभी वस्तुओं के नकली स्वामी बन बैठते हैं। प्रत्येक व्यक्ति नकली ईश्वर बनना चाहता है; ऐसे नकली ईश्वरों में प्रबल होड़ लगी रहती है और ऐसे प्रतियोगी सामान्यतया *असुर* कहलाते हैं। जब संसार में असुरों की संख्या बढ़ जाती है, तब यह जगत भगवद्भक्तों के लिए नरक बन जाता है। असुरों की वृद्धि के कारण जनता, जो स्वाभाविक रूप से भगवान् की भक्ति को समर्पित होती है और उच्चलोक के देवताओं समेत भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं, और तब भगवान् या तो स्वयं अपने धाम से नीचे आते हैं या अपने भक्तों में से किसी को मानव या पशु-समाज की गिरी दशा सुधारने के लिए नियुक्त करते हैं। ऐसी अशान्ति केवल मानव समाज में ही नहीं, अपितु पशुओं, पक्षियों या उच्च लोकों के देवताओं सहित अन्य जीवों के बीच भी मचती रहती है। भगवान् श्रीकृष्ण तब कंस, जरासंध तथा शिशुपाल जैसे असुरों का वध करने के लिए स्वयं अवतरित हुए। महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल में लगभग इन सारे असुरों का वध भगवान् ने किया। अब वे अपने ही वंश, यदुवंश के विनाश की प्रतीक्षा में थे, जो इस संसार में उनकी अपनी इच्छा से ही प्रकट हुआ था। वे अपने स्वयं के नित्य धाम जाने के पूर्व इस वंश को समेट लेना चाहते थे। नारद ने, विदुर की तरह, यदुवंश के आसन्न विनाश की बात प्रकट नहीं होने दी, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राजा तथा उनके भाइयों से संकेत कर दिया कि वे इस घटना के घटने तथा भगवान् के प्रयाण करने तक प्रतीक्षा करें।

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया ।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; सह—साथ; भ्रात्रा—अपने भाई विदुर के; गान्धार्या—गांधारी भी; च—तथा; स्व-भार्यया—अपनी पत्नी; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; ऋषीणाम्—ऋषियों का; आश्रमम्—आश्रम में; गतः—गये।

हे राजन्, आपके चाचा धृतराष्ट्र, उनके भाई विदुर तथा उनकी पत्नी गांधारी, हिमालय के दक्षिण की ओर गये हैं, जिधर बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रम हैं।

तात्पर्य : शोकातुर महाराज युधिष्ठिर को ढाढ़स बँधाने के लिए, सर्वप्रथम नारद ने दार्शनिक दृष्टि से उपदेश दिया और फिर अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हुए, उनके बड़े चाचा की भावी गतिविधियों का वर्णन करना प्रारम्भ किया, जो इस प्रकार है।

स्रोतोभि: सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।
सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोत: प्रचक्षते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

स्रोतोभि:—धाराओं से; सप्तभि:—सात (भाग); या—नदी; वै—निश्चय ही; स्वर्धुनी—पवित्र गंगा; सप्तधा—सात शाखाएँ; व्यधात्—उत्पन्न किया; सप्तानाम्—सातों की; प्रीतये—तुष्टि के लिए; नाना—विविध; सप्त-स्रोत:—सात स्रोत; प्रचक्षते—नाम से ज्ञात।

यह स्थान सप्तस्रोत (सात द्वारा विभाजित) कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर पवित्र गंगा नदी का जल सात शाखाओं में विभाजित किया गया था। ऐसा महान् सप्तर्षियों की तुष्टि के लिए किया गया था।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि ।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषण: ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—नियमित रूप से तीन बार (प्रात:, दोपहर तथा संध्या समय); तस्मिन्—सप्तधा गंगा में; हुत्वा—अग्निहोत्र यज्ञ करके; च—भी; अग्नीन्—अग्नि में; यथा-विधि—शास्त्र के नियमों के अनुसार; अप्-भक्ष:—केवल जल पीकर उपवास करके; उपशान्त—पूर्ण रूप से संयमित; आत्मा—स्थूल इन्द्रियों तथा सूक्ष्म मन; स:—धृतराष्ट्र; आस्ते—स्थित होंगे; विगत—रहित; एषण:—पारिवारिक कुशलता-सम्बन्धी विचार।

इस समय सप्तस्रोत के तट पर धृतराष्ट्र नित्य तीन बार प्रात:, दोपहर तथा संध्या समय, स्नान करके, अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न करके तथा केवल जल पीकर अष्टांग योग का अभ्यास करने में लगे हैं। इससे मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखने में सहायता मिलती है और वह पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धी विचारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : योग-पद्धति इन्द्रियों तथा मन को वश में करने तथा उन्हें पदार्थ से आत्मा की ओर मोड़ने की यांत्रिक विधि है। इसकी प्रारम्भिक विधियाँ हैं—आसन, ध्यान, आध्यात्मिक विचार, प्राणायाम, समाधि तथा परम पुरुष परमात्मा की ओर उन्मुख होना। इस तरह की यांत्रिक विधि से

आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठने के लिए कुछ विधान नियत किए गए हैं—दिन में तीन बार स्नान करना, जहाँ तक सम्भव हो उपवास करना, आसन मारकर मन को आध्यात्मिक विषयों में एकाग्र करना तथा इस प्रकार धीरे-धीरे विषय अर्थात् भौतिक ध्येय से मुक्त होना। भौतिक जगत का अर्थ है भौतिक विषय में लिप्त होना, जो भ्रम मात्र है। घर, देश, परिवार, समाज, सन्तान, सम्पत्ति तथा व्यापार—ये आत्मा के कतिपय आवरण हैं। योग-पद्धति इन मोहमय विचारों से मुक्त होने और क्रमशः परम पुरुष परमात्मा की ओर मुड़ने में सहायक होती है। भौतिक संगति तथा शिक्षा द्वारा हम व्यर्थ की वस्तुओं में केन्द्रित होना सीखते हैं, लेकिन योग ऐसी विधि है, जिससे हम इन्हें पूरी तरह से भूल जाते हैं। आधुनिक तथाकथित योगी तथा योग-पद्धतियाँ कुछ जादू जैसे करतब दिखाती हैं और अज्ञानी लोग ऐसी झूठी बातों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, अथवा वे स्थूल शरीर के रोगों को अच्छा करने के लिए, इसे एक सस्ती विधि के रूप में मानते हैं। लेकिन वास्तव में, योग-पद्धति वह विधि है, जिससे हमने जीवन-सघर्ष के दौरान जो कुछ सीखा है, उसे हम भुला सकें। धृतराष्ट्र आजीवन अपने पुत्रों के लिए पाण्डवों की सम्पत्ति छीनकर उनका जीवन-स्तर ऊँचा करके पारिवारिक मामलों को सुधारने में व्यस्त रहे। नितान्त भौतिकतावादी एवं आध्यात्मिक शक्ति के ज्ञान से रहित व्यक्ति के लिए यही सामान्य व्यापार हैं। वह यह नहीं देख पाता कि ये किस तरह उसे स्वर्ग से नरक में घसीट कर ले जा सकते हैं। किन्तु अपने छोटे भाई विदुर के अनुग्रह से, धृतराष्ट्र को ज्ञान हुआ और वे अपने निपट मोहयुक्त व्यापारों को देख पाये और ऐसे ज्ञान के कारण ही वे आत्मानुभूति के लिए अपना घर छोड़ सके। श्री नारददेव ऐसे स्थान पर, जो स्वर्गिक गंगा के प्रवाह से पवित्र था, उनकी आध्यात्मिक प्रगति की भविष्यवाणी कर रहे थे। बिना भोजन किये केवल जल पीकर रहना भी उपवास करना माना जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। मूर्ख व्यक्ति विधि-विधानों का पालन किये बिना सस्ता योगी बनना चाहता है। सर्वप्रथम जिस व्यक्ति की अपनी जीभ पर लगाम नहीं है, वह कभी योगी नहीं बन सकता। *योगी* तथा *भोगी* दो विरोधी शब्द हैं। भोगी अर्थात् जो खाता-पीता, मौज करता है, वह योगी नहीं बन सकता, क्योंकि योगी को मनमाना खाने तथा पीने की छूट कभी भी नहीं है। हमें इस बात पर ध्यान देने से लाभ होगा कि धृतराष्ट्र ने केवल जल पीकर तथा एकान्त में बैठकर भगवान् हरि के विचारों में तन्मय होकर कैसे अपना योग प्रारम्भ किया था।

जितासनो जितश्वास: प्रत्याहृतषडिन्द्रिय: ।
हरिभावनया ध्वस्तरज:सत्त्वतमोमल: ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

जित-आसनः—जिसने आसनों पर विजय प्राप्त कर ली है; जित-श्वासः—जिसने श्वास-प्रक्रम को वश में कर लिया है; प्रत्याहृत—पीछे मुड़कर; षट्—छः; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; हरि—भगवान् में; भावनया—तन्मय; ध्वस्त—विजित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्त्वगुण; तमः—तमोगुण; मलः—कल्मष।

जिसने यौगिक आसनों तथा श्वास लेने की विधि को वश में कर लिया है, वह अपनी इन्द्रियों को पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के प्रति मोड़कर भौतिक प्रकृति के गुणों अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के कल्मष के प्रति निर्लिप्त बन जाता है।

तात्पर्य : योग-विधि की प्रारम्भिक गतिविधियाँ हैं आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, इत्यादि। महाराज धृतराष्ट्र को इन प्रारम्भिक कार्यों में सफलता प्राप्त करनी थी, क्योंकि वे पवित्र स्थान पर आसीन थे और एक ही लक्ष्य अर्थात् (हरि) पर ध्यान लगाये हुए थे। इस तरह उनकी सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी थीं। यह विधि भक्त को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्ति दिलाने में सहायक होती है। जब भौतिक सतोगुण भी, जो कि सर्वोच्च गुण है, भव-बन्धन का कारण है, तो अन्य गुणों—रज तथा तम के विषय में क्या कहा जाय। रज तथा तम-गुणों से भौतिक भोग की इच्छा बढ़ती है और प्रबल कामेच्छा से सम्पत्ति तथा शक्ति के संचय को बल मिलता है। जिसने इन दोनों अधम प्रवृत्तियों को जीत लिया है और अपने आप को सत्त्वगुण के स्तर तक उन्नत कर लिया है, जो ज्ञान तथा नैतिकता से परिपूर्ण है, वह भी इन्द्रियों को अर्थात् नेत्र, जीभ, नाक, कान तथा स्पर्शेन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। किन्तु जिसने उपर्युक्त विधि से, भगवान् हरि के चरणों में आत्म-सर्म्पण कर दिया है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभावों को पार कर सकता है और भगवान् की सेवा में स्थिर हो सकता है। अतएव भक्तियोग-विधि इन्द्रियों को सीधे भगवान् की प्रेमामयी सेवा में लगाती है। इससे कर्ता भौतिक कार्यकलापों में नहीं लग पाता। इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से मोड़कर भगवान् की दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगाने की यह विधि *प्रत्याहार* कहलाती है और यह सारी प्रक्रिया *प्राणायाम* कहलाती है, जिसका अन्त *समाधि* में अर्थात् सभी तरह से परमेश्वर हरि को प्रसन्न करने के लिये तन्मय रहने में होता है।

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् ।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान—शुद्ध पहचान; आत्मनि—बुद्धि में; संयोज्य—ठीक से स्थिर करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव में; प्रविलाप्य—तादात्म्य करके; तम्—उसको; ब्रह्मणि—सर्वोपरि में; आत्मानम्—शुद्ध जीव; आधारे—आधार में; घट-अम्बरम्—घट के भीतर आकाश; इव—सदृश; अम्बरे—परम व्योम में।

धृतराष्ट्र को अपनी शुद्ध सत्ता को बुद्धि में संयोजित करके, तब परम पुरुष के साथ, जीव के रूप में, गुणों के एकात्मकता के बोध सहित, परम ब्रह्म के साथ तदाकार होना होगा। घटाकाश से मुक्त होकर उन्हें आध्यात्मिक आकाश ऊपर तक उठना होगा।

तात्पर्य : जीव भौतिक जगत पर प्रभुता जताने तथा परमेश्वर के साथ सहयोग न करने की इच्छा से महत् तत्त्व से सम्पर्क करता है और इस महत् तत्त्व से भौतिक जगत, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों के साथ उसकी झूठी पहचान बनती है। इससे उसकी शुद्ध आध्यात्मिक पहचान ठक जाती है। योग-विधि से जब आत्म-साक्षात्कार में उसकी शुद्ध पहचान की अनुभूति हो जाती है, तो उसे पाँच स्थूल तत्त्वों तथा मन और बुद्धि नामक सूक्ष्म तत्त्वों को संयोजित करके मूल स्थिति में अर्थात् पुनः महत्-तत्त्व में लौटना होता है। इस प्रकार उसे महत्-तत्त्व के बन्धन से छूटकर परमात्मा में तदाकार होना होता है। दूसरे शब्दों में, उसे इसकी अनुभूति करनी होती है कि वह गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न है। इस तरह से वह अपनी शुद्ध पहचान करके भौतिक आकाश को पार कर सकता है और इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। धृतराष्ट्र ने विदुर तथा भगवान् की कृपा से आध्यात्मिक पहचान की यह सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली। विदुर के व्यक्तिगत सम्पर्क से उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकी और जब वे विदुर के उपदेशों का वास्तव में पालन कर रहे थे, तब भगवान् ने सिद्ध अवस्था प्राप्त करने में उनकी सहायता दी।

भगवान् का शुद्ध भक्त न तो भौतिक आकाश के किसी ग्रह पर रहता है, न ही वह भौतिक तत्त्वों से किसी प्रकार के सम्पर्क का अनुभव करता है। भगवान् के उद्देश्य के समान ही उद्देश्य की आध्यात्मिक धारा से परिपूरित होने के कारण उसके तथाकथित भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं रहता और इस तरह वह महत् तत्त्व के सारे कल्मष से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। वह सदैव

आध्यात्मिक आकाश में रहता है, जिसे वह अपनी भक्तिमय सेवा के प्रभाव से सात भौतिक आवरणों को भेदकर प्राप्त करता है। बद्धजीव इन आवरणों के भीतर रहते हैं, जबकि मुक्त जीव इनसे परे होते हैं।

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः ।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ।
तस्यान्तरायो मैवाभूः सन्न्यस्ताखिलकर्मणः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ध्वस्त—विनष्ट होकर; माया-गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; उदर्कः—परवर्ती प्रभाव; निरुद्ध—रुक कर; करण-आशयः—इन्द्रियाँ तथा मन; निवर्तित—रुका हुआ; अखिल—समस्त; आहारः—इन्द्रियों का भोजन; आस्ते—आसीन है; स्थाणुः—अचर; इव—सदृश; अचलः—स्थिर; तस्य—उसके; अन्तरायः—विघ्न, बाधाएँ; मा एव—कभी इस तरह; अभूः—हो; सन्न्यस्त—विरक्त; अखिल—सभी तरह के; कर्मणः—भौतिक कर्तव्य।

उन्हें इन्द्रियों के सारे कार्य बाहर से भी रोक देने होंगे और भौतिक प्रकृति के गुणों से प्रभावित होनेवाली इन्द्रियों की अन्तःक्रियाओं के प्रति भी अभेद्य रहना होगा। इन सारे भौतिक कार्यों का परित्याग करने पर वे अचल हो जायेंगे और मार्ग के सारे अवरोधों को पार कर जायेंगे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र ने योग-विधि के द्वारा सब प्रकार की भौतिक प्रतिक्रिया का निषेध करने का स्तर प्राप्त कर लिया था। प्रकृति के भौतिक गुणों के प्रभाव का शिकार बना जीव पदार्थ को भोगने की दुर्दम्य इच्छा के वश हो जाता है, किन्तु योग-विधि से मनुष्य ऐसे मिथ्या भोग से बच सकता है। प्रत्येक इन्द्रिय सदा अपने भोजन की तलाश में रहती है और इस तरह बद्धजीव पर चारों ओर से हमला होता है और उसे किसी भी कार्य में स्थिर होने का अवसर नहीं मिल पाता। नारद ने महाराज युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे अपने ताऊ को घर वापस लाने का प्रयास करके उन्हें विचलित न करें। वे अब किसी भी भौतिक वस्तु के आकर्षण से परे थे। भौतिक प्रकृति के गुणों की कार्य करने की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु प्रकृति के भौतिक गुणों के भी ऊपर आध्यात्मिक गुण हैं, जो परमपूर्ण हैं। *निर्गुण* का अर्थ है, प्रतिक्रिया-विहीन। आध्यात्मिक गुण तथा इसका प्रभाव समान हैं, अतएव आध्यात्मिक गुण को *निर्गुण* कहकर उसे भौतिक गुण से भिन्न दिखाया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों से पूर्णतः अवरुद्ध होने पर, मनुष्य आध्यात्मिक मंडल में प्रवेश करता है और आध्यात्मिक गुणों से प्रेरित कर्म *भक्ति* कहलाता है।

अतएव *भक्ति* परम पूर्ण के सीधे सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया गया निर्गुण है, जिसे परम-पूर्ण सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है।

स वा अद्यतनाद् राजन् परत: पञ्चमेऽहनि ।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ॥ ५७॥

शब्दार्थ

स:—वह; वा—सम्भवतया; अद्य—आज; तनात्—से; राजन्—हे राजन्; परत:—आगे; पञ्चमे—पाँचवें; अहनि—दिन; कलेवरम्—शरीर; हास्यति—छोड़ देंगे; स्वम्—अपनी इच्छा से; तत्—वह; च—भी; भस्मी—राख; भविष्यति—हो जायेगा।.

हे राजन्, सम्भव यह है कि वे आज से पाँचवें दिन अपना शरीर छोड़ देंगे और उनका शरीर राख हो जायेगा।

तात्पर्य : नारद मुनि की भविष्यवाणी ने युधिष्ठिर महाराज को उस स्थान को जाने से रोक दिया, जहाँ उनके ताऊ रह रहे थे, क्योंकि अपनी योग-शक्ति से अपना शरीर त्यागने के बाद भी धृतराष्ट्र को किसी दाह-संस्कार की आवश्यकता न थी। नारदमुनि ने संकेत किया कि उनका शरीर स्वत: जलकर भस्म हो जायेगा। योग-पद्धति की सिद्धि ऐसी ही योग-शक्ति से प्राप्त की जाती है। योगी इच्छित समय में अपना शरीर-त्याग कर सकता है और अपने इस शरीर को, खुद के लिए सृजित की हुइ अग्नि से भस्म करके इच्छित ग्रह को प्राप्त कर सकता है।

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्यु: पत्नी सहोटजे ।
बहि: स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनु वेक्ष्यति ॥ ५८॥

शब्दार्थ

दह्यमाने—जलते हुए; अग्निभि:—अग्नि द्वारा; देहे—शरीर में; पत्यु:—पति के; पत्नी—पत्नी; सह-उटजे—कुटिया समेत; बहि:—बाहर; स्थिता—स्थित; पतिम्—पति को; साध्वी—सती नारी; तम्—उस; अग्निम्—अग्नि को; अनु वेक्ष्यति—ध्यानपूर्वक देखते हुए अग्नि में प्रवेश करेगी।.

बाहर से अपने पति को अपनी योग शक्ति की अग्नि में अपनी कुटिया समेत जलता हुआ देखकर उसकी साध्वी पत्नी एकाग्रता पूर्वक ध्यानमग्न होकर अग्नि में प्रवेश करेगी।

तात्पर्य : गान्धारी एक आदर्श सती नारी थीं। वे अपने पति की जीवन-संगिनी थीं, अतएव जब उन्होंने देखा कि उनके पति योग की अग्नि में पर्णकुटी समेत जल रहे हैं, तो वे निराश हो गईं। उन्होंने

अपने सौ पुत्र खोने के बाद घर छोड़ दिया था और अब जंगल में अपने अत्यन्त प्रिय पति को भी जलते हुए देख रही थीं। अब वे वास्तव में अकेली अनुभव कर रहीं थीं, अतएव वे भी अपने पति की अग्नि में प्रवेश कर, पति का अनुगमन करते हुए मर गईं। सती स्त्री का अपने पति की अग्नि में प्रवेश करना *सती-संस्कार* कहलाता है और यह कर्म स्त्री के लिए अत्युत्तम माना जाता है। बाद के युग में, यह सती-प्रथा अत्यन्त घृणित अपराधी कृत्य बन गयी, क्योंकि यह प्रथा अनिच्छित स्त्री पर भी थोपी जाने लगी। इस पतित युग में किसी भी स्त्री के लिए गान्धारी तथा अन्यों के समान सती-संस्कार का शुद्ध विधि से पालन करना सम्भव नहीं है। गान्धारी-जैसी सती नारी को पति का वियोग वास्तविक अग्नि से अधिक दाहक प्रतीत होता था। ऐसी नारी स्वेच्छा से सती-धर्म का पालन कर सकती है, किन्तु किसी के द्वारा बल प्रयोग नहीं किया जाता है। जब यह प्रथा औपचारिकता बन गयी, तो इस नियम के पालन कराने के लिए नारी पर बलप्रयोग किया जाने लगा, तब यह सचमुच अपराध-पूर्ण बन गयी, अतएव राज-नियम द्वारा इसे बन्द कराना पड़ा। नारदमुनि की इस भविष्यवाणी ने, महाराज युधिष्ठिर को अपनी विधवा ताई के पास जाते रोक दिया।

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर भी; तु—लेकिन; तत्—वह घटना; आश्चर्यम्—आश्चर्यमय; निशाम्य—देखकर; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंश के पुत्र; हर्ष—प्रसन्नता; शोक—दुख; युतः—से प्रभावित; तस्मात्—उस स्थान से; गन्ता—चले जाएँगे; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; निषेवकः—शक्ति प्राप्त करने के लिए।

तब हर्ष तथा शोक से अभिभूत होकर, विदुर उस पवित्र तीर्थ-स्थान से चले जाएँगे।

तात्पर्य : विदुर, मुक्त योगी के रूप में अपने भ्राता धृतराष्ट्र के आश्चर्यमय प्रयाण को देखकर चकित थे, क्योंकि वे अपने विगत जीवन में भौतिकतावाद अत्यधिक लिप्त थे। निस्सन्देह, विदुर के ही कारण, उनके भाई को जीवन की वांछित गति प्राप्त हुई। अतएव यह जानकर विदुर परम प्रसन्न थे। लेकिन उन्हें दुख था कि वे अपने भाई को शुद्ध भक्त न बना पाये। विदुर ऐसा न कर पाये, क्योंकि धृतराष्ट्र उन पाण्डवों से शत्रुभाव रखते थे, जो सारे भगवान् के भक्त थे। वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराध से अधिक घातक होता है। निश्चय ही विदुर

अपने भाई धृतराष्ट्र पर अत्यन्त कृपालु थे, जिनका पिछला जीवन अत्यन्त भौतिकवादी था, किन्तु ऐसी कृपा का वर्तमान जीवन में फल अन्ततः परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है। अतएव धृतराष्ट्र को केवल मुक्ति-लाभ हुआ। ऐसे अनेक मुक्त जीवनों के बाद ही भक्ति की अवस्था प्राप्त हो पाती है। विदुर अपने भाई तथा भाभी की मृत्यु से अत्यन्त शोकातुर थे और ऐसे शोक को दूर करने का एकमात्र उपाय था कि वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ें। अतएव महाराज युधिष्ठिर के पास अपने जीवित चाचा विदुर को वापस बुलाने का अवसर न था।

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—सम्बोधित करके; अथ—तत्पश्चात्; आरुहत्—चढ़ गये; स्वर्गम्—बाह्य आकाश में; नारदः—महर्षि नारद; सह—के साथ; तुम्बुरुः—तम्बूरा; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; वचः—उपदेश; तस्य—उनका; हृदि कृत्वा—हृदय में रखकर; अजहात्—त्याग दिया; शुचः—सारा शोक।

ऐसा कहकर महर्षि नारद, अपनी वीणा-समेत बाह्य आकाश में चले गये। युधिष्ठिर ने उनके उपदेश को अपने हृदय में धारण किया, जिससे वे सारे शोकों से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : श्री नारदजी शाश्वत अन्तरिक्ष पुरुष हैं, जिन्हें भगवत्कृपा से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ है। वे बिना किसी प्रतिरोध के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों के बाह्य आकाश में विचरण कर सकते हैं और देखते ही देखते, दूर-सूदूर के किसी भी ग्रह में तत्क्षण पहुँच सकते हैं। दासी-पुत्र के रूप में हम उनके विगत जीवन का वर्णन पहले ही कर चुके हैं। शुद्ध भक्तों की संगति करने से ही, उन्हें शाश्वत अन्तरिक्ष-पुरुष का पद प्राप्त हुआ था, अतएव उन्हें विचरण करने की स्वतंत्रता थी। हमें नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयास करना चाहिए और यांत्रिक साधनों से अन्य लोकों तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए। महाराज युधिष्ठिर धर्मात्मा राजा थे, अतएव समय-समय पर उन्हें नारदमुनि के दर्शन होते रहते थे; अतएव जो नारदमुनि का दर्शन करने के इच्छुक हों, उन्हें सर्वप्रथम पवित्र बनना होगा और नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलना होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत "धृतराष्ट्र द्वारा गृहत्याग" नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तर्धान होना

सूत उवाच
सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; सम्प्रस्थिते—जाकर; द्वारकायाम्—द्वारका नगरी में; जिष्णौ—अर्जुन; बन्धु—मित्रों तथा सम्बन्धियों से; दिदृक्षया—मिलने के लिए; ज्ञातुम्—जानने के लिए; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—जिनका यश वैदिक स्तोत्रों द्वारा गाया जाता है; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; च—तथा; विचेष्टितम्—अगला कार्यक्रम।.

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य मित्रों को मिलने तथा भगवान् से उनके अगले कार्यकलापों के विषय में जानने के लिए अर्जुन द्वारका गये।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् इस पृथ्वी पर धर्मात्माओं की रक्षा करने तथा अधर्मियों का संहार करने के लिए अवतीर्ण हुए थे, अतएव कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त होने तथा महाराज युधिष्ठिर का राज्य स्थापित हो जाने पर भगवान् का कार्य पूर्ण हो चुका था। पाँच पाण्डव और विशेष रूप से अर्जुन, भगवान् कृष्ण के सनातन संगी थे। अतएव कृष्ण से उनके अगले कार्यक्रम के विषय में जानने के लिए अर्जुन द्वारका गये।

व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततोऽर्जुनः ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

व्यतीताः—व्यतीत करके; कतिचित्—कुछ; मासाः—महीने; तदा—उस समय; न आयात्—नहीं लौटा; ततः—वहाँ से; अर्जुनः—अर्जुन; ददर्श—देखा; घोर—भयानक; रूपाणि—दृश्य; निमित्तानि—विभिन्न कारण; कुरु-उद्वहः—महाराज युधिष्ठिर ने।.

कुछ मास बीत गये, किन्तु अर्जुन वापस नहीं लौटे। तब महाराज युधिष्ठिर को कुछ अपशकुन दिखने लगे, जो अपने आप में अत्यन्त भयानक थे।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं, हमारे संसार के सर्वाधिक शक्तिमान सूर्य से भी अधिक शक्तिशाली हैं। उनके एक श्वास-काल में लाखों-करोड़ों सूर्यों की सृष्टि और पुनः उनका संहार होता रहता है। भौतिक जगत में, सूर्य को समस्त उत्पादकर्ता तथा सारी भौतिक शक्ति का स्रोत माना जाता है और सूर्य के कारण ही हमें जीवन की आवश्यकताएँ उपलब्ध होती हैं। अतएव जब पृथ्वी पर भगवान् स्वयं उपस्थित थे, तो उस समय उनकी उपस्थिति के कारण हमारी शान्ति तथा सम्पन्नता का सारा साज-सामान, विशेष रूप से धर्म तथा ज्ञान, अपनी चरमावस्था में थे, जिस प्रकार चमकते सूर्य की उपस्थिति में सर्वत्र प्रकाश झलझलाता रहता है। महाराज युधिष्ठिर को अपने राज्य में कुछ न्यूनताएँ दिखीं, अतएव वे अर्जुन के विषय में अत्यधिक चिन्तित हो उठे, जो दीर्घकाल से अनुपस्थित थे और द्वारका की कुशलता का भी कोई समाचार नहीं मिला था। उन्हें भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की आशंका हुई, अन्यथा ऐसे भयानक अपशकुनों की सम्भावना नहीं थी।

कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः ।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—शाश्वत समय की; च—भी; गतिम्—दिशा; रौद्राम्—भयानक; विपर्यस्त—विपरीत; ऋतु—मौसम की; धर्मिणः—नियमितताएँ; पापीयसीम्—पापी; नृणाम्—मनुष्य की; वार्ताम्—जीविका का साधन; क्रोध—क्रोध; लोभ—लोभ; अनृत—झूठ; आत्मनाम्—लोगों का।

उन्होंने देखा कि सनातन काल की गति बदल गई है और यह अत्यन्त भयावह था। ऋतु-सम्बन्धी नियमितताओं में व्यतिक्रम हो रहे थे। सामान्य लोग अत्यन्त लालची, क्रोधी तथा धोखेबाज हो गये थे। वे देख रहे थे कि वे सभी जीविका के अनुचित साधन अपना रहे थे।

तात्पर्य : जब सभ्यता का सम्बन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रेम से टूट जाता है, तो ऋतु की नियमितता में परिवर्तन, जीविका के अनुचित साधन, लोभ, क्रोध तथा धोखाधड़ी जैसे लक्षणों का प्राधान्य हो जाता है। ऋतु-सम्बन्धी नियमितता के परिवर्तन का अर्थ है, एक ऋतु के समय दूसरी ऋतु के लक्षणों का प्रकट होना। उदाहरणार्थ, वर्षाऋतु, शरद्ऋतु में चली जाय या एक ऋतु में फूलने-फलने की क्रिया दूसरी ऋतु में होने लगे। ईश्वरविहीन मनुष्य अनिवार्यतः लालची, क्रोधी तथा धोखेबाज होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी साधन से अपनी जीविका चला सकता है चाहे वह साधन उचित हो या

अनुचित। महाराज युधिष्ठिर के राज्यकाल में ध्यान खींचने वाली बात यह थी कि उपर्युक्त सारे लक्षणों का अभाव था। लेकिन जब महाराज युधिष्ठिर को अपने राज्य के दैवी वातावरण में यत्किंचित् परिवर्तन का अनुभव होने लगा, तो वे चकित हो गए और उन्हें तुरन्त आशंका हुई कि भगवान् अप्रकट हो गये हैं। जीविका के अनुचित साधनों का अर्थ है, अपने वृत्तिपरक कर्म से हटना। हर एक के लिए, चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, कुछ कर्म नियत हैं, किन्तु यदि कोई इन कर्मों को न करके, अन्यों के कर्म को अपना कर्म घोषित करते हुए उसे अपनाता है, तो वह अनुचित कर्तव्य का पालन करता है। जब मनुष्य के समक्ष उच्चतर जीवन-उद्देश्य नहीं होता और वह सोचता है कि उसका कुछ वर्षों का भौतिक जीवन ही सब कुछ है, तो मनुष्य सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए अत्यधिक लोभी बन जाता है। अज्ञान ही मानव समाज की सारी विसंगतियों का कारण है और इस अज्ञान को हटाने के लिए, विशेष रूप से इस अधोगति के युग में, *श्रीमद्भागवत* रूपी प्रबल सूर्य अपना प्रकाश वितरित करने के लिए उपलब्ध है।

जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

जिह्म-प्रायम्—धोखा देना; **व्यवहृतम्**—समस्त सामान्य लेन-देन के कार्यों में; **शाठ्य**—कपट; **मिश्रम्**—अपमिश्रित; **च**—तथा; **सौहृदम्**—मैत्रीपूर्ण शुभचिन्तकों से सम्बन्धित; **पितृ**—पिता; **मातृ**—माता-सम्बन्धी; **सुहृत्**—शुभचिन्तक; **भ्रातृ**—निजी भाई; **दम्-पतीनाम्**—पति-पत्नी-विषयक; **च**—भी; **कल्कनम्**—पारस्परिक कलह।

सारे सामान्य लेन-देन, यहाँ तक कि मित्रों के बीच के व्यवहार तक, कपट के कारण दूषित हो गये थे। पारिवारिक मामलों में पिता, माता तथा पुत्रों के बीच, शुभचिन्तकों के बीच तथा भाई-भाई के बीच सदैव गलतफहमी होती थी। यहाँ तक कि पति तथा पत्नी के बीच भी सदैव तनाव तथा झगड़ा होता रहता था।

तात्पर्य : बद्धजीव में चार दुर्गुण पाये जाते हैं—त्रुटियाँ करना, मूर्खता, असमर्थता तथा वंचकता (ठगी)। ये अपूर्णता के लक्षण हैं और इन चारों में से अन्यों को ठगने की प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। यह ठगी बद्धजीवों में इसलिए आती है, क्योंकि वे प्रकृति पर प्रभुता जताने की अप्राकृतिक इच्छा से लिप्त होकर भौतिक जगत् में फँसे हुए हैं। शुद्ध अवस्था में जीव नियमों द्वारा बद्ध नहीं रहता,

क्योंकि अपनी शुद्ध अवस्था में उसे यह ज्ञान रहता है कि जीव परम पुरुष के अधीन है और इस तरह अधीन बने रहना उसके हित में है, बजाय इसके कि वह परमेश्वर की सम्पत्ति पर झूठी प्रभुता जताये। बद्ध अवस्था में यदि उसे सर्वस्व मिल जाए जो उसे कभी मिलनेवाला नहीं हैं, तो भी वह तुष्ट नहीं होता, अतएव वह सभी प्रकार की ठगी करने लगता है, यहाँ तक कि वह अपने निकटतम प्रिय सम्बन्धियों को भी ठगता है। ऐसी असंतोषजनक स्थिति में पिता तथा पुत्र या पति तथा पत्नी के बीच भी मेल नहीं रह पाता। लेकिन इन सभी विरोधी कठिनाइयों को एक विधि से दूर किया जा सकता है, और वह है भगवान् की भक्तिमय सेवा। पाखण्डमय संसार को भगवान् की भक्तिमय सेवा की प्रतिक्रिया द्वारा ही रोका जा सकता है, अन्य किसी विधि से नहीं। जब महाराज युधिष्ठिर ने इस प्रकार की विषमता देखी, तो उन्होंने अनुमान लगा लिया कि इस धरती से भगवान् का तिरोभाव हो चुका है।

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

निमित्तानि—कारण; अति—गम्भीर; अरिष्टानि—अशुभ लक्षण, अपशकुन; काले—कालक्रम में; तु—लेकिन; अनुगते—चला जाना; नृणाम्—मानव जाति का; लोभ-आदि—यथा लालच; अधर्म—अधर्म; प्रकृतिम्—आदतें; दृष्ट्वा—देख कर; उवाच—कहा; अनुजम्—छोटे भाई से; नृपः—राजा ने।

कालक्रम में ऐसा हुआ कि लोग लोभ, क्रोध, गर्व इत्यादि के अभ्यस्त हो गये। महाराज युधिष्ठिर ने इन सब अपशकुनों को देखकर अपने छोटे भाई से कहा।

तात्पर्य : जब समाज में लोभ, क्रोध, अधर्म तथा दम्भ जैसे अमानवीय लक्षणों का प्राधान्य हो उठा, तो महाराज युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा राजा अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि पतित समाज के ये सारे लक्षण उस काल के लोगों को अज्ञात थे और कलियुग के आगमन के साथ इनका अनुभव किया जाना उनके लिए आश्चर्यजनक था।

युधिष्ठिर उवाच
सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; सम्प्रेषितः—गया हुआ है; द्वारकायाम्—द्वारका; जिष्णुः—अर्जुन; बन्धु—मित्रों से; दिदृक्षया—मिलने के लिए; ज्ञातुम्—जानने के लिए; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—भगवान् का; कृष्णस्य—श्रीकृष्ण का; च—तथा; विचेष्टितम्—कार्यक्रम।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाई भीमसेन से कहा : मैंने अर्जुन को द्वारका भेजा था कि वह अपने मित्रों से भेंट कर आये और भगवान् श्रीकृष्ण से उनका कार्यक्रम जानता आये।

गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः ।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

गताः—बीत चुके; सप्त—सात; अधुना—इस समय तक; मासाः—महीने; भीमसेन—हे भीमसेन; तव—तुम्हारा; अनुजः—छोटा भाई; न—नहीं; आयाति—आता है; कस्य—किसलिए; वा—अथवा; हेतोः—कारण; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; इदम्—यह; अञ्जसा—वास्तव में।

जब से वह गया है, तब से सात मास बीत चुके हैं, फिर भी वह लौटा नहीं। मुझे ठीक से पता नहीं है कि वहाँ क्या हो रहा है।

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।
यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति ॥ ८॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; देव-ऋषिणा—देवर्षि (नारद) द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; सः—वह; कालः—शाश्वत समय; अयम्—यह; उपस्थितः—आ चुका है; यदा—जब; आत्मनः—अपने आप; अङ्गम्—अंश; आक्रीडम्—प्राकट्य; भगवान्—भगवान्; उत्सिसृक्षति—छोड़ने जा रहे हैं।

क्या वे अपनी मर्त्यलोक की लीलाओं को छोड़ने जा रहे हैं, जैसा देवर्षि नारद ने इंगित किया था? क्या वह समय आ भी चुका है?

तात्पर्य : जैसा हम कई बार बतला चुके हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के कई पूर्ण अंश हैं और इनमें से यद्यपि सभी समान रूप से शक्तिमान हैं, किन्तु वे भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् के कई तरह के कथन हैं और इनमें से प्रत्येक कथन विभिन्न अंशों या अंशांशों के लिए है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"हे भारत, जब जब भी और जहाँ जहाँ भी, धर्म का पतन तथा अधर्म का प्राधान्य होने लगता है, तब-तब मैं अवतरित होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.७)

"भक्तजनों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म के सिद्धान्तों की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.८)

"यदि मैं कर्म न करूँ, तो सारे लोग कुपथगामी हो जाँय। तब मैं अवांछित जन-समुदाय (वर्णसंकर) को उत्पन्न करने का कारण बनूँगा और इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशकर्ता बनूँगा।" (*भगवद्गीता* ३.२४)

"महापुरुष जो-जो आचरण करता है, सामान्य लोग उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो भी आदर्श प्रस्तुत करता है, संपूर्ण विश्व उसी का अनुगमन करता है।" (*भगवद्गीता* ३.२१)

उपर्युक्त सारे कथन भगवान् के विभिन्न अंशों पर लागू होते हैं—यथा संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा नारायण—इन सब दिव्य अंशों में वे स्वयं ही हैं। फिर भी श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् अपने विभिन्न कोटि के भक्तों से विभिन्न प्रकार की दिव्यानुभूति का आदान-प्रदान करते हैं। तो भी भगवान् कृष्ण अपने मूल रूप में, ब्रह्मा के प्रत्येक चौबीस घण्टों में (या ८,६४,००,००,००० सौर वर्षों के बाद) प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक बार प्रकट होते हैं और उनकी सारी दिव्य लीलाएँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड में क्रमश: दिखलाई पड़ती हैं। किन्तु निपट अनजान व्यक्ति के लिए, भगवान् कृष्ण, भगवान् वासुदेव आदि के कार्य जटिल समस्याएँ बने रहते हैं। स्वयं भगवान् तथा भगवान् के दिव्य शरीर में कोई भी अन्तर नहीं है। विभिन्न अंश तरह-तरह के कार्य सम्पन्न करते हैं। किन्तु जब भगवान्, सशरीर श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं, तब उनके अन्य अंश भी उनकी अचिन्त्य शक्ति *योगमाया* से उनके साथ हो लेते हैं। इस प्रकार वृन्दावन के भगवान् कृष्ण मथुरा या द्वारका के कृष्ण से भिन्न हैं। इसी तरह कृष्ण का *विराट् रूप* भी उनकी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनसे भिन्न है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में प्रदर्शित विराट रूप उनके रूप की भौतिक अवधारणा है। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि जब बहेलिया के तीर-कमान से भगवान् कृष्ण बाह्य दृष्टि से मारे गये, तब भगवान् अपना तथाकथित भौतिक शरीर इसी संसार में छोड़ते गये। भगवान् तो *कैवल्य* हैं और उनके लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है,

क्योंकि उन्हीं से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हुइ है। अतएव उनके द्वारा एक शरीर को त्यागना या दूसरा शरीर ग्रहण करने का अर्थ यह नहीं है कि वे सामान्य जीव जैसे हैं। ऐसे सारे कार्यकलाप उनकी अचिन्त्य शक्ति के कारण एक ही साथ एक तथा भिन्न-भिन्न हैं। जब महाराज युधिष्ठिर उनके अन्तर्धान होने की सम्भावना से शोकाकुल थे, तो यह अपने घनिष्ठ मित्र के अन्तर्धान होने पर शोक करने की प्रथा स्वरूप था, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि भगवान् कभी भी अपना दिव्य शरीर नहीं त्यागते, जैसाकि अल्पज्ञानी लोग भ्रमवश सोचते हैं। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने ऐसे अल्पज्ञों की भर्त्सना की है और उन्हें मूढ़ कहा गया है। भगवान् के शरीर-त्याग का अर्थ यह हुआ कि उन्होंने पुनः अपने अंशों को अपने-अपने दिव्य धामों में छोड़ दिया, जिस तरह इस संसार में उन्होंने अपना *विराट् रूप* छोड़ा था।

यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।
आसन्सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; नः—हमारा; सम्पदः—ऐश्वर्य; राज्यम्—राज्य; दाराः—पत्नियाँ; प्राणाः—जीवनाधार; कुलम्—वंश; प्रजाः—प्रजागण; आसन्—सम्भव हुए; सपत्न—प्रतियोगी; विजयः—जीतकर; लोकाः—उच्च लोकों में भावी निवास; च—तथा; यत्—जिसके; अनुग्रहात्—अनुग्रह से।

केवल उन्हीं से हमारा सारा राजसी ऐश्वर्य, अच्छी पत्नियाँ, जीवन, सन्तान, प्रजा के ऊपर नियंत्रण, शत्रुओं पर विजय तथा उच्चलोकों में भावी निवास, सभी कुछ सम्भव हो सका। यह सब हम पर उनकी अहैतुकी कृपा के कारण है।

तात्पर्य : भौतिक सम्पन्नता में अच्छी पत्नी, अच्छा घर, पर्याप्त भूमि, अच्छी सन्तानें, राजसी पारिवारिक सम्बन्ध, प्रतियोगियों पर विजय तथा पुण्य कर्म के द्वारा भौतिक सुविधाओं की बेहतर व्यवस्था के लिए उच्चतर दैवी लोकों में निवासस्थान की प्राप्ति सम्मिलित हैं। ये सुविधाएँ न केवल खुद के कठोर श्रम से या अनुचित साधनों से प्राप्त की जाती हैं, अपितु भगवान् की कृपा से प्राप्त होती हैं। किसी के निजी उद्यम से अर्जित सम्पन्नता भी भगवान् की कृपा पर ही निर्भर करती है। भगवान् के आशीर्वाद के साथ-साथ निजी श्रम तो होना ही चाहिए, किन्तु भगवान् के आशीर्वाद के बिना केवल श्रम से ही किसी को सफलता नहीं मिलती। कलियुग का आधुनिकता-प्रिय व्यक्ति निजी उद्यम में

विश्वास करता है और परमेश्वर के आशीर्वाद को नकारता है। यहाँ तक कि भारत के एक महान् संन्यासी ने शिकागो में दिये गये अपने भाषण में परमेश्वर के आशीर्वादों का विरोध किया। लेकिन जहाँ तक वैदिक शास्त्रों का सम्बन्ध है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में देखने में आता है, सभी प्रकार की सफलता का अन्तिम अधिकार परमेश्वर के हाथों में रहता है। महाराज युधिष्ठिर अपनी निजी सफलता के प्रसंग में इस सत्य को स्वीकार करते हैं। अतएव मनुष्य के लिए करने योग्य यही होगा कि वह महान् राजा एवं भगवान् के भक्त के पदचिह्नों का अनुसरण करे, जिससे उसका जीवन पूर्णतया सफल बने। यदि भगवान् की मर्जी के बिना कोई सफलता प्राप्त कर सकता था, तो कोई भी चिकित्सक (वैद्य) अपने रोगी को चंगा करने में असफल न होता। आधुनिकतम चिकित्सक के द्वारा रोगी की उन्नत चिकित्सा होने पर भी उसकी मृत्यु होती है, किन्तु कभी-कभी अत्यन्त आशाहीन रोगी बिना किसी उपचार के आश्चर्यजनक रूप में चंगा हो जाता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि सारी घटनाएँ, चाहे अच्छी हों या बुरी, भगवान् की मर्जी के कारण ही घटती हैं। किसी भी सफल व्यक्ति को अपनी सफलता के लिए भगवान् के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करना चाहिए।

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।
दारुणान् शंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पश्य—जरा देखो तो; उत्पातान्—उत्पातों को; नर-व्याघ्र—हे बाघ-सदृश बलवाले मनुष्य; दिव्यान्—आकाश की या ग्रहों के प्रभाव से घटनेवाली; भौमान्—पृथ्वी पर की घटनाएँ; स-दैहिकान्—शरीर तथा मन की घटनाएँ; दारुणान्—अत्यन्त खतरनाक; शंसतः—सूचित करनेवाली; अदूरात्—निकट के भविष्य में; भयम्—भय, खतरा; नः—हमारी; बुद्धि—बुद्धि को; मोहनम्—मोहग्रस्त करनेवाला।

हे पुरुषव्याघ्र, जरा देखो तो कि दैवी प्रभावों, पृथ्वी की प्रतिक्रियाओं तथा शारीरिक वेदनाओं के कारण उत्पन्न होने वाली कितनी खतरनाक आपदाएँ हमारी बुद्धि को मोहित करके निकट के भविष्य में आने वाले खतरे की सूचना दे रही हैं।

तात्पर्य : सभ्यता की भौतिक उन्नति का अर्थ है तीन प्रकार की आपदाओं की प्रगति, जो दैवी प्रभावों के कारण, पृथ्वी की प्रतिक्रियाओं के कारण एवं शरीर या मन की वेदनाओं के कारण हैं। नक्षत्रों के दैविक प्रभाव से अनेक विपत्तियाँ आती हैं—जैसे अत्यधिक गर्मी, सर्दी, वर्षा या सूखा तथा

इनके बाद के प्रभाव से दुर्भिक्ष, रोग तथा महामारी आती हैं। इन सबका सम्मिलित फल होता है, शारीरिक तथा मानसिक क्लेश। मानवकृत भौतिक विज्ञान इन तीन प्रकार की आपदाओं का प्रतिकार करने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। ये सब परमेश्वर की अध्यक्षता में उच्चतर शक्ति माया द्वारा, दिया जाने वाला दण्ड हैं। अतएव भक्तिमय सेवा द्वारा भगवान् के साथ हमारा निरन्तर सम्पर्क हमें राहत प्रदान कर सकता है और हम विचलित हुए बिना हमारे मनुष्योचित कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं। फिर भी असुर जन जो ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, वे इन तीनों प्रकार की आपदाओं का सामना करने के लिए अपनी खुद की योजनाएँ बनाते हैं, अतएव वे हर बार विफल होते हैं। *भगवद्गीता* (७.१४) में स्पष्ट कहा गया है कि तीनों भौतिक गुणों के बाह्यकारी प्रभावों के कारण भौतिक शक्ति की प्रतिक्रिया को कभी जीता नहीं जा सकता है। इन्हें वे ही जीत सकते हैं, जिन्होंने भक्ति-भाव से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है।

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः ।
वेपथुश्चापि हृदये आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऊरु—जाँघें; अक्षि—आँखें; बाहवः—भुजाएँ; मह्यम्—मेरे; स्फुरन्ति—फड़कते हैं; अङ्ग—शरीर का बाँया भाग; पुनः पुनः—बारम्बार; वेपथुः—धड़कनें; च—भी; अपि—निश्चय ही; हृदये—हृदय में; आरात्—डर के मारे; दास्यन्ति—सूचित कर रहे हैं; विप्रियम्—अशुभ, अनिष्ट ।

मेरे शरीर का बाँयाँ भाग, मेरी जाँघें, भुजाएँ तथा आँखें बारम्बार फड़क रही हैं। भय से मेरा हृदय धड़क रहा है। ये सब अनिष्ट घटना को सूचित करने वाले हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक अस्तित्व अनिष्टों से भरा हुआ है। जिन वस्तुओं को हम नहीं चाहते, वे ही किसी उच्चतर शक्ति द्वारा हम पर लाद दी जाती हैं और हम यह नहीं देख पाते कि ये अनिष्ट प्रकृति के तीनों गुणों के नियंत्रण में हैं। जब किसी मनुष्य की जाँघें, भुजाएँ तथा आँखें लगातार फड़कें, तो यह समझ लेना चाहिए कि कुछ अनिष्ट होनेवाला है। इन सब अनिष्टों की तुलना दावग्नि से की जाती है। जंगल में कोई आग लगाने नहीं जाता, फिर भी यह आग स्वतः लग जाती है, जिससे जंगल के जीवों को अकल्पनीय विपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं। ऐसी आग को किसी भी मानवीय प्रयास से नहीं बुझाया जा सकता। यह अग्नि केवल भगवान् की कृपा से ही बुझ सकती है, जो अग्नि का शमन करने के लिए

बादलों को भेजते हैं। इसी प्रकार कितनी भी योजनाएँ क्यों न बनाई जाँय, जीवन की अप्रिय घटनाओं को रोका नहीं जा सकता। ऐसी विपत्तियाँ केवल भगवत्कृपा से ही दूर की जा सकती हैं, जिसके निमित्त भगवान् अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को भेजकर मनुष्य को प्रबुद्ध करते हैं और विपत्तियों से बचाते हैं।

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।
मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत् ॥ १२॥

शब्दार्थ

शिवा—सियारिन; एषा—यह; उद्यन्तम्—उगता; आदित्यम्—सूर्य को; अभि—की ओर; रौति—रोती हुई; अनल—अग्नि; आनना—मुँह; माम्—मुझको; अङ्ग—हे भीम; सारमेयः—कुत्ता; अयम्—यह; अभिरेभति—भूकता है; अभीरु-वत्—भयरहित।

हे भीम, जरा देखो तो यह सियारिन किस तरह उगते हुए सूर्य को देखकर रो रही है और अग्नि उगल रही है और यह कुत्ता किस तरह निर्भय होकर, मुझ पर भूक रहा है।

तात्पर्य : ये कतिपय अपशकुन हैं, जो निकट के भविष्य में अनिष्ट का संकेत देनेवाले हैं।

शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ॥ १३॥

शब्दार्थ

शस्ताः—गाय जैसे उपयोगी पशु; कुर्वन्ति—रखते हैं; माम्—मुझको; सव्यम्—बाईं ओर; दक्षिणम्—प्रदक्षिणा करते हुए; पशवः अपरे—अन्य पशु, यथा गधे; वाहान्—घोड़े (वाहक); च—भी; पुरुष-व्याघ्र—हे पुरुषों में बाघ; लक्षये—मैं देख रहा हूँ; रुदतः—रोते हुए; मम—मेरे।

हे भीमसेन, हे पुरुष-व्याघ्र, अब गाय जैसे उपयोगी पशु मेरी बाईं ओर से निकले जा रहे हैं और गधे जैसे निम्न पशु, मेरी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। मेरे घोड़े मुझे देखकर रोते प्रतीत होते हैं।

मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन् मनः ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैर्विश्वं वै शून्यमिच्छतः ॥ १४॥

शब्दार्थ

मृत्यु—मृत्यु का; दूतः—दूत; कपोतः—कबूतर; अयम्—यह; उलूकः—उल्लू; कम्पयन्—कँपाती हुई; मनः—मन; प्रत्युलूकः—उल्लुओं के प्रतियोगी, कौवे; च—तथा; कुह्वानैः—चीख; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; वै—अथवा; शून्यम्—शून्य; इच्छतः—चाहते हैं।

जरा देखो तो! यह कबूतर मानो मृत्यु का दूत हो। उल्लुओं तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी कौवों की चीख मेरे हृदय को दहला रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शून्य बना देना चाहते हैं।

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।
निर्घातश्च महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धूम्राः—धुँधली; दिशः—सभी दिशाएँ; परिधयः—मंडल; कम्पते—काँपती हुई; भूः—पृथ्वी; सह अद्रिभिः—पर्वतों समेत; निर्घातः—आकाश से वज्रपात; च—भी; महान्—विशाल; तात—हे भीम; साकम्—सहित; च—भी; स्तनयित्नुभिः—बिना बादल के गर्जन।

जरा देखो तो, किस तरह धुँआ आकाश को घेरे हुए है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो पृथ्वी तथा पर्वत काँप रहे हों। बिना बादलों की यह गर्जन तो जरा सुनो और आकाश से गिरते ब्रजपात को तो देखो!

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृग् वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वायुः—वायु; वाति—बह रही है; खर-स्पर्शः—तेजी से; रजसा—धूल से; विसृजन्—उत्पन्न करते; तमः—अँधेरा; असृक्—रक्त; वर्षन्ति—बरसा रहे हैं; जलदाः—बादल; बीभत्सम्—भयानक; इव—सदृश; सर्वतः—सर्वत्र।

वायु तेजी से बह रही है और वह सर्वत्र धूल बिखरा कर अँधेरा उत्पन्न कर रही है। बादल सर्वत्र रक्तिम आपदाओं की वर्षा कर रहे हैं।

सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि ।
ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सूर्यम्—सूर्य को; हत-प्रभम्—क्षीण पड़ती किरणों वाले; पश्य—जरा देखो; ग्रह-मर्दम्—तारों की भिड़न्त; मिथः—परस्पर; दिवि—आकाश में; स-सङ्कुलैः—एक दूसरे से मिलकर; भूत-गणैः—जीवों द्वारा; ज्वलिते—जलाया जाकर; इव—मानो; रोदसी—रो रहा हो।.

सूर्य की किरणें मन्द पड़ रही हैं और तारे परस्पर भिड़ रहे प्रतीत हो रहे हैं। भ्रमित जीव जलते हुए तथा रोते प्रतीत हो रहे हैं।

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; नदाः च—तथा सहायक नदियाँ; क्षुभिताः—सभी विक्षुब्ध; सरांसि—जलाशय; च—तथा; मनांसि—मन; च—भी; न—नहीं; ज्वलति—जलती है; अग्निः—अग्नि; आज्येन—घी की सहायता से; कालः—काल, समय; अयम्—यह कितना असामान्य है; किम्—क्या; विधास्यति—होनेवाला है।.

नदियाँ, नाले, तालाब, जलाशय तथा मन सभी विक्षुब्ध हैं। घी से अग्नि नहीं जल रही हैं, यह कैसा असामान्य समय है? आखिर क्या होने वाला है?

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पिबन्ति—पीते हैं; स्तनम्—थन को; वत्साः—बछड़े; न—नहीं; दुह्यन्ति—दुहने देती हैं; च—भी; मातरः—गाएँ; रुदन्ति—रोती हैं; अश्रु-मुखाः—आँसुओं से युक्त मुँह; गावः—गाएँ; न—नहीं; हृष्यन्ति—प्रसन्न होते हैं; ऋषभाः—बैल; व्रजे—चरागाह में।.

बछड़े न तो गौवों के थनों में मुँह लगा रहे हैं, न गौवें दूध देती हैं। वे आँखों में आँसू भरे खड़ी-खड़ी रम्भा रही हैं और बैलों को चरागाहों में कोई प्रसन्नता नहीं हो रही है।

दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दैवतानि—मन्दिरों के अर्चाविग्रह; रुदन्ति—रोते प्रतीत हो रहे हैं; इव—सदृश; स्विद्यन्ति—पसीज रहे हैं; हि—निश्चय ही; उच्चलन्ति—मानो बाहर जा रहे हों; च—भी; इमे—ये; जन-पदाः—शहर, नगर; ग्रामाः—गाँव; पुर—कस्बे; उद्यान—बगीचे;

आकर—खानें; आश्रमाः—कुटिया.; भ्रष्ट—रहित; श्रियः—सौन्दर्य से; निरानन्दाः—समस्त आनन्द से विहीन; किम्—किस तरह की; अघम्—आपत्तियाँ; दर्शयन्ति—प्रकट होने वाली हैं; नः—हम पर।

मन्दिर में अर्चाविग्रह रोते, शोक करते तथा पसीजते प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे प्रयाण करनेवाले हैं। सारे नगर, ग्राम, कस्बे, बगीचे, खानें तथा आश्रम अब सौन्दर्यविहीन तथा समस्त आनन्द से रहित हैं। मैं नहीं जानता कि हम पर किस तरह की विपत्तियाँ आनेवाली हैं।

मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः ।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं मान लेता हूँ; एतैः—इन सबसे; महा—महान्; उत्पातैः—उत्पातों से; नूनम्—के अभाव में; भगवतः—भगवान् का; पदैः—पाँव के तलवे में चिह्न; अनन्य—असामान्य; पुरुष—परम पुरुष का; श्रीभिः—शुभ चिह्नों से; हीना—विहीन; भूः—पृथ्वी; हत-सौभगा—सौभाग्य से रहित।

मैं सोचता हूँ कि पृथ्वी पर की ये सारी उथल-पुथल विश्व के सौभाग्य की किसी बहुत बड़ी हानि को सूचित करनेवाले हैं। संसार भाग्यशाली था कि उस पर भगवान् के चरणकमलों के पदचिन्ह अंकित हुए। किन्तु ये लक्षण यह सूचित कर रहे हैं कि अब आगे ऐसा नहीं रह पाएगा।

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; चिन्तयतः—अपने आप सोचते हुए; तस्य—उनका; दृष्टा—देखकर; अरिष्टेन—अपशकुन से; चेतसा—मन से; राज्ञः—राजा को; प्रति—वापस; आगमत्—आया; ब्रह्मन्—हे ब्रह्माण; यदु-पुर्याः—यदुओं के राज्य से; कपि-ध्वजः—अर्जुन।

हे ब्राह्मण शौनक, जब महाराज युधिष्ठिर उस समय पृथ्वी पर इन अशुभ लक्षणों को देख रहे थे और अपने मन में इस प्रकार सोच रहे थे, तभी अर्जुन यदुओं की पुरी (द्वारका) से वापस आ गये।

तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् ।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (अर्जुन को); पादयोः—पाँवों पर; निपतितम्—गिर कर; अयथा-पूर्वम्—अपूर्व रीति से; आतुरम्—खिन्न; अधः-वदनम्—मुख नीचा किये; अप्-बिन्दून्—जल के बिन्दु; सृजन्तम्—उत्पन्न करते हुए; नयन-अब्जयोः—कमल-जैसे नेत्रों से।

जब उसने राजा के चरणों पर नमन किया, तो राजा ने देखा कि उनकी निराशा अभूतपूर्व थी। उनका सिर नीचे झुका था और उनके कमल-नेत्रों से आँसू झर रहे थे।

विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; उद्विग्न—चिन्तित; हृदयः—हृदय; विच्छायम्—पीला चेहरा; अनुजम्—अर्जुन को; नृपः—राजा ने; पृच्छति स्म—पूछा; सुहृत्—मित्रों के; मध्ये—मध्य में; संस्मरन्—स्मरण करते हुए; नारद—नारदमुनि द्वारा; ईरितम्—सूचित।

हृदय की उद्विग्नताओं के कारण अर्जुन को पीला हुआ देखकर, राजा ने नारदमुनि द्वारा बताये गये संकेतों का स्मरण करते हुए, मित्रों के मध्य में ही उनसे पूछा।

युधिष्ठिर उवाच
कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते ।
मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर ने कहा; कच्चित्—क्या; आनर्त-पुर्याम्—द्वारका में; नः—हमारे; स्व-जनाः—सम्बन्धी; सुखम्—सुखपूर्वक; आसते—दिन बिता रहे हैं; मधु—मधु; भोज—भोज; दशार्ह—दशार्ह; आर्ह—आर्ह; सात्वत—सात्वत; अन्धक—अन्धक; वृष्णयः—वृष्णि परिवार के।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : मेरे भाई, मुझे बताओ कि हमारे मित्र तथा सम्बन्धी, यथा मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक तथा यदुवंश के सारे सदस्य, अपने दिन सुख से बिता रहे हैं न?

शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः ।
मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शूरः—शूरसेन; मातामहः—नाना; कच्चित्—क्या; स्वस्ति—सभी शुभ; आस्ते—अपने दिन बिता रहे हैं; वा—अथवा; अथ—अतएव; मारिषः—आदरणीय; मातुलः—मामा; स-अनुजः—अपने छोटे भाइयों सहित; कच्चित्—क्या; कुशली—सभी कुशल; आनक-दुन्दुभिः—वसुदेव।

मेरे आदरणीय नाना शूरसेन प्रसन्न तो हैं? तथा मेरे मामा वसुदेव तथा उनके छोटे भाई ठीक से तो हैं?

सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; स्व-सारः—परस्पर बहनें; तत्-पत्न्यः—उनकी पत्नियाँ; मातुलान्यः—मौसियाँ; सह—के साथ; आत्म-जाः—पुत्र तथा पौत्र; आसते—सभी हैं; सस्नुषाः—अपनी बहुओं सहित; क्षेमम्—सुख; देवकी—देवकी; प्रमुखाः—अग्रणी; स्वयम्—स्वयं।

देवकी इत्यादि उनकी सातों पत्नियाँ परस्पर बहिनें हैं। वे तथा उनके पुत्र एवं बहुएँ सब सुखी तो हैं?

कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः ।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥ २८॥
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः ।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः ॥ २९॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; राजा—राजा; आहुकः—उग्रसेन का अन्य नाम; जीवति—अब भी जीवित है; असत्—शैतान, दुष्ट; पुत्रः—पुत्र; अस्य—उनका; च—भी; अनुजः—छोटा भाई; हृदीकः—हृदीक; स-सुतः—अपने पुत्र कृतवर्मा समेत; अक्रूरः—अक्रूर; जयन्त—जयन्त; गद—गद; सारणाः—सारण; आसते—सब हैं; कुशलम्—आनन्द से; कच्चित्—क्या; ये—वे; च—भी; शत्रुजित्—शत्रुजित; आदयः—आदि; कच्चित्—क्या; आस्ते—वे हैं; सुखम्—अच्छी तरह; रामः—बलराम; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों के; प्रभुः—रक्षक।

क्या उग्रसेन जिसका पुत्र दुष्ट कंस था तथा उनका छोटा भाई अब भी जीवित हैं? क्या हृदीक तथा उसका पुत्र कृतवर्मा कुशल से हैं? क्या अक्रूर, जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित प्रसन्न हैं? भक्तों के रक्षक भगवान् बलराम कैसे हैं?

तात्पर्य : पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर आजकल की नई दिल्ली के निकट कहीं पर स्थित थी और उग्रसेन का राज्य मथुरा में था। द्वारका से दिल्ली लौटते हुए, अर्जुन अवश्य ही मथुरा नगरी गये

होंगे, अतएव मथुरा के राजा के विषय में पूछताछ योग्य है। सम्बन्धियों के विविध नामों में से भगवान् कृष्ण के बड़े भाई, राम या बलराम के साथ, भगवान् शब्द जुड़ा हुआ है, क्योंकि भगवान् बलराम *विष्णु-तत्त्व* के तुरन्त के विस्तार हैं और भगवान् कृष्ण के *प्रकाश-विग्रह* हैं। परमेश्वर यद्यपि अद्वितीय हैं, किन्तु वे अन्य तमाम जीवों के रूप में विस्तार करते हैं। विष्णु-तत्त्व, परमेश्वर के अंश (विस्तार) हैं और वे सब गुण तथा परिमाण की दृष्टि से भगवान् के तुल्य हैं। लेकिन *जीवशक्ति* के अंश सामान्य जीवों की श्रेणी में आते हैं और वे जरा भी भगवान् के तुल्य नहीं हैं। जो कोई *जीवशक्ति* तथा *विष्णु-तत्त्व* को समान स्तर पर मानता है, उसे संसार का अधम जीव समझा जाता है। श्रीराम या बलराम भगवद्भक्तों के रक्षक हैं। वे समस्त भक्तों के गुरु हैं और उनकी अहैतुकी कृपा से पतित आत्माओं का उद्धार होता है। भगवान् चैतन्य के आविर्भाव के समय, श्रीबलदेव श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में प्रकट हुए थे, जिन्होंने जगाइ तथा माधाइ नामक दो अत्यन्त अधम जीवों का उद्धार अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा किया। अतएव यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि बलराम भगवद्भक्तों के रक्षक हैं। उनकी दैवी कृपा से ही कोई परमेश्वर कृष्ण तक पहुँच सकता है। अतएव श्रीबलराम भगवान् के कृपा-अवतार हैं, जो गुरु के रूप में, शुद्ध भक्तों के त्राता के रूप में, प्रकट होते हैं।

प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न (भगवान् कृष्ण के पुत्र); **सर्व**—सभी; **वृष्णीनाम्**—वृष्णि-परिवार के सदस्यों का; **सुखम्**—सुख; **आस्ते**—हैं; **महा-रथः**—महान् सेनापति; **गम्भीर**—गहराई से; **रयः**—दक्षता; **अनिरुद्धः**—अनिरुद्ध (कृष्ण का पौत्र); **वर्धते**—बढ़ता है; **भगवान्**—भगवान्; **उत**—अवश्य चाहिए।

वृष्णि-कुल के महान् सेनापति प्रद्युम्न कैसे हैं? वे प्रसन्न तो हैं? और भगवान् के पूर्ण अंश अनिरुद्ध ठीक से तो हैं?

तात्पर्य : प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी भगवान् के अंश हैं और इस तरह वे दोनों भी विष्णु-तत्त्व हैं। द्वारका में भगवान् वासुदेव, अपने पूर्णांशों—संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—सहित अपनी दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। अतएव इनमें से प्रत्येक को भगवान् कहा जा सकता है जैसाकि अनिरुद्ध नाम के साथ कहा जा चुका है।

सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सुषेणः—सुषेण; चारुदेष्णः—चारुदेष्ण; च—तथा; साम्बः—साम्ब; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र; अन्ये—अन्य; च—भी; कार्ष्णि—भगवान् कृष्ण के पुत्र; प्रवराः—सेना-नायक; स-पुत्राः—अपने-अपने पुत्रों सहित; ऋषभ—ऋषभ; आदयः—इत्यादि।

कृष्ण के सभी सेना-नायक पुत्र यथा सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवती-पुत्र साम्ब तथा ऋषभ अपने-अपने पुत्रों समेत ठीक से तो रह रहे हैं?

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा चुका है, भगवान् कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं और हर एक को दस-दस पुत्र थे। अतएव कुल मिलाकर १६,१०८ x १०=१,६१,०८० पुत्र थे। वे सब बड़े हुए तो उनके भी अपने-अपने पिता की तरह दस-दस पुत्र हुए, जिससे भगवान् के परिवार में १६,१०,८०० सदस्य थे। भगवान् असंख्य जीवों के पिता हैं, अतएव उनमें कुछ ही इस पृथ्वी पर भगवान् की द्वारका की दिव्य लीलाओं में उनके संगी रूप में बुलाए गये थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भगवान् के परिवार में इतने सारे लोग थे। अच्छा तो यह होगा कि भगवान् की तुलना अपने साथ करने से बचा जाय और ज्योंही हम भगवान् के दिव्य पद के थोड़े से अंश को ही समझ लेते हैं, त्योंही यह बात एक सच्चाई बन जाती है। राजा युधिष्ठिर ने द्वारका-स्थित भगवान् के पुत्रों तथा पौत्रों का कुशल समाचार पूछते समय उनमें से केवल सेनानायकों के ही नाम लिये हैं, क्योंकि कृष्ण के परिवार भर के सदस्यों के नाम स्मरण रख पाना राजा के लिए सम्भव न था।

तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः ।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥ ३२ ॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तथा एव—इसी प्रकार; अनुचराः—नित्य-संगी; शौरेः—भगवान् श्रीकृष्ण के, यथा; श्रुतदेव—श्रुतदेव; उद्धव-आदयः—उद्धव तथा अन्य; सुनन्द—सुनन्द; नन्द—नन्द; शीर्षण्याः—अन्य नायक; ये—वे सब; च—तथा; अन्ये—अन्य; सात्वत—मुक्त जीव; ऋषभाः—श्रेष्ठ पुरुष; अपि—यदि; स्वस्ति—कुशल से; आसते—हैं; सर्वे—वे सब; राम—बलराम; कृष्ण—भगवान् कृष्ण;

भुज-आश्रयाः—के संरक्षण में; अपि—यदि भी; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; कुशलम्—कुशलता; अस्माकम्—हमारे; बद्ध-सौहृदाः—शाश्वत मैत्री से बँधे हुए।

इसके अतिरिक्त, श्रुतदेव, उद्धव तथा अन्य, नन्द, सुनन्द तथा अन्य मुक्तात्माओं के नायक, जो भगवान् के नित्यसंगी हैं, भगवान् बलराम तथा कृष्ण द्वारा सुरक्षित तो हैं? वे सब अपना-अपना कार्य ठीक से चला रहें हैं न? वे जो हमसे नित्य मैत्री-पाश में बँधे हैं, हमारी कुशलता के बारे में पूछते तो हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के नित्यसंगी, यथा उद्धव, सबके सब मुक्तात्माएँ हैं और वे भगवान् के ही कार्य को परिपूर्ण करने के लिए इस धरा पर अवतरित हुए थे। पाण्डव-जन भी मुक्तात्माएँ हैं, जो भगवान् के साथ इस पृथ्वी पर उनकी दिव्य लीलाओं में सेवा करने के लिए अवतरित हुए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है, भगवान् तथा भगवान् की ही तरह मुक्तात्माएँ, उनके नित्यसंगी, कुछ-कुछ अन्तरालों के बाद इस पृथ्वी पर आते रहते हैं। भगवान् उन सबों को स्मरण रखते हैं, लेकिन उनके संगी, मुक्तात्माएँ होते हुए भी, *तटस्था* शक्ति होने के कारण भूल जाते हैं। *विष्णु तत्त्व* तथा *जीव तत्त्व* में यही अन्तर होता है। जीव-तत्त्व भगवान् के अत्यन्त सूक्ष्म शक्तिमान कण हैं, अतएव उन्हें सदैव भगवान् की सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है और भगवान् अपने सेवकों को सर्वदा समस्त सुरक्षा प्रदान करने में प्रसन्न रहते हैं। अतएव मुक्तात्माएँ कभी भी अपने को भगवान् के समान मुक्त या भगवान् के समान शक्तिमान नहीं मानतीं, अपितु सभी परिस्थितियों में, चाहे भौतिक जगत में हों या आध्यात्मिक जगत में, भगवान् की सुरक्षा की कामना करती हैं। मुक्तात्मा की यह पराश्रयता स्वाभाविक है, क्योंकि मुक्तात्माएँ अग्नि के स्फुलिंगों की भाँति हैं, जो अग्नि की उपस्थिति में ही अपनी चमक दिखा सकती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। स्वतंत्र रूप से, स्फुलिंग की चमक बुझ जाती है, भले ही उसमें अग्नि के गुण तथा चमक रहती है। अतएव जो भगवान् की सुरक्षा त्यागकर, आध्यात्मिक अज्ञान के कारण स्वयं प्रभु बन जाते हैं, वे पुनः इस भौतिक जगत में आते हैं, भले ही वे कठोर से कठोर तपस्या क्यों न करें। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का यही मत है।

भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः ।
कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् कृष्ण; अपि—भी; गोविन्दः—जो गायों तथा इन्द्रियों को अनुप्राणित करते हैं; ब्रह्मण्यः—भक्तों या ब्राह्मणों को समर्पित; भक्त-वत्सलः—भक्तों के प्रति स्नेहपूर्ण; कच्चित्—क्या; पुरे—द्वारकापुरी में; सुधर्मायाम्—पवित्र सभा में; सुखम्—सुख; आस्ते—भोग करते हैं; सुहृत्-वृतः—मित्रों से घिरे हुए।

पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, जो गायों, इन्द्रियों तथा ब्राह्मणों को आनन्द प्रदान करने वाले हैं और अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल हैं, अपने मित्रों से घिर कर, द्वारकापुरी में पवित्र सभा का भोग तो कर रहे हैं?

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक में भगवान् का वर्णन गोविन्द, *ब्रह्मण्य* तथा भक्तवत्सल शब्दों से किया गया है। वे *भगवान् स्वयं* अर्थात् आदि भगवान् हैं और वे समस्त ऐश्वर्य, समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त सौन्दर्य, समस्त यश तथा समस्त त्याग से परिपूर्ण हैं। कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वे गोविन्द हैं, क्योंकि वे गौवों तथा इन्द्रियों के आनन्द हैं। जिन्होंने भगवान् की भक्तिमय सेवा द्वारा अपनी इन्द्रियों को शुद्ध कर लिया है, वे ही उनकी वास्तविक सेवा कर सकते हैं और ऐसी शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। केवल अशुद्ध बद्धजीव ही, इन्द्रियों से कोई आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु इन्द्रियों के मिथ्या आनन्द से मोहग्रस्त हो करके इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। अतएव अपने हित के लिए हमें भगवान् के संरक्षण की आवश्यकता है। भगवान् गायों के तथा ब्राह्मण-संस्कृति के रक्षक हैं। जो समाज गो-संरक्षण तथा ब्राह्मण-संस्कृति से विहीन है, वह भगवान् के प्रत्यक्ष संरक्षण में नहीं होता, जिस तरह कि कारागार के बन्दी राजा के संरक्षण में न रहकर, राजा के किसी कठोर प्रतिनिधि के संरक्षण में रहते हैं। गो-संरक्षण तथा मानव समाज में, कम से कम समाज के कुछ सदस्यों में, ब्राह्मण गुणों के अनुशीलन के बिना कोई भी मानव सभ्यता उन्नति नहीं कर सकती। ब्राह्मण संस्कृति से ही ब्राह्मण बना जा सकता है और भगवान् के यथारूप में दर्शन किये जा सकते हैं। ब्राह्मण संस्कृति सुप्त सत्त्वगुणों का विकास है, जिसमें सत्यनिष्ठा, समता, इन्द्रिय निग्रह, सहिष्णुता, सरलता, सामान्य ज्ञान, दिव्य ज्ञान तथा वैदिक वाङ्मय में अटूट श्रद्धा सम्मिलित हैं। ब्राह्मणत्व की पूर्णता पा लेने के बाद, मनुष्य को भगवद्भक्त बनना होता है, जिससे मालिक, स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी के रूप में उनके स्नेह को दिव्य रूप से प्राप्त किया जा सके। भक्त की अवस्था, जो भगवान् के दिव्य प्रेम को आकर्षित करती है, उसका तब तक विकास नहीं होता, जब तक मनुष्य उपरोक्त ब्राह्मणत्व के गुणों का विकास नहीं करता। भगवान् ब्राह्मण के गुणों की ओर आकृष्ट होते हैं,

उसकी झूठी प्रतिष्ठा की ओर नहीं। जो लोग योग्यता में ब्राह्मण से कम होते हैं, वे भगवान् से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते हैं, जैसे कि काष्ठ के बिना कच्ची मिट्टी में आग नहीं जलाई जा सकती, यद्यपि काष्ठ तथा मिट्टी में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनकी कुशलता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने यह प्रश्न नहीं पूछा। उन्होंने केवल उनके आवास स्थान 'द्वारकापुरी' के सम्बन्ध में ही पूछा, जहाँ पुण्यात्मा एकत्र होते हैं। भगवान् वहीं रहते हैं, जहाँ पुण्यात्माएँ एकत्र होती हैं और परम सत्य के गुणगान में आनन्द लेते हैं। महाराज युधिष्ठिर द्वारका के पवित्र व्यक्तियों तथा उनके पुण्य कर्मों के विषय में जानने के लिए उत्सुक थे।

मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ॥ ३५ ॥
यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः ।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मङ्गलाय—कल्याण के लिए; च—भी; लोकानाम्—समस्त लोकों के; क्षेमाय—सुरक्षा के लिए; च—तथा; भवाय—उन्नति के लिए; च—भी; आस्ते—हैं; यदु-कुल-अम्भोधौ—यदुवंश रूपी सागर में; आद्यः—आदि; अनन्त-सखः—अनन्त (बलराम) के साथ; पुमान्—परम भोक्ता; यत्—जिसको; बाहु-दण्ड-गुप्तायाम्—उनके बाहुओं से सुरक्षित होकर; स्व-पुर्याम्—अपनी नगरी में; यदवः—यदुवंश के सदस्य; अर्चिताः—योग्यता के अनुसार; क्रीडन्ति—आनन्द ले रहे हैं; परम-आनन्दम्—दिव्य आनन्द; महा-पौरुषिकाः—वैकुण्ठ के वासी; इव—सदृश।

परम भोक्ता आदि भगवान् तथा जो मूल भगवान् अनन्त हैं, बलराम यदुवंश रूपी सागर में समस्त ब्रह्माण्ड के कल्याण, सुरक्षा तथा उन्नति के लिए निवास कर रहे हैं। और सारे यदुवंशी भगवान् की भुजाओं द्वारा सुरक्षित रहकर, वैकुण्ठवासियों की भाँति जीवन का आनन्द उठा रहे हैं।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं, भगवान् विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में दो रूपों में निवास करते हैं—गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में। क्षीरोदकशायी विष्णु का अपना लोक है, जो ब्रह्माण्ड के उत्तरी शीर्ष पर है और वहाँ क्षीर का एक विशाल समुद्र है, जिसमें वे बलदेव के अवतार अनन्त की शय्या पर वास करते हैं। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर ने यदुवंश की तुलना क्षीरसागर से की है और श्री बलराम की तुलना अनन्त से की है, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण वास

करते हैं। उन्होंने द्वारका के निवासियों की तुलना वैकुण्ठलोक के मुक्त निवासियों से की है। भौतिक आकाश के परे, जहाँ तक हमारी आँखें देख सकती हैं उससे भी आगे तथा ब्रह्माण्ड के सप्तावरणों के भी आगे कारणार्णव सागर है, जिसमें सारे ब्रह्माण्ड गेंद की तरह तैर रहे हैं। इस कारण सागर के आगे वैकुण्ठलोक का असीम पाट है, जिसे सामान्यतया ब्रह्मतेज कहते हैं। इस तेज में असंख्य आध्यात्मिक ग्रह हैं और वे वैकुण्ठलोक के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक वैकुण्ठ ग्रह इस भौतिक जगत के सबसे बड़े ब्रह्माण्ड से भी बड़ा है और प्रत्येक में असंख्य निवासी रहते हैं, जो बिलकुल भगवान् विष्णु जैसे दिखते हैं। ये निवासी महापौरुषिक कहलाते हैं—अर्थात् ऐसे पुरुष, जो प्रत्यक्ष रुप में भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। वे उन ग्रहों में सुखी हैं और उन्हें कोई कष्ट नहीं सताता, वे सदैव तरुण बने रहते हैं और पूर्ण आनन्द तथा ज्ञान का जीवन बिताते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा या रोग का कोई भय नहीं रहता और उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। महाराज युधिष्ठिर ने द्वारकावासियों की तुलना वैकुण्ठलोक के महापौरुषिकों से की है, क्योंकि वे भगवान् के साथ परम प्रसन्न हैं। *भगवद्गीता* में वैकुण्ठलोकों का कई बार संदर्भ आया है और वहाँ वे *मद्धाम* (मेरे धाम) के रूप में अर्थात् भगवद्धाम के रूप में वर्णित हुए हैं।

यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।
निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; पाद—पैर; शुश्रूषण—भोग; मुख्य—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण; कर्मणा—कर्म के; सत्य-आदयः—सत्यभामा इत्यादि रानियाँ; द्वि-अष्ट—आठ का दो गुना (सोलह); सहस्र—हजार; योषितः—स्त्रियाँ; निर्जित्य—दमन करके; सङ्ख्ये—युद्ध में; त्रि-दशान्—स्वर्ग के निवासियों को; तत्-आशिषः—देवताओं द्वारा भोग्य; हरन्ति—हर लेते हैं; वज्र-आयुध-वल्लभा—वज्र के स्वामी की पत्नियाँ; उचिताः—योग्य।

समस्त सेवाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण, भगवान् के चरणकमलों की शुश्रूषा करने मात्र से, द्वारका-स्थित सत्यभामा के अधीक्षण में रानियों ने भगवान् को प्रेरित किया कि वे देवताओं को जीत लें। इस प्रकार रानियाँ उन वस्तुओं का भोग कर रही हैं, जो वज्र के नियंत्रक की पत्नियों द्वारा भोग्य हैं।

तात्पर्य : *सत्यभामा*—द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानियों में से एक। नरकासुर का वध करने के बाद, भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामा के साथ नरकासुर के महल में गये। वे इन्द्रलोक भी सत्यभामा के साथ गये थे, जहाँ सत्यभामा का स्वागत शचीदेवी द्वारा हुआ जिन्होंने देवोंकी माता 'अदिति' से उनका परिचय कराया। अदिति सत्यभामा से अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन्होंने वर दिया कि जब तक भगवान् कृष्ण पृथ्वी पर रहें, तब तक वे तरुणी बनी रहें। अदिति ने उन्हें स्वर्गलोक में देवताओं द्वारा भोग्य सारी वस्तुएँ भी दिखलाईं। जब सत्यभामा ने पारिजात पुष्प देखा, तो उन्होंने उसे द्वारका स्थित अपने महल में ले जाने की इच्छा व्यक्त की। तत्पश्चात् वे अपने पति के साथ द्वारका लौट आईं और उनसे इच्छा व्यक्त की कि पारिजात पुष्प को द्वारका में उनके महल में ले आएँ। सत्यभामा का महल बहुमूल्य रत्नों से विशेष रूप से सुसज्जित किया गया था और ग्रीष्मऋतु में भी महल का भीतरी भाग शीतल बना रहता था, मानों वातानुकूलित हो। उन्होंने अपने महल को अनेक पताकाओं से सजा रखा था, जो उनके पति की उपस्थिति की सूचक थीं। एक बार वे अपने पति के साथ जब द्रौपदी से मिलीं, तो वे उत्सुक थीं कि उनसे पति को प्रसन्न करने की कला सीखें। द्रौपदी इस कला में निपुण थीं, क्योंकि उनके पाँच पति थे, जो पाण्डव थे और वे सब उनसे प्रसन्न थे। द्रौपदी से उपदेश लेकर, उन्होंने उनके प्रति शुभकामनाएँ व्यक्त कीं और द्वारका लौट आईं। वे सत्राजित की पुत्री थीं। भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद, जब अर्जुन द्वारका गये तो सत्यभामा तथा रुक्मिणी समेत सारी रानियाँ कृष्ण के लिए अत्यधिक शोक कर रही थीं। अपने जीवन के अन्त-समय में, उन्होंने जंगल में जाकर कठिन तपस्या की।

सत्यभामा ने अपने पति को उकसाया कि वे स्वर्गलोक से पारिजात पुष्प लायें और भगवान् ने बलपूर्वक देवताओं से उसे प्राप्त किया, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक सामान्य पति अपनी पत्नी को रिझाने के लिए इच्छित वस्तुएँ लाता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भगवान् को सामान्य व्यक्ति की भाँति अपनी पत्नियों के आदेशों को पूरा करने की आवश्यकता न थी, लेकिन चूँकि रानियों ने उच्चकोटि की भक्ति—भगवान् की शुश्रूषा—करना स्वीकार किया था, अतएव भगवान् भी आज्ञाकारी पति की भूमिका निभा रहे थे। पृथ्वी का कोई भी व्यक्ति स्वर्गलोक की कोई वस्तु और वह भी पारिजात पुष्प प्राप्त करने की बात सोच भी नहीं सकता, क्योंकि उसका उपयोग केवल देवता करते हैं।

लेकिन भगवान् की आज्ञाकारिणी पत्नियाँ होने के कारण, रानियों को भी स्वर्ग के निवासियों की पत्नियों जैसा विशेषाधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपनी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतएव द्वारका की रानियों के लिए ब्रह्माण्ड की किसी भी दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर पाना आश्चर्यजनक नहीं था।

यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; बाहु-दण्ड—बाँहों के द्वारा; अभ्युदय—प्रभावित; अनुजीविनः—सदैव जीवित रहकर; यदु—यदुवंशी लोग; प्रवीराः—महान् वीर; हि अकुतोभयाः—सभी प्रकार से निर्भय; मुहुः—निरन्तर; अधिक्रमन्ति—पार करते हैं; अङ्घ्रिभिः—पैर से; आहृताम्—लाये गये; बलात्—बलपूर्वक; सभाम्—सभाभवन को; सुधर्माम्—सुधर्मा नामक; सुर-सत्-तम—देवताओं में श्रेष्ठ; उचिताम्—योग्य।

बड़े-बड़े यदुवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्ण की बाहुओं द्वारा सुरक्षित रहकर सभी प्रकार से निर्भय बने रहते हैं। अतएव उनके चरण उस सुधर्मा के सभा-भवन में पड़ते रहते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ देवताओं के लिए है, किन्तु जो उनसे छीन लिया गया था।

तात्पर्य : जो भगवान् के प्रत्यक्ष रूप में सेवक हैं, वे भगवान् द्वारा सभी प्रकार के भय से सुरक्षित रखे जाते हैं और सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं का भोग करते हैं, चाहे वे बलपूर्वक एकत्र क्यों न की गई हों। भगवान् सभी जीवों के साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु वे अपने भक्तों के प्रति अत्यधिक वत्सल होने के कारण विशेष पक्षपात करते हैं। द्वारकापुरी समुन्नति पर थी, क्योंकि वहाँ भौतिक संसार की श्रेष्ठतम वस्तुएँ उपलब्ध थीं। राज्य का सभा-भवन हर राज्य की प्रतिष्ठा के अनुसार बनाया जाता है। स्वर्गलोक में सुधर्मा नामक सभा-भवन श्रेष्ठ देवताओं की प्रतिष्ठा के अनुरूप था। ऐसा सभा-भवन महिमंडल के किसी भी राज्य के हेतु नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी के मनुष्य इसका निर्माण नहीं कर सकते, चाहे कोई राज्य भौतिक रूप से कितना ही समृद्ध क्यों न हो। किन्तु जब भगवान् कृष्ण इस धरा पर विद्यमान थे, तो इस स्वार्गिक सभागार को यदुवंशियों ने छीनकर, इसे द्वारका में लाकर स्थापित किया था। वे ऐसा बल प्रयोग कर सकते थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि परम भगवान् श्रीकृष्ण उनकी

रक्षा करेंगे। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के लिए ब्रह्माण्ड की श्रेष्ठ वस्तुएँ ला जुटाते हैं। यदुवंशियों ने भगवान् कृष्ण के लिए ब्रह्माण्ड में सुलभ सारे सुख-साधन जुटा दिये थे, जिसके बदले में भगवान् ऐसे भक्तों की रक्षा करते थे जिससे वे निर्भय थे।

भुलक्कड़ बद्धजीव भयभीत रहता है, किन्तु मुक्तात्मा कभी भयभीत नहीं रहता, जिस प्रकार एक छोटा-सा बालक जो अपने पिता की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित रहता है वह कभी किसी से डरता नहीं। भीरुता जीव के लिए एक प्रकार का मोह है, जिसमें वह निद्रा में रहकर भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाता है। चूँकि वैधानिक रूप से जीव कभी मरता नहीं, जैसा कि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है, तो फिर भीरुता का क्या कारण है? कोई व्यक्ति स्वप्न में बाघ से डर सकता है, किन्तु उसी की बगल में जगते हुए व्यक्ति को कोई बाघ नहीं दिखता। यह बाघ दोनों के लिए, अर्थात् सोये हुए व्यक्ति के लिए तथा जागते हुए व्यक्ति के लिए मिथ्या है, क्योंकि वास्तव में वहाँ पर बाघ है ही नहीं। लेकिन जो व्यक्ति अपने जाग्रत जीवन को भूल जाता है, वह भयभीत रहता है और जो अपनी स्थिति को नहीं भूलता, वह बिल्कुल नहीं डरता। इस तरह सारे यदुवंशी भगवान् की सेवा के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। अतएव उनके लिए बाघ से किसी समय भी भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं था। यदि असली बाघ होता भी, तो भगवान् उनकी रक्षा करने के लिए तो थे ही।

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे ।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; **ते**—तुम्हारा; **अनामयम्**—स्वास्थ्य ठीक तो है; **तात**—मेरे भ्राता; **भ्रष्ट**—विहीन; **तेजाः**—कान्ति; **विभासि**—प्रतीत होते हो; **मे**—मुझको; **अलब्ध-मानः**—सम्मान न पाया हुआ; **अवज्ञातः**—उपेक्षित; **किम्**—क्या; **वा**—अथवा; **तात**—मेरे भ्राता; **चिरोषितः**—दीर्घकाल तक रहने के कारण।

मेरे भाई अर्जुन, मुझे बताओ कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक तो है? ऐसा लगता है कि तुम्हारे शरीर की कान्ति खो गई है। क्या द्वारका में दीर्घकाल तक रहने से, अन्यों द्वारा असम्मान तथा उपेक्षा दिखलाने से ऐसा हुआ है?

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने सभी प्रकार से अर्जुन से द्वारका का कुशलक्षेम पूछा, लेकिन उन्होंने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि जब तक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ थे, तब तक कोई अशुभ घटना

नहीं घट सकती थी। लेकिन साथ ही, अर्जुन कान्तिहीन लग रहे थे, अतएव राजा ने उनसे उनकी कुशलता पूछी और साथ ही अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी पूछे।

कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः ।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; न—नहीं; अभिहतः—सम्बोधित, कहा गया; अभावैः—अमित्रतापूर्ण; शब्द-आदिभिः—शब्दों आदि से; अमङ्गलैः—अशुभ; न—नहीं; दत्तम्—दान में दिया गया; उक्तम्—कहा गया; अर्थिभ्यः—याचक को; आशया—आशा से; यत्—जो; प्रतिश्रुतम्—दिये जाने के लिए वचन-बद्ध।

कहीं किसी ने तुम्हें अपमानजनक शब्द तो नहीं कहे? या तुम्हें धमकाया तो नहीं? क्या तुम याचक को दान नहीं दे सके? या किसी से अपना वचन नहीं निभा पाये?

तात्पर्य : क्षत्रिय या धनी व्यक्ति के पास कभी-कभी ऐसे व्यक्ति आते हैं, जिन्हें धन की आवश्यकता रहती है। जब उन्हें दान देने के लिए कहा जाता है, तो धन के स्वामी का कर्तव्य है कि पात्र, देश तथा काल का विचार करते हुए दान दे। यदि क्षत्रिय या धनी व्यक्ति इस कर्तव्य को पूरा नहीं कर पाता, तो उसे इस विसंगति के लिए खेद होना चाहिए। इसी प्रकार दान देने के अपने वचन को नहीं भूलना चाहिए। ये त्रुटियाँ कभी-कभी निराशा का कारण बनती हैं और विफल होने पर मनुष्य आलोचना का भागी होता है और यही अर्जुन की विपन्नावस्था का कारण हो सकता था।

कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् ।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; त्वम्—तुम; ब्राह्मणम्—ब्राह्मणों को; बालम्—बालक को; गाम्—गाय को; वृद्धम्—बूढ़े व्यक्ति को; रोगिणम्—रोगी को; स्त्रियम्—स्त्री को; शरण-उपसृतम्—रक्षा के लिए आये हुए को; सत्त्वम्—किसी जीव को; न—क्या; अत्याक्षीः—शरण नहीं दी हो; शरण-प्रदः—जो शरण का पात्र रहा है।

तुम तो सदा से सुपात्र जीवों के यथा ब्राह्मणों, बालकों, गायों, स्त्रियों तथा रोगियों के रक्षक रहे हो। क्या तुम उनके शरण माँगे जाने पर उन्हें शरण नहीं दे सके?

तात्पर्य : ब्राह्मण-जन समाज के कल्याण-कार्य के लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टि से ज्ञान की खोज में सदैव लगे रहते हैं, अतः वे सभी प्रकार से राजा के संरक्षण के पात्र हैं। इसी प्रकार

राज्य के बालकों, गायों, रोगी व्यक्तियों, स्त्रियों तथा वृद्ध पुरुषों को राज्य या क्षत्रिय राजाओं के संरक्षण की अपेक्षा रहती है। यदि ऐसे जीवों को क्षत्रिय या राजा या राज-सत्ता की ओर से संरक्षण नहीं मिलता, तो यह क्षत्रिय या राज्य के लिए लज्जास्पद है। यदि अर्जुन के साथ सचमुच ही ऐसी घटनाएँ घटी थीं, तो महाराज युधिष्ठिर उनके विषय में जानने के लिए आतुर थे।

कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् ।
पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; त्वम्—तुमने; न—नहीं; अगमः—सम्पर्क किया है; अगम्याम्—दुश्चरित्र; गम्याम्—स्वीकार्य; वा—अथवा; असत्-कृताम्—अनुचित व्यवहार; स्त्रियम्—स्त्री से; पराजितः—हराया हुआ; वा—अथवा; अथ—अन्ततः; भवान्—तुम; न—न तो; उत्तमैः—उच्चतर शक्ति द्वारा; न—नहीं; असमैः—समान धर्म वाले द्वारा; पथि—मार्ग में।

क्या तुमने दुश्चरित्र स्त्री से समागम किया है अथवा सुपात्र स्त्री के साथ तुमने भद्र व्यवहार नहीं किया? अथवा तुम मार्ग में किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा पराजित किये गये हो, जो तुमसे निकृष्ट है या तुम्हारे समकक्ष हो?

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवों के काल में पुरुष तथा स्त्री को, कतिपय परिस्थितियों में मुक्त ही, समागम करने दिया जाता था। उच्च जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वैश्य या शूद्र जाति की स्त्री को स्वीकार कर सकते थे, किन्तु निम्न जाति का व्यक्ति उच्च जाति की स्त्री से सम्पर्क नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण जाति की स्त्री से समागम नहीं कर सकता था। ब्राह्मण की पत्नी सात माताओं में से एक मानी जाती है (अपनी माता, गुरु अथवा शिक्षक की पत्नी, ब्राह्मणी, राजा की पत्नी, गाय, धाय तथा पृथ्वी—ये सप्त मातृकाएँ हैं)। पुरुष तथा स्त्री के ऐसे समागम को *उत्तम* तथा *अधम* कहा जाता था। ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री का समागम उत्तम होता था, किन्तु क्षत्रिय पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री का समागम अधम होता था, अतएव कुत्सित माना जाता था। यदि कोई स्त्री, किसी पुरुष के पास समागम की इच्छा से जाये, तो उसे कभी मना नहीं करना चाहिए, लेकिन जैसाकि ऊपर कहा गया है, विवेक से काम लेना चाहिए। भीम के पास हिडिम्बा आई थी और वह शूद्र से भी निम्न जाति की थी। ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री के साथ विवाह करने से इनकार कर दिया था, क्योंकि शुक्राचार्य ब्राह्मण थे। व्यासदेव ब्राह्मण थे। उनसे पाण्डु तथा धृतराष्ट्र को

जन्म देने के लिए कहा गया था। सत्यवती मछुआरे की जाति की कन्या थी, लेकिन महान् ब्राह्मण पराशर द्वारा उससे व्यासदेव का जन्म हुआ। अतएव स्त्री के साथ समागम के अनेक उदाहरण हैं, किन्तु ये सारे समागम न तो निन्दनीय थे, न ऐसे समागम के परिणाम बुरे थे। पुरुष तथा स्त्री का समागम स्वाभाविक है, लेकिन इसे भी विधानपूर्वक होना चाहिए, जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा न बिगड़े या वर्णसंकर की वृद्धि होने से विश्व में अशान्ति न फैले।

क्षत्रिय के लिए यह निन्दनीय है कि वह अपने से निम्न या समकक्ष बलवाले से पराजित हो। यदि कोई हारे, तो उसे किसी श्रेष्ठ शक्ति से हारना चाहिए। अर्जुन भीष्मदेव से पराजित हुए थे और कृष्ण ने उन्हें विपत्ति से बचाया था। यह अर्जुन के लिए अपमान नहीं था, क्योंकि भीष्मदेव सभी प्रकार से अर्जुन से श्रेष्ठ थे—चाहे आयु को लें, सम्मान को लें, या बल को लें। लेकिन कर्ण अर्जुन के समकक्ष था। अतएव कर्ण से युद्ध करते हुए अर्जुन संकट में था। अर्जुन को यह बुरा लगा, अतएव कर्ण छल से भी मारा गया। क्षत्रिय के ऐसे-ऐसे कार्य होते हैं और महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाई से पूछा कि द्वारका से घर आते हुए कहीं कोई प्रतिकूल घटना तो नहीं घट गई?

अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् ।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवान्न यदक्षमम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—यदि ऐसा हो तो; पर्य—एक ओर छोड़कर; भुङ्क्थाः—खाया है; त्वम्—तुमने; सम्भोज्यान्—साथ-साथ खाने के योग्य; वृद्ध—वृद्ध पुरुषों को; बालकान्—बच्चों को; जुगुप्सितम्—गर्हित; कर्म—काम; किञ्चित्—कुछ; कृतवान्—तूमने किया होगा; न—नहीं; यत्—जो; अक्षमम्—जिसे क्षमा न किया जा सके।

क्या तुमने उन वृद्धों तथा बालकों की परवाह नहीं की, जो तुम्हारे साथ भोजन करने के योग्य थे? क्या उन्हें छोड़कर तुमने अकेले भोजन किया है? क्या तुमने कोई अक्षम्य गलती की है, जो निन्दनीय मानी जाती है?

तात्पर्य : गृहस्थ का धर्म है कि वह पहले बालकों, परिवार के बूढ़ों, ब्राह्मणों तथा अशक्तों को भोजन करा दे। इसके साथ ही, आदर्श गृहस्थ को चाहिए कि यदि कोई अज्ञात भूखा व्यक्ति हो, तो उसे बुलाकर खिला दे और तब स्वयं भोजन करे। उसे ऐसे भूखे व्यक्ति को मार्ग में जाकर तीन बार बुलाना

चाहिए। गृहस्थ के लिए निर्धारित इस कर्तव्य की अवहेलना, विशेषकर बूढ़ों तथा बच्चों की अवहेलना, अक्षम्य है।

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना ।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; प्रेष्ठ-तमेन—सर्वाधिक प्रिय को; अथ—मेरा भाई अर्जुन; हृदयेन—अत्यन्त घनिष्ठ; आत्म-बन्धुना—अपने मित्र कृष्ण से; शून्यः—शून्य; अस्मि—हूँ; रहितः—खोकर; नित्यम्—सदा के लिए; मन्यसे—तुम सोचते हो; ते—तुम्हारा; अन्यथा—अन्यथा; न—कभी नहीं; रुक्—मानसिक ताप।

अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम इसलिए रिक्त अनुभव कर रहे हो, क्योंकि तुमने अपने घनिष्ठ मित्र भगवान् कृष्ण को खो दिया हो? हे मेरे भ्राता अर्जुन, तुम्हारे इतने हताश होने का मुझे कोई अन्य कारण नहीं दिखता।

तात्पर्य : विश्व की विसंगतियों के कारण के विषय में महाराज युधिष्ठिर की सारी जिज्ञासाओं का अन्दाज विश्व की दृष्टि से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने के आधार पर लगाया गया था। और अब अर्जुन की घोर निराशा के कारण उसे उन्होंने प्रकट कर दिया, जो अन्यथा सम्भव नहीं हो पाता। अतएव इसके बारे में संशयग्रस्त होते हुए भी, श्रीनारद के संकेत के अनुसार, उन्हें अर्जुन से स्पष्ट पूछने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण का अन्तर्धान होना' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति

सूत उवाच
एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः ।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-सखः—कृष्ण का विख्यात मित्र; कृष्णः—अर्जुन; भ्रात्रा—अपने बड़े भाई; राज्ञा—राजा युधिष्ठिर द्वारा; विकल्पितः—सोचा गया; नाना—विविध; शङ्का-आस्पदम्—अनेक संशयों पर आधारित; रूपम्—रूप; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण की; विश्लेष—वियोग की भावना से; कर्शितः—अत्यन्त दुखी।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का विख्यात मित्र अर्जुन, महाराज युधिष्ठिर की सशंकित जिज्ञासाओं के अतिरिक्त भी, कृष्ण के वियोग की प्रबल अनुभूति के कारण शोक-संतप्त था।

तात्पर्य : अत्यधिक संतप्त होने के कारण, अर्जुन का गला रुँध-सा गया, अतएव वह महाराज युधिष्ठिर की विभिन्न सशंकित जिज्ञासाओं का ठीक से उत्तर नहीं दे पा रहा था।

शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवानुस्मरन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शोकेन—विरह से; शुष्यत्-वदन—सूखता मुँह; हृत्-सरोजः—कमल-सदृश हृदय; हत—विहीन; प्रभः—शारीरिक कान्ति; विभुम्—परम; तम्—भगवान् कृष्ण को; एव—निश्चय ही; अनुस्मरन्—भीतर ही भीतर सोचते हुए; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हो सका; प्रतिभाषितुम्—ठीक से उत्तर देने के लिए।

शोक से अर्जुन का मुँह तथा कमल-सदृश हृदय सूख चुके थे, अतएव उसकी शारीरिक कान्ति चली गई थी। अब भगवान् का स्मरण करने पर, वह उत्तर में एक शब्द भी न बोल पाया।

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रेण—बड़ी कठिनाई से; संस्तभ्य—वेग को रोककर; शुचः—विरह के; पाणिना—अपने हाथों से; आमृज्य—पोंछते हुए; नेत्रयोः—आँखों को; परोक्षेण—दृष्टि से दूर होने के कारण; समुन्नद्ध—अत्यधिक; प्रणय-औत्कण्ठ्य—स्नेह का उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हुए; कातरः—व्याकुल।

उसने बड़ी कठिनाई से आँखों में भरे हुए शोकाश्रुओं को रोका। वह अत्यन्त दुखी था, क्योंकि भगवान् कृष्ण उसकी दृष्टि से ओझल थे और वह उनके लिए अधिकाधिक स्नेह का अनुभव कर रहा था।

सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सख्यम्—शुभचिन्तन; मैत्रीम्—आशीर्वाद; सौहृदम्—घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित; च—भी; सारथ्य-आदिषु—सारथी बनने आदि में; संस्मरन्—इन सबों को स्मरण करते हुए; नृपम्—राजा से; अग्रजम्—बड़ा भाई; इति—इस प्रकार; आह—कहा; बाष्प—उसासें भरते; गद्गदया—अभिभूत होकर; गिरा—वाणी से।

भगवान् कृष्ण को तथा उनकी शुभकामनाओं, आशीषों, घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध एवं उनके रथ हाँकने का स्मरण करके, अर्जुन का गला रुँध आया और वह भारी साँस लेता हुआ बोलने लगा।

तात्पर्य : परम पुरुष अपने शुद्ध भक्त के साथ सारे सम्बन्धों में पूर्ण हैं। श्री अर्जुन भगवान् के विशिष्ट भक्तों में से हैं, जो सख्य भाव का आदान-प्रदान कर रहे हैं और अर्जुन के साथ भगवान् का व्यवहार सर्वोच्च कोटि की मित्रता को प्रदर्शित करता है। वे अर्जुन के न केवल शुभचिन्तक थे, अपितु उसको लाभ प्रदान करने वाले भी थे और इसे अधिक परिपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने सुभद्रा का विवाह उससे करके, उसे पारिवारिक सम्बन्ध में भी बाँध लिया था। इसके भी ऊपर, भगवान् ने अपने मित्र की युद्ध के संकटों से रक्षा करने के लिए अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था और जब उन्होंने पाण्डवों को विश्व पर शासन करने के लिए स्थापित कर दिया, तो वे सचमुच प्रसन्न हुए थे। अर्जुन ने यह सब एक के बाद एक स्मरण किया और इस तरह ऐसे विचारों से अभिभूत हो गया।

अर्जुन उवाच
वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; वञ्चितः—त्यक्त; अहम्—मैं; महा-राज—हे राजा; हरिणा—भगवान् द्वारा; बन्धु-रूपिणा—घनिष्ठ मित्र रूपी; येन—जिससे; मे—मेरा; अपहृतम्—छीना गया है; तेजः—पराक्रम; देव—देवता; विस्मापनम्—आश्चर्यजनक; महत्—अत्यधिक प्रबल।

अर्जुन ने कहा : हे राजन्, मुझे अपना घनिष्ठ मित्र माननेवाले भगवान् हरि ने मुझे अकेला छोड़ दिया है। इस तरह मेरा प्रबल पराक्रम, जो देवताओं तक को चकित करनेवाला था, अब मुझमें नहीं रह गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में भगवान् कहते हैं, ''कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली तथा सम्पत्ति, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा भौतिक मामलों में ऐश्वर्यवान क्यों न हो, उसे मेरी पूर्ण शक्ति का एक तुच्छ अंश-स्वरूप समझो।'' अतएव कोई भी स्वतंत्र रूप से भगवान् से शक्ति प्राप्त किये बिना शक्तिमान नहीं हो सकता। जब भगवान् पृथ्वी पर अपने नित्यमुक्त पार्षदों के साथ अवतरित होते हैं, तो वे न केवल अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, अपितु वे अपने पार्षद भक्तों को अपना अवतारी सन्देश पूरा करने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भी कहा गया है कि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षद पृथ्वी पर अनेक बार अवतरित होते हैं, किन्तु जहाँ भगवान् सभी विभिन्न अवतारों की भूमिकाओं का स्मरण रखते हैं, वहीं पार्षद उनकी परम इच्छा से उन्हें भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् इस धरा से अन्तर्धान होते हैं, तब वे सारे पार्षदों को अपने साथ लेते जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन को जो पराक्रम तथा शक्ति प्रदान की थी, वह भगवान् के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी, किन्तु जब यह उद्देश्य पूरा हो गया, तो अर्जुन से आपात्कालीन शक्तियाँ वापस ले ली गईं, क्योंकि स्वर्ग के निवासियों को भी चकित करनेवाली अर्जुन की इन प्रबल शक्तियों की और आगे आवश्यकता नहीं रह गई थी। वे उनके भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त नहीं थीं। यदि अर्जुन-जैसे महान् भक्त को या स्वर्ग के निवासियों को भगवान् शक्ति प्रदान कर सकते है, एवं शक्ति वापस भी ले सकते हैं, तो उन क्षुद्र प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो ऐसे महात्माओं की तुलना में नगण्य हैं। अतएव इससे शिक्षा यह मिलती है कि भगवान् से प्राप्त की हुई शक्ति पर किसी को अभिमान नहीं करना चाहिए। अपितु विज्ञ मनुष्य को भगवान् के प्रति ऐसे वरदान के लिए कृतज्ञ होना चाहिए और ऐसी शक्ति का उपयोग भगवान् की सेवा करने के लिए करना चाहिए। भगवान् ऐसी शक्ति को कभी भी वापस ले सकते हैं, अतएव ऐसी शक्ति तथा ऐश्वर्य का सदुपयोग यह है कि उन्हें भगवान् की सेवा में लगाया जाय।

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः ।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; क्षण—एक क्षण; वियोगेन—वियोग से; लोकः—सारे ब्रह्माण्ड; हि—निश्चय ही; अप्रिय-दर्शनः—प्रत्येक वस्तु प्रतिकूल लगती है; उक्थेन—जीवन से; रहितः—विहीन; हि—निश्चय ही; एषः—ये सारे शरीर; मृतकः—शव; प्रोच्यते—कहे जाते हैं; यथा—जिस तरह।

मैंने अभी-अभी उन्हें खोया है, जिनके क्षणमात्र वियोग से सारे ब्रह्माण्ड प्रतिकूल तथा शून्य हो जायेंगे, जिस तरह प्राण के बिना शरीर।

तात्पर्य : वास्तव में जीव के लिए भगवान् से बढ़कर अन्य कोई प्रिय नहीं होता। भगवान् अपना विस्तार अपने असंख्य अंशों द्वारा, स्वांश तथा विभिन्नांश रूपों में करते हैं। परमात्मा भगवान् का *स्वांश* है, जबकि सारे जीव *विभिन्नांश* हैं। जिस प्रकार भौतिक शरीर में जीव महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है, क्योंकि जीव के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं होता, उसी तरह परमात्मा के बिना जीव की कोई पूर्वस्थिति नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म या परमात्मा को, भगवान् कृष्ण के बिना प्रवेशाधिकार नहीं है, कोई वास्तविक आधार नहीं है। इसकी विशद व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है। ये सब एक दूसरे से परस्पर सन्नद्ध हैं, या अन्योन्याश्रित हैं। अतः अन्ततः भगवान् ही *आश्रयतत्त्व* हैं, अतएव हर एक वस्तु के लिए जीवन-स्वरूप हैं।

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके कृपामय; संश्रयात्—बल से; द्रुपद-गेहम्—राजा द्रुपद के महल में; उपागतानाम्—सभी एकत्र; राज्ञाम्—राजाओं का; स्वयंवर-मुखे—स्वयंवर के अवसर पर; स्मर-दुर्मदानाम्—समस्त कामुक विचारवालों का; तेजः—बल; हृतम्—हरा गया; खलु—मानो; मया—मेरे द्वारा; अभिहतः—छेदा गया; च—भी; मत्स्यः—मछली का निशाना; सज्जी-कृतेन—धनुष तैयार करके; धनुषा—उस धनुष से; अधिगता—प्राप्त किया; च—भी; कृष्णा—द्रौपदी।

उनकी कृपामयी शक्ति से ही मैं उन समस्त कामोन्मत्त राजकुमारों को परास्त कर सका, जो राजा द्रुपद के महल में स्वयंवर के अवसर पर एकत्र हुए थे। अपने धनुषबाण से मैं मत्स्य लक्ष्य का भेदन कर सका और इस प्रकार द्रौपदी का पाणिग्रहण कर सका।

तात्पर्य : द्रौपदी राजा द्रुपद की सर्वसुन्दरी कन्या थी और जब वह तरुणी हुई तो प्राय: समस्त राजकुमार उससे विवाह करने के इच्छुक थे। लेकिन द्रुपद महाराज ने अपनी पुत्री अर्जुन को ही देने का निश्चय किया, अतएव उन्होंने एक अद्भुत युक्ति सोची। मकान की छत से, एक चक्र के भीतर, एक मछली लटका दी गई। शर्त यह थी कि हर राजकुमार को, रक्षक चक्र से होकर, मछली की आँखें बेधनी होंगी, और उसे लक्ष्य की ओर देखने की अनुमति नहीं होगी। जमीन पर एक जलपात्र था जिसमें लक्ष्य तथा चक्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था और पात्र के हिलते हुए जल में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब को देखकर लक्ष्य साधना था। महाराज द्रुपद यह भलीभाँति जानते थे कि यह कार्य केवल अर्जुन या फिर कर्ण ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। फिर भी वे अर्जुन को ही अपनी पुत्री सौंपना चाहते थे। जब उस राजदरबार में, द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने सभी राजकुमारों से अपनी युवा बहन का परिचय कराया, तो उस समय कर्ण भी उपस्थित था। लेकिन द्रौपदी ने अत्यन्त चतुरतापूर्वक अर्जुन के प्रतिद्वन्द्वी कर्ण को हटाने के लिए अपने भाई से इच्छा व्यक्त की कि वह केवल क्षत्रिय राजकुमार को ही स्वीकार करेगी। वैश्य तथा शूद्र, क्षत्रियों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं। कर्ण को एक शूद्र बढ़ई के पुत्र के रूप में जाना जाता था। इस तर्क के आधार पर द्रौपदी ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब दरिद्र ब्राह्मण के वेश में अर्जुन ने मत्स्यवेध कर दिया, तो सबों को आश्चर्य हुआ और सबों ने, विशेषतया कर्ण ने, उससे घनघोर युद्ध किया, किन्तु भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन राजकुमारों के इस युद्ध में सफल हुआ और उसे द्रौपदी अथवा कृष्णा का हाथ प्राप्त हुआ। अर्जुन जिन भगवान् की शक्ति से ही इतना शक्तिशाली था, उन्हीं की अनुपस्थिति में, इस घटना का स्मरण करके वह शोक कर रहा था।

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; सन्निधौ—पास में होने से; अहम्—मैंने; उ—आश्चर्यवाचक शब्द; खाण्डवम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का सुरक्षित वन; अग्नये—अग्निदेव को; अदाम्—प्रदान किया; इन्द्रम्—इन्द्र को; च—भी; स—सहित; अमर-गणम्—देवताओं को; तरसा—कौशल के साथ; विजित्य—जीतकर; लब्धा—प्राप्त करके; सभा—सभा भवन; मय-कृता—मय द्वारा निर्मित;

अद्भुत—अत्यन्त अद्भुत; शिल्प—कला तथा कारीगरी; माया—शक्ति; दिग्भ्य:—सभी दिशाओं से; अहरन्—एकत्र; नृपतय:—सारे राजकुमार; बलिम्—भेंटें; अध्वरे—ले आये; ते—आप।

चूँकि वे मेरे निकट थे, अतएव मेरे लिए अत्यन्त कौशलपूर्वक स्वर्ग के शक्तिशाली राजा इन्द्रदेव को उनके देव-पार्षदों सहित जीत पाना सम्भव हो सका और इस तरह अग्निदेव खाण्डव वन को विनष्ट कर सके। उन्हीं की कृपा से, मय नामक असुर को जलते हुए खाण्डव वन से बचाया जा सका। इस तरह हम अत्यन्त आश्चर्यमयी शिल्प-कला वाले सभाभवन का निर्माण कर सके, जहाँ राजसूय-यज्ञ के समय सारे राजकुमार एकत्र हो सके और आपको आदर प्रदान कर सके।

तात्पर्य : मय दानव खाण्डव-वन का निवासी था, किन्तु जब खाण्डव-वन में आग लगा दी गई, तब उसने अर्जुन से रक्षा करने के लिए याचना की। अत: अर्जुन ने उसकी जान बचाई। फलस्वरूप वह अत्यन्त कृतज्ञ था। बदले में उसने पाण्डवों के लिए एक अद्‌भुत सभा-भवन निर्माण कर दिया, जिसके प्रति सभी देशों के राजकुमार अत्यन्त आकृष्ट थे। उन्होंने पाण्डवों की अलौकिक शक्ति का अनुभव किया और सबों ने बिना ईर्ष्या या झिझक के, महाराज को भेंटें प्रदान कीं। असुरों में भौतिक आश्चर्य उत्पन्न करने की अद्‌भुत तथा अलौकिक शक्ति पाई जाती है, लेकिन वे सदैव समाज के लिए उपद्रवकारी तत्त्व होते हैं। आधुनिक असुर तो भौतिक विज्ञानी हैं, जो समाज में उत्पात मचाने के लिये किसी न किसी भौतिक आश्चर्य को जन्म देते रहते हैं। उदाहरणार्थ, परमाणु हथियारों के निर्माण से मानव समाज में कुछ खलबली मची है। मैं भी इसी तरह का भौतिकतावादी था और वह ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ तैयार करना जानता था। फिर भी भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाह रहे थे। जब अग्नि तथा भगवान् कृष्ण का चक्र दोनों ही उसका पीछा कर रहे थे, तो उसने अर्जुन जैसे भक्त की शरण ग्रहण की और जिसने भगवान् श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि से उसे बचा लिया। अत: भगवान् के भक्त, भगवान् से अधिक दयालु होते हैं और भक्तिमय सेवा में भक्त की दया का महत्त्व भगवान् से भी अधिक होता है। जब अग्नि तथा भगवान् दोनों ने देखा कि असुर को अर्जुन ने शरण दे रखी है, तो उन्होंने उसका पीछा करना बन्द कर दिया। इस असुर ने अर्जुन के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करते हुए, अर्जुन की सेवा करनी चाही, लेकिन अर्जुन ने बदले में कुछ भी लेने से इनकार कर दिया। किन्तु भगवान् कृष्ण मय दानव से प्रसन्न हुए, क्योंकि उसने भक्त की शरण ग्रहण की थी; अतएव उन्होंने

उससे कहा कि राजा युधिष्ठिर के लिए वह एक अद्‌भुत सभा-भवन तैयार कर दे। इस तरह प्रक्रिया यह है कि भक्त की दया से भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भगवान् की कृपा से भगवद्‌भक्त की सेवा करने का अवसर मिलता है। भीमसेन की गदा भी मय दानव द्वारा दी गई भेंट थी।

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थम्
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन्बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; नृप-शिरः-अङ्घ्रिम्—जिसके पाँव राजाओं के सिरों से अलंकृत हों; अहन्—मारा हुआ; मख-अर्थम्—यज्ञ हेतु; आर्यः—सम्माननीय, श्रेष्ठ; अनुजः—छोटा भाई; तव—आपका; गज-अयुत—दस हजार हाथी; सत्त्व-वीर्यः—शक्तिशाली जीवन; तेन—उसके द्वारा; आहृताः—एकत्रित; प्रमथ-नाथ—भूतों के देवता (महाभैरव); मखाय—यज्ञ के लिए; भूपाः—राजा; यत्-मोचिताः—जिसके द्वारा वे छोड़े गये; तत्-अनयन्—वे सब लाये; बलिम्—कर; अध्वरे—भेंट किया; ते—आपको।

दस हजार हाथियों की शक्ति रखनेवाले आपके छोटे भाई ने भगवान् की ही कृपा से जरासंध का वध किया, जिसकी पादपूजा अनेक राजाओं द्वारा की जाती थी। ये सारे राजा जरासंध के महाभैरव यज्ञ में बलि चढ़ाये जाने के लिए लाए गये थे, किन्तु उनको छुड़ा दिया गया। बाद में उन्होंने आपका आधिपत्य स्विकार किया।

तात्पर्य : जरासंध मगध का अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसके जन्म तथा कार्यकलापों की कथा भी अत्यन्त रोचक है। उसका पिता बृहद्रथ राजा भी मगध का अत्यन्त सम्पन्न एवं शक्तिशाली राजा था। उसने काशी के राजा की दो पुत्रियों से विवाह किया था, किन्तु उसको कोई पुत्र नहीं था। दोनों पत्नियों से कोई पुत्र उत्पन्न न होने से निराश होकर राजा अपनी दोनों पत्नियों के साथ जंगल में जाकर तपस्या करने लगा। वहाँ पर एक महर्षि ने उसे पुत्र प्राप्त करने का वरदान दिया और रानियों को खाने के लिये एक आम दिया। रानियों ने आम खा लिया तो वे शीघ्र ही गर्भिणी हो गईं। राजा अत्यन्त प्रसन्न था कि रानियाँ गर्भवती हैं, किन्तु जब समय पूरा हुआ तो दोनों रानियों के गर्भ से दो भागों में विभाजित एक बालक उत्पन्न हुआ। ये दोनों भाग जंगल में फेंक दिये गये, जहाँ एक महान् असुरिनी रहती थी। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई कि उसके खाने के लिए नवजात शिशु का रक्त तथा मांस मिला, किन्तु उत्सुकतावश

उसने उन दोनों हिस्सों को जोड़ दिया, तो एक पूर्ण शिशु बन गया और उसमें जान आ गई। यह असुरिनी जरा नाम से विख्यात थी। वह सन्तानहीन राजा के ऊपर दया करके राजा के पास गई और उसे वह सुन्दर बालक भेंट कर आई। राजा उस असुरिनी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे इच्छित पुरस्कार माँगने के लिए कहा। राक्षसी ने इच्छा व्यक्त की कि इस बालक का नाम उसके नाम पर रखा जाय। इस तरह उस बालक का नाम जरासन्ध पड़ा, जिसका अर्थ है जरा नामक असुरिनी द्वारा जोड़ा हुआ। वास्तव में, यह जरासन्ध विप्रचित्ति नामक असुर के अंश-रूप में उत्पन्न हुआ था। जिस साधु ने रानियों को पुत्र का वरदान दिया, वह चन्द्रकौशिक कहलाता था, जिसने राजा के समक्ष उस पुत्र के बारे में भविष्य कथन किया था।

चूँकि जन्म से ही जरासन्ध में आसुरी गुण थे, अत: स्वभावत: वह समस्त भूतप्रेतों के स्वामी, शिवजी का महान् भक्त बना। जिस प्रकार रावण शिवजी का महान् भक्त था, उसी प्रकार जरासन्ध भी था। वह बन्दी बनाये गये सारे राजाओं को महाभैरव (शिव) के समक्ष बलि चढ़ा देता था। इस तरह अपनी सैन्यशक्ति से उसने अनेक छोटे-छोटे राजाओं को हराकर, उन्हें बन्दी बनाकर, महाभैरव के समक्ष बलि चढ़ा दिया था। महाभैरव या कालभैरव के अनेक भक्त बिहार प्रान्त में पाये जाते हैं, जो पहले मगध कहलाता था। जरासन्ध कृष्ण के मामा कंस का सम्बन्धी था, अतएव कंस की मृत्यु के बाद वह कृष्ण का महान् शत्रु बन गया और जरासंध तथा कृष्ण के बीच कई युद्ध हुए। भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाहते थे, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि जो लोग जरासन्ध के सैनिक-रूप में कार्य कर रहे हैं, वे न मारे जाँय। अतएव उसे मारने की योजना बनाई गई। कृष्ण, भीम तथा अर्जुन तीनों निर्धन ब्राह्मण-वेश में जरासन्ध के पास गये और उससे भिक्षा माँगी। जरासन्ध ब्राह्मणों को भिक्षा देने से कभी इनकार नहीं करता था और उसने अनेक यज्ञ भी किये थे, तो भी वह भक्तिमय सेवा के स्तर पर न था। भगवान् कृष्ण, भीम तथा अर्जुन ने उससे मल्लयुद्ध करने की भिक्षा माँगी और यह तय हुआ कि जरासन्ध केवल भीम से मल्लयुद्ध करेगा। इस तरह वे सब जरासन्ध के अतिथि तथा प्रतिद्वन्द्वी भी थे। भीम तथा जरासन्ध कई दिनों तक मल्लयुद्ध करते रहे। जब भीम हताश हो गया, तो कृष्ण ने उसे संकेत किया कि बचपन में जरासन्ध को जोड़ा गया था। अत: भीम ने पुन: उसे दो भागों में चीर करके मार डाला और जितने राजा महाभैरव के समक्ष बलि किये जाने के लिए बन्दीगृह में रोके गये थे, उन

सबों को भीम ने छुड़ाया। इस तरह पाण्डवों के प्रति कृतज्ञ होने के कारण उन्होंने राजा युधिष्ठिर का आधिपत्य स्वीकार किया।

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृतहतेशविमुक्तकेशाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पत्न्याः—पत्नी का; तव—आपकी; अधिमख—विशाल यज्ञोत्सव के समय; क्लृप्त—वस्त्राभूषित; महा-अभिषेक—अच्छी तरह पवित्र की गई; श्लाघिष्ठ—इस प्रकार महिमावान; चारु—सुन्दर; कबरम्—बालों की चोटी; कितवैः—दुष्टों के द्वारा; सभायाम्—सभा में; स्पृष्टम्—पकड़ी जाने पर; विकीर्य—खोलकर; पदयोः—पैरों पर; पतित-अश्रु-मुख्याः—आँखों में अश्रु भरकर चरणों में गिरी हुई का; यः—वह; तत्—उनकी; स्त्रियः—पत्नियाँ; अकृत—हो गई; हत-ईश—पतिविहीन; विमुक्त-केशाः—खुले हुए बाल।

उन्होंने ही उन दुष्टों की पत्नियों के बाल खोल दिये, जिन्होंने आपकी महारानी (द्रौपदी) की उस चोटी को खोलने का दुस्साहस किया था, जो महान् राजसूय-यज्ञ अनुष्ठान के अवसर पर सुन्दर ढंग से सजाई तथा पवित्र की गई थी। उस समय वह अपनी आँखों में आँसू भर कर भगवान् कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ी थी।

तात्पर्य : रानी द्रौपदी की चोटी अत्यन्त सुन्दर थी, जिसे राजसूय यज्ञ के अवसर पर पवित्र किया गया था। किन्तु जब वे दाँव में हारी जा चुकी थी, तो दुःशासन ने उनके महिमा-मण्डित केशों को छूकर, उनका अपमान किया था। तब द्रौपदी भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर गिर पड़ी, अतः भगवान् कृष्ण ने निश्चय किया कि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध के फलस्वरूप दुःशासन तथा उसके दलवालों की सारी पत्नियों के केश खुलवाकर रहेंगे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, जब धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र युद्ध में मारे जा चुके थे, तो परिवार की सारी स्त्रियों को विधवाओं के रूप में केश खोलने पड़े। दूसरे शब्दों में, दुःशासन द्वारा भगवान् के महान् भक्त का अपमान किये जाने से ही कुरुवंश की सारी स्त्रियाँ विधवा हो गईं। भगवान् भले ही अपने ऊपर किसी दुष्ट द्वारा किये गये अपमान को सह लें, क्योंकि पिता अपने पुत्र के द्वारा किये गये अपमान को सह लेता है, किन्तु वे अपने भक्तों का अपमान

कभी नहीं सहते। महान् आत्मा का अपमान करने पर मनुष्य को अपने सारे पुण्यों तथा वरों की बलि दे देनी पड़ती है।

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्साममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जिसने; नः—हमको; जुगोप—सुरक्षा प्रदान की; वने—वन में; एत्य—प्रवेश करके; दुरन्त—भयानक; कृच्छ्रात्—संकट से; दुर्वाससः—दुर्वासा मुनि के; अरि—शत्रु द्वारा; रचितात्—बनाया गया; अयुत—दस हजार; अग्र-भुक्—पहले खानेवाला; यः—वह व्यक्ति; शाक-अन्न-शिष्टम्—बचा हुआ भोजन, जूठन; उपयुज्य—स्वीकार करके; यतः—क्योंकि; त्रि-लोकीम्—तीनों संसारों को; तृप्ताम्—संतुष्ट; अमंस्त—मन में सोचा; सलिले—जल के भीतर; विनिमग्न-सङ्घः—सभी जल में विलीन हुए।

हमारे वनवास के समय, दस हजार शिष्यों के साथ भोजन करनेवाले दुर्वासा मुनि ने हमें भयावह संकट में डालने के लिए, हमारे शत्रुओं के साथ मिलकर चाल चली। उस समय उन्होंने (कृष्ण ने) केवल जूठन ग्रहण करके हमें बचाया था। इस तरह उनके भोजन ग्रहण करने से नदी में स्नान करती मुनि-मण्डली ने अनुभव किया कि वह भोजन से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गई और तीनों लोक भी सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : *दुर्वासा मुनि*—ये शक्तिशाली योगी ब्राह्मण थे, जिन्होंने कठिन तपस्या तथा महान् व्रतों के द्वारा धर्म के नियमों का पालन करने का संकल्प किया था। उनका नाम अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जुड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें शिवजी की भाँति सरलता से प्रसन्न किया जा सकता था तथा सरलता से रुष्ट किया जा सकता था। प्रसन्न होने पर, वे सेवक का अपार शुभ कर सकते थे और अप्रसन्न होने पर भारी विपदा उत्पन्न कर सकते थे। कुमारी कुन्ती अपने पिता के घर में सभी महान् ब्राह्मणों की सेवा किया करती थीं और उनके अच्छे सत्कार से प्रसन्न होकर दुर्वासा मुनि ने उन्हें ऐसी शक्ति का वर दिया कि जिससे वे इच्छित देवता का आवाहन कर सकती थीं। ऐसा समझा जाता है कि वे शिवजी के अंशावतार थे, अतएव वे शीघ्र ही प्रसन्न या रुष्ट किए जा सकते थे। वे शिव के महान् भक्त थे और शिवजी के आदेश से उन्होंने श्वेतकेतु का पुरोहित बनना स्वीकार किया था, क्योंकि

श्वेतकेतु एक सौ वर्षों तक यज्ञ कर चुके थे। वे कभी–कभी इन्द्रदेव की स्वर्ग–सभा में भी जाया करते थे। वे अपनी महान् योगशक्ति के बल से बाह्यावकाश में यात्रा कर सकते थे और ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने बाह्यावकाश में बहुत दूरी तक–भौतिक आकाश से भी परे वैकुण्ठ के ग्रहों तक यात्रा की थी। उन्होंने इतनी लम्बी दूरी एक वर्ष में तब तय की थी, जब उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट एवं परम भक्त राजा अम्बरीष से झगड़ा किया था।

उनके लगभग दस हजार शिष्य थे और वे जहाँ कहीं जाते तथा जिन क्षत्रिय राजाओं के अतिथि बनते, वहीं अपने बहुत से शिष्यों को साथ लेते जाते। एक बार वे महाराज युधिष्ठिर के शत्रु चचेरे भाई दुर्योधन के घर गये। दुर्योधन इतना तो बुद्धिमान था कि वह समझे कि ब्राह्मण को सब प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिए और ऐसा करने पर इस महर्षि ने दुर्योधन को कुछ वरदान देना चाहा। दुर्योधन इनकी योगशक्ति से परिचित था और उसे यह भी पता था कि ये योगी ब्राह्मण अप्रसन्न होने पर किस प्रकार ये बवंडर खड़ा कर सकते हैं। अतएव उसने ऐसी चाल सोची कि यह ब्राह्मण अपना क्रोध उनके शत्रु पाण्डवों पर उतारे। जब ऋषि ने दुर्योधन को कुछ वर देना चाहा, तो उसने इच्छा व्यक्त कि अच्छा हो यदि श्रीमान् उसके अग्रज तथा प्रमुख महाराज युधिष्ठिर के घर जायें। लेकिन उसने विनति की कि वे तब पहुँचें, जब युधिष्ठिर अपनी महारानी द्रौपदी के साथ भोजन कर चुके हों। दुर्योधन जानता था कि द्रौपदी के साथ भोजन करने के बाद महाराज युधिष्ठिर इतने सारे ब्राह्मण अतिथियों को भोजन नहीं दे पायेंगे और तब यह ऋषि क्रुद्ध होकर महाराज युधिष्ठिर के लिए संकट उत्पन्न कर देंगे। यह थी दुर्योधन की योजना। दुर्वासा मुनि ने उसके प्रस्ताव को मान लिया और दुर्योधन की योजना के अनुसार ही वनवासी राजा के यहाँ उस समय पहुँचे, जब राजा तथा द्रौपदी भोजन कर चुके थे।

महाराज युधिष्ठिर के द्वार पर पहुँचते ही दुर्वासा ऋषि का स्वागत किया गया और राजा ने उनसे प्रार्थना की कि वे दोपहर का धार्मिक कृत्य नदी के किनारे सम्पन्न करें, क्योंकि तब तक भोजन तैयार हो जाएगा। दुर्वासा अपने अनेक शिष्यों सहित नदी में स्नान करने गये और महाराज युधिष्ठिर इन अतिथियों के कारण बहुत चिन्ता करने लगे। जब तक द्रौपदी नहीं खाती थी, तब तक चाहे कितने ही अतिथि क्यों न आ जाँय, उन्हें भोजन दिया जा सकता था, किन्तु ऋषि तो दुर्योधन की योजना के अनुसार, उस समय पहुँचे थे, जब द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं।

जब भक्तगण कठिनाई में होते हैं, तब उन्हें ध्यानमग्न होकर भगवान् का स्मरण करने का अवसर प्राप्त होता है। अतएव द्रौपदी उस विषम स्थिति में भगवान् कृष्ण का स्मरण कर रही थीं और सर्वव्यापी भगवान् तुरन्त अपने भक्तों की कठिन स्थिति को समझ गयी। अत: वे वहाँ पर उपस्थित हुए और द्रौपदी से कहा कि जितना भी भोजन बचा हो, उसे वे ले आयें। भगवान् की बात सुनकर द्रौपदी अत्यन्त खिन्न हुईं, क्योंकि भोजन तो था नहीं और भगवान् भोजन माँग रहे थे। उन्होंने भगवान् से कहा कि यदि वे खा न चुकी होतीं, तो सूर्य द्वारा प्रदत्त रहस्यमयी थाली से वे कितना ही भोजन दे सकती थीं, किन्तु उस दिन वे भोजन कर चुकी थीं, अतएव अब संकट उपस्थित था। वे अपनी कठिनाइयाँ बताकर कृष्ण के समक्ष रोने लगीं, जैसाकि ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ करती हैं। किन्तु भगवान् ने द्रौपदी से रसोई के पात्र लाने को कहा, जिससे वे देख सकें कि उनमें कहीं भोजन का कोई कण लगा तो नहीं रह गया है। द्रौपदी के ऐसा करने पर भगवान् ने देखा कि पात्र में शाक का एक कण लगा हुआ है। भगवान् ने उसे निकाल कर तत्क्षण खा लिया। उसके बाद भगवान् ने द्रौपदी से कहा कि दुर्वासा समेत सारे अतिथियों को बुलायें।

भीम को नदी-तट से उन सबों को बुला लाने के लिए भेजा गया। भीम ने कहा, ''हे महोदय! आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं? आइये, आपके लिए भोजन तैयार है।'' किन्तु भगवान् कृष्ण ने भोजन का एक कण ग्रहण कर लिया था, अतएव नदी में स्नान करते समय अतिथियों का भी पेट पूरा भर चुका था। उन्होंने सोचा कि महाराज युधिष्ठिर ने उन सबों के लिए नाना प्रकार के व्यंजन तैयार कराये होंगे और चूँकि उन्हें भूख नहीं लग रही थी और वे खा नहीं सकेंगे, तो महाराज युधिष्ठिर को दुख होगा, अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि वे वहाँ जायें ही नहीं। इसलिए उन सबों ने वहाँ से चले जाने का निश्चय किया।

यह घटना सिद्ध करती है कि भगवान् सर्वोत्कृष्ट योगी हैं, अतएव वे योगेश्वर कहलाते हैं। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह भगवान् को भोजन भेंट करे। इसका फल यह होगा कि हर व्यक्ति सन्तुष्ट हो जायेगा, भले ही दस हजार अतिथि क्यों न हों, क्योंकि भगवान् सन्तुष्ट हैं। यही भक्ति की विधि है।

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
र्विस्मापित: सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; अथ—एक समय; भगवान्—ईश्वर (शिवजी); युधि—युद्ध में; शूल-पाणि:—त्रिशूलधारी; विस्मापित:—आश्चर्यचकित; स-गिरिज:—हिमालय की पुत्री समेत; अस्त्रम्—अस्त्र; अदात्—दिया; निजम्—अपना; मे—मुझको; अन्ये अपि—और दूसरे भी; च—तथा; अहम्—मैं; अमुना—उनके; एव—निश्चय ही; कलेवरेण—शरीर से; प्राप्त:—प्राप्त; महा-इन्द्र-भवने—इन्द्रदेव के घर में; महत्—महान्; आसन-अर्धम्—आधा ऊँचा आसन।

यह उन्हीं का प्रताप था कि मैं एक युद्ध में शिवजी तथा उनकी पत्नी पर्वतराज हिमालय की कन्या को आश्चर्यचकित करने में समर्थ हुआ। इस तरह वे (शिवजी) मुझ पर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे अपना निजी अस्त्र प्रदान किया। अन्य देवताओं ने भी मुझे अपने-अपने अस्त्र भेंट किये और इसके अतिरिक्त, मैं इसी वर्तमान शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सका, जहाँ मुझे आधे ऊँचे आसन पर बैठने दिया गया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से शिवजी समेत सारे देवता अर्जुन से प्रसन्न थे। भाव यह है कि जिस किसी पर शिवजी की या किसी अन्य देवता की कृपा होती है, उस पर भगवान् श्रीकृष्ण की भी कृपा हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। रावण निश्चित रूप से शिवजी का महान् भक्त था, किन्तु वह भगवान् रामचन्द्र के क्रोध से बच नहीं पाया। और पुराणों में ऐसी अनेक घटनाएँ भरी पड़ी हैं। किन्तु यहाँ पर एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जिसमें शिवजी अर्जुन से युद्ध करके भी प्रसन्न होते हैं। परमेश्वर के भक्त जानते हैं कि देवताओं का सम्मान किस तरह किया जाय, किन्तु देवताओं के भक्त कभी-कभी मूर्खतावश ऐसा सोचते हैं कि भगवान् देवताओं से बड़े नहीं हैं। ऐसी धारणा से मनुष्य अपराधी बन जाता है और उसका अन्त वैसा ही होता है, जैसा रावण तथा अन्यों का हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सख्य भाव में सम्पन्न कार्यों का अर्जुन द्वारा किया गया उल्लेख उन सबों के लिए शिक्षाप्रद है, जो इस शिक्षा से आश्वस्त हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न करके अन्य सारे वर प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु देवताओं के भक्तों या पूजकों को केवल आंशिक लाभ होगा, जो खुद देवताओं की ही भाँति विनाशशील होगा।

इस श्लोक की दूसरी महत्ता यह है कि भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन इसी शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सके, जहाँ स्वर्ग के देवता इन्द्रदेव ने अर्ध-ऊँचे सिंहासन पर अपने साथ बिठाकर उन्हें सम्मानित किया। कोई मनुष्य पुण्य कर्मों से स्वर्गलोक पहुँच सकता है, जैसा कि सकाम कर्मों की श्रेणी में शास्त्रों का अभिमत है। जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है, जब ऐसे पुण्य कर्मों का फल क्षीण हो जाता है, तब भोक्ता को पुनः पृथ्वीलोक पर ला गिराया जाता है। चन्द्रमा भी, स्वर्गीय ग्रहों के समान स्तर पर है और जिन लोगों ने यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर तथा कठोर तपस्या करके पुण्य अर्जित किया है, उन्हें ही शरीर की आयु पूरी होने के बाद स्वर्गलोक में प्रविष्ट होने दिया जायेगा। अर्जुन को उसी शरीर में स्वर्ग में प्रविष्ट होने दिया गया जो केवल भगवत्कृपा का प्रसाद था, अन्यथा ऐसा होना सम्भव नहीं है। आधुनिक विज्ञानियों द्वारा स्वर्गलोक में प्रवेश करने के सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे, क्योंकि ऐसे विज्ञानी अर्जुन के समान स्तर पर नहीं हैं। वे तो सामान्य मनुष्य हैं, जो यज्ञ, दान या तप की निधि से विहीन हैं। यह भौतिक शरीर प्रकृति के तीन गुण—सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित होता रहता है। आधुनिक प्रजा न्यूनाधिक रूप से रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित है और इस प्रभाव के लक्षण उनके अत्यन्त कामुक तथा लोभी होने से प्रकट होते हैं। ऐसे पतित लोग मुश्किल से स्वर्गलोक पहुँच सकते हैं। स्वर्गलोक के ऊपर भी अन्य अनेक लोक भी हैं, जहाँ केवल सतोगुणी जीव ही पहुँच सकता है। इस ब्रह्माण्ड में, स्वर्ग तथा अन्य लोकों के निवासी अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं—मनुष्यों से कई गुना अधिक और वे एक से एक बढ़कर सतोगुणी होते हैं। वे सब भगवान् के भक्त होते हैं और यद्यपि उनका सत्त्वगुण विशुद्ध नहीं होता है, तो भी वे देवता कहलाते हैं, जिनमें इस भौतिक जगत में सम्भव अधिकतम मात्रा में सद्गुण पाये जाते हैं।

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्वर्गलोक में; एव—निश्चय ही; मे—मैं स्वयं; विहरतः—अतिथि के रूप में रहते हुए; भुज-दण्ड-युग्मम्—अपनी दोनों भुजाओं को; गाण्डीव—गांडीव धनुष; लक्षणम्—चिह्न; अराति—निवातकवच नामक असुर; वधाय—मारने के लिए; देवाः—सारे देवता; स—सहित; इन्द्राः—स्वर्ग का राजा, इन्द्र; श्रिताः—शरण लेकर; यत्—जिसके; अनुभावितम्—शक्तिमान होने के लिए सम्भव; आजमीढ—हे राजा आजमीढ के वंशज; तेन—उसके द्वारा; अहम्—मैं; अद्य—इस समय; मुषितः—रहित; पुरुषेण—व्यक्ति से; भूम्ना—परम।

जब मैं स्वर्गलोक में अतिथि के रूप में कुछ दिन रुका रहा, तो इन्द्रदेव समेत स्वर्ग के समस्त देवताओं ने निवातकवच नामक असुर को मारने के लिए गाण्डीव धनुष धारण करनेवाली मेरी भुजाओं का आश्रय लिया था। हे आजमीढ के वंशज राजा, इस समय मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विहीन हो गया हूँ, जिनके प्रभाव से मैं इतना शक्तिशाली था।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के देवता निश्चय ही अधिक बुद्धिमान, शक्तिमान तथा सुन्दर होते हैं, तो भी उन्हें अर्जुन से उनके गाण्डीव धनुष के कारण सहायता लेनी पड़ी, क्योंकि गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से शक्ति-सम्पन्न था। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी कृपा से शुद्ध भक्त उनकी इच्छा के अनुसार शक्तिमान हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती है। किन्तु जब भगवान् किसी से अपनी शक्ति वापस ले लेते हैं, तो वह भगवान् की इच्छा से शक्तिविहीन हो जाता है।

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यत्-बान्धवः—जिनकी मैत्री मात्र से; कुरु-बल-अब्धिम्—कुरुओं की सैन्य-शक्ति-रूपी सागर को; अनन्त-पारम्—दुर्लंघ्य; एकः—एकाकी; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर; ततरे—पार करने में समर्थ था; अहम्—मैं; अतीर्य—अजेय; सत्त्वम्—अस्तित्व; प्रत्याहृतम्—वापस ले लिया; बहु—अत्यधिक; धनम्—धन; च—भी; मया—मेरे द्वारा; परेषाम्—शत्रु का; तेज-आस्पदम्—तेज (प्रकाश) का स्रोत; मणि-मयम्—मणियों से अलंकृत; च—भी; हृतम्—बलपूर्वक लाया गया; शिरोभ्यः—उनके सिरों से।

कौरवों की सैन्यशक्ति उस समुद्र की तरह थी, जिसमें अनेक अजेय प्राणी रहते थे। फलतः वह दुर्लंघ्य थी। किन्तु उनकी मित्रता के कारण, मैं रथ पर आरूढ़ होकर, उसे पार कर सका। यह उन्हीं की कृपा थी कि मैं गौवों को वापस ला सका और बलपूर्वक राजाओं के तमाम मुकुट एकत्र कर सका, जो समस्त तेज के स्रोत रत्नों से जटित थे।

तात्पर्य : कौरवों के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कृप तथा कर्ण जैसे बड़े-बड़े सेनानायक थे और उनकी सैन्य-शक्ति विशाल समुद्र की तरह दुर्लंघ्य थी। फिर भी यह श्रीकृष्ण की ही कृपा थी कि अर्जुन ने अकेले ही रथ पर बैठकर उन सबों को एक-एक करके सरलता से समाप्त कर दिया। दूसरे पक्ष के सेनापतियों में अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण द्वारा चालित रथ पर आरूढ़ अर्जुन अकेले इस महायुद्ध का भार सँभाले रहे। इसी प्रकार जब पाण्डव विराट के महल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कौरवों ने राजा विराट से झगड़ा मोल लिया और उनकी बड़ी तादाद में गौवें हर लीं। जब वे गौवें ले जा रहे थे, तो अर्जुन ने उनसे अज्ञात वेष में युद्ध किया और गायों के साथ बलपूर्वक लूटी गई सम्पत्ति तथा राजमुकुटों में लगे रत्नों को भी उनसे छीन लिया। अर्जुन स्मरण करने लगे कि यह सब भगवान् कृष्ण की ही कृपा से सम्भव हो सका।

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—केवल वे ही; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; गुरु—द्रोणाचार्य; शल्य—शल्य; चमूषु—व्यूह के मध्य; अदभ्र—विशाल; राजन्य-वर्य—बड़े-बड़े राजकुमार; रथ-मण्डल—रथों की शृंखला; मण्डितासु—अलंकृत; अग्रे चरः—आगे-आगे जाते हुए; मम—मेरा; विभो—हे राजा; रथ-यूथ-पानाम्—सारे रथी; आयुः—उम्र अथवा सकाम कर्म; मनांसि—मानसिक उथल-पुथल; च—भी; दृशा—चितवन से; सहः—शक्ति; ओजः—पराक्रम; आर्च्छत्—वापस ले लिया।

एकमात्र वे ही थे जिन्होंने सबों की आयु छीन ली थी और जिन्होंने युद्धभूमि में भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य, इत्यादि कौरवों द्वारा निर्मित सैन्य-व्यूह की कल्पना तथा उत्साह को हर लिया था। उन सबकी योजना अत्यन्त पटु थी और आवश्यकता से अधिक थी, लेकिन उन्होंने (भगवान् श्रीकृष्ण ने) आगे बढ़कर यह सब कर दिखाया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण घट-घट व्यापी अपने परमात्मा-अंश से सभी के हृदय में विस्तार करते हैं और इस तरह स्मृति, विस्मृति, ज्ञान, बुद्धिहीनता तथा मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों में सबों का निर्देशन करते हैं (*भगवद्गीता* १५.१५)। परमेश्वर होने के नाते, वे जीव की आयु को घटा-बढ़ा सकते हैं। इस तरह भगवान् ने अपनी योजना के अनुसार कुरुक्षेत्र-युद्ध का संचालन किया। वे इस युद्ध को इसलिये

कराना चाह रहे थे, जिससे वे युधिष्ठिर को इस लोक का सम्राट बना सकें। इस दिव्य कार्य को सुगम बनाने के लिये उन्होंने अपनी परम शक्तिमान इच्छा से विरोधी पक्ष के उन सभी लोगों को मार डाला। विरोधी पक्ष में भीष्म, द्रोण तथा शल्य जैसे महान् सेनापति थे, अतएव उस युद्ध में यदि भगवान् ने सब प्रकार की युक्तियों से सहायता न की होती, तो अर्जुन का जीतना असम्भव था। सामान्यतया ऐसी युक्तियाँ आधुनिक राजनीति में भी सभी नीतिज्ञों द्वारा अपनायी जाती हैं, लेकिन ये सब भौतिक शक्तिशाली गुप्तचरी, सैन्य-निपुणता तथा राजनयिक दाँव-पेंच द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। चूँकि अर्जुन भगवान् के प्रिय भक्त थे, अतएव भगवान् ने स्वयं यह सब किया, अर्जुन को इसकी चिन्ता नहीं करनी पड़ी। भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि ऐसी होती है।

यद्दो:षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशल्यसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके अन्तर्गत; दो:षु—हथियारों की सुरक्षा; मा प्रणिहितम्—स्वयं मेरे स्थित होने पर; गुरु—द्रोणाचार्य; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; नप्तृ—भूरिश्रवा; त्रिगर्त—राजा सुशर्मा; शल्य—शल्य; सैन्धव—राजा जयद्रथ; बाह्लिक—महाराज शान्तनु (भीष्म के पिता) का भाई; आद्यैः—इत्यादि.; अस्त्राणि—अस्त्रों को; अमोघ—अचूक; महिमानि—अत्यन्त शक्तिशाली; निरूपितानि—व्यवहृत; न—नहीं; उपस्पृशुः—स्पर्श किया; नृहरि-दासम्—नृसिंह देव का सेवक (प्रह्लाद); इव—सद्दश; असुराणि—असुरों द्वारा प्रयुक्त हथियार।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ तथा बाह्लिक जैसे बड़े-बड़े सेनापतियों ने अपने-अपने अचूक हथियार मुझ पर चलाये, लेकिन उनकी (भगवान् कृष्ण की) कृपा से सब वे मेरा बाल बाँका भी न कर पाये। इसी प्रकार भगवान् नृसिंह देव के परम भक्त प्रह्लाद महाराज असुरों द्वारा प्रयुक्त समस्त शस्त्रास्त्रों से अप्रभावित रहे।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज नृसिंह-देव के परम भक्त थे। उनकी कथा *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कन्ध में दी गई है। प्रह्लाद महाराज अभी पाँच वर्ष के नन्हे बालक ही थे कि वे अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के क्रोध के पात्र बने, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। असुर पिता ने अपने भक्त पुत्र प्रह्लाद को मारने के लिए सभी हथियारों को आजमाया, लेकिन भगवान् की कृपा से वे अपने पिता की

सभी घातक कार्यवाहियों से बचते गये। उन्हें जलती अग्नि में, उबलते तेल में, पर्वत की चोटी से नीचे, हाथी के पाँव के नीचे फेंका गया और उन्हें विष भी दिया गया। अन्त में पिता ने अपने पुत्र को मारने के लिए गँड़ासा उठाया, तो नृसिंह देव प्रकट हुए और उस जघन्य पिता का पुत्र के समक्ष वध कर दिया। इस तरह भगवान् के भक्त को कोई नहीं मार सकता। इसी प्रकार अर्जुन को भी भगवान् ने बचाया, यद्यपि उन्हें मारने के लिए भीष्म जैसे महान् प्रतिद्वन्द्वी द्वारा सभी घातक हथियार छोड़े गये थे।

कर्ण—ये कुन्ती के पुत्र थे, जो महाराज पाण्डु से विवाह होने के पूर्व सूर्यदेव से प्राप्त हुए थे। कर्ण का जन्म हाथ के कड़े तथा कान के कुण्डल सहित हुआ था, जो दुर्दम वीर के असामान्य लक्षण थे। प्रारम्भ में उसका नाम वसुसेन था, लेकिन जब वह बड़ा हुआ तो उसने अपने प्राकृतिक कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को भेंट कर दिये और उसके बाद वैकर्तन कहलाया। कुमारी कुन्ती ने जन्म देने के बाद, उसे गंगा नदी में फेंक दिया गया था। बाद में अधिरथ ने उसे उठा लिया और उसने तथा उसकी पत्नी राधा ने उसे अपनी सन्तान की तरह पाला-पोसा। कर्ण अत्यन्त दानी था, विशेषत: ब्राह्मणों के प्रति। ब्राह्मणों को दान देते समय, वह अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत रहता था। इसी दानी भावना से उसने अपने कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को दे दिये थे, जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने बदले में शक्ति नाम का महान् अस्त्र प्रदान किया। उसकी द्रोणाचार्य के शिष्य-रूप में भर्ती हुई थी और प्रारम्भ से ही उसमें तथा अर्जुन में स्पर्धा चलती थी। अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा देखकर ही दुर्योधन ने उसे अपना संगी बना लिया था और क्रमश: उनमें प्रगाढ़ मैत्री हो गई। वह द्रौपदी के स्वयंवर में भी उपस्थित था और जब उस सभा में उसने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहा, तो द्रौपदी के भाई ने घोषणा की कि कर्ण उस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता, क्योंकि वह शूद्र बढ़ई का पुत्र था। यद्यपि उसे उस प्रतियोगिता में भाग लेने नहीं दिया गया, किन्तु जब अर्जुन मत्स्य-भेद में सफल रहा और द्रौपदी ने अर्जुन को माला पहना दी, तो कर्ण तथा हारे हुए राजकुमारों ने द्रौपदी-सहित जाते हुए अर्जुन के लिए असामान्य रूकावट खड़ी की। विशेष रूप से कर्ण उनसे बहादुरी से लड़ा, किन्तु वे सभी अर्जुन द्वारा परास्त हुए। दुर्योधन कर्ण से अत्यधिक प्रसन्न था, क्योंकि अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा चलती रहती थी और जब दुर्योधन राजा बना तो उसने कर्ण को अंगराज्य का राजा बना दिया। द्रौपदी को जीतने का प्रयास असफल होने से कर्ण ने दुर्योधन को सलाह दी कि राजा द्रुपद पर हमला कर

दिया जाये, क्योंकि उसे हराकर द्रौपदी तथा अर्जुन दोनों को बन्दी बनाया जा सकता था। लेकिन द्रोणाचार्य ने इस षड्यंत्र के लिए उनको फटकारा। फलत: वे इस कार्य से विरत हो गये। कर्ण, कई बार हारा था, न केवल अर्जुन से, अपितु भीमसेन से भी। वह बंगाल, उड़ीसा तथा मद्रास के सम्मिलित राज्य का राजा था। बाद में उसने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सक्रिय भाग लिया और जब शकुनि द्वारा सुझाये जाने पर प्रतिद्वन्द्वी बन्धुओं में जुआ खेला गया, तो कर्ण ने उसमें भाग लिया और जब द्रौपदी दाँव पर चढ़ गई, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। इससे उसके पुराने वैर का शोधन हुआ। जब द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया, उसने ही अत्यन्त प्रोत्साहित होकर इसकी सूचना दी और उसने ही पाण्डवों तथा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के लिए दुस्शासन को आज्ञा दी। उसने द्रौपदी से दूसरा पति चुनने को कहा, क्योंकि पाण्डवों के द्वारा हारी जाने से वह कुरुओं की दासी बन चुकी थी। वह पाण्डवों का स्थायी दुश्मन बना रहा और जब-जब अवसर मिलता रहा, वह उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास करता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध में उसने पहले ही परिणाम जान लिया था और उसने अपना अभिमत व्यक्त किया था कि अर्जुन के सारथी के रूप में, कृष्ण के होने से, यह युद्ध अर्जुन द्वारा जीता जायेगा। वह भीष्म का सदैव विरोध करता रहा और कभी-कभी गर्वित होकर कहता कि यदि भीष्म उसकी योजना में दखल न दें, तो वह पाण्डवों को पाँच दिनों में जीत सकता है। लेकिन जब भीष्म की मृत्यु हुई, तब वह अत्यन्त दु:खी हुआ। उसने इन्द्र से प्राप्त हुए शक्ति अस्त्र द्वारा घटोत्कच का वध किया। अर्जुन ने उसके पुत्र वृषसेन का वध किया उसने सर्वाधिक पाण्डव सैनिकों को मारा था। अन्त में अर्जुन से उसका घनघोर युद्ध हुआ, और वह अकेल ही ऐसा था, जिसने युद्ध में अर्जुन के मुकुट को मार गिराया था। लेकिन ऐसा हुआ कि उसके रथ का पहिया युद्धभूमि के कीचड़ में फँस गया और जब वह उस पहिये को ठीक करने रथ से नीचे उतरा, तो उसके मना करने पर भी अर्जुन ने उसे मार डाला।

नप्ता अथवा *भूरिश्रवा*—भूरिश्रवा कुरुवंशी सोमदत्त का पुत्र था। शल्य उसका भाई था। दोनों भाई तथा पिता द्रौपदी-स्वयंवर में गये थे। इन सबों ने भगवान् के भक्त-मित्र होने के कारण, अर्जुन की अद्भुत शक्ति की प्रसंशा की थी और भूरिश्रवा ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को सलाह दी थी कि वे उनसे झगड़ा मोल न लें अथना युद्ध न करें। इन सबों ने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी भाग लिया। उसके

पास एक अक्षौहिणी सेना थी जिसमें पैदल सिपाही, घुड़सवार, हाथी और रथ शामिल थे और यह सेना दुर्योधन की ओर से कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ी थी। भीम उसे यूथपतियों में से एक मानते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वह विशेष तौर पर सात्यकी से लड़ा था और उसने सात्यकी के दस पुत्रों को मार डाला था। बाद में अर्जुन ने उसके हाथ काट दिये तब सात्यकी ने उसे मार डाला। मृत्यु के बाद वह विश्वदेव में समा गया।

त्रिगर्त अथवा *सुशर्मा*—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का पुत्र तथा त्रिगर्त देश का राजा था और वह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था। यह दुर्योधन का मित्र था और इसने दुर्योधन को मत्स्यदेश (दरभंगा) पर आक्रमण करने की सलाह दी थी। विराट नगर में गायों को चुराते समय, वह महाराज विराट को बन्दी बना ने में सफल हुआ था, लेकिन बाद में भीम ने महाराज विराट को छुड़ा लिया था। कुरुक्षेत्र युद्ध के में भी वह वीरतापूर्वक लड़ा, किन्तु अन्त में अर्जुन द्वारा मारा गया।

जयद्रथ—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का ही एक अन्य पुत्र था। यह सिन्धुदेश (आधुनिक सिंध जो पाकिस्तान में है) का राजा था। इसकी पत्नी का नाम दु:शला था। यह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था और उससे विवाह करने के लिए बहुत उत्सुक था, किन्तु प्रतियोगिता में असफल रहा। किन्तु तब से वह हमेशा द्रौपदी के निकट आने के फेर में रहा करता था। जब वह अपना विवाह करने शल्यदेश जा रहा था, तो उसने रास्ते में काम्यवन में उसने एक बार फिर द्रौपदी को देखा और वह उसके प्रति अत्यधिक आकर्षित हो गया था। तब अपना राज्य जुए में हारकर पाण्डव तथा द्रौपदी वनवास में थे और तब जयद्रथ ने अपने संगी कोटिशष्य के द्वारा, अनुचित तरीके से द्रौपदी के पास सन्देश भेजा। द्रौपदी ने तुरन्त ही जयद्रथ के प्रस्ताव को बड़ी बुरी तरह ठुकरा दिया था, किन्तु द्रौपदी के सौन्दर्य के प्रति वह इतना आकर्षित था कि वह बारम्बार प्रयास करता रहा और हर बार द्रौपदी ने उसे ठुकरा दिया। उसने द्रौपदी को जबरन रथ पर बैठाना चाहा, लेकिन द्रौपदी ने उसे ऐसी पटकनी दी कि वह कटे हुए वृक्ष की तरह धराशायी हो गया। लेकिन वह हतोत्साहित नहीं हुआ और द्रौपदी को जबरन रथ पर बिठाने में सफल रहा। धौम्य मुनि ने यह घटना देखी तो उन्होंने जयद्रथ के इस कार्य का तीव्र विरोध किया। उन्होंने रथ का पीछा भी किया और धात्रेयिका के द्वारा इसकी जानकारी महाराज युधिष्ठिर तक पहुँचाई। तब पाण्डवों ने आक्रमण करके उसके सारे सैनिकों को मार डाला और अन्त में

भीमसेन ने जयद्रथ को पकड़कर उसकी जमकर पिटाई की ओर वह लगभग मरा सा हो गया। फिर उसके पाँच बाल छोड़कर सिर के सारे बाल काट लिये गये और समस्त राजाओं के समक्ष लाकर, महाराज युधिष्ठिर के दास के रूप में, परिचय कराया गया। उसे सभी राजकुमारों के समक्ष अपने को महाराज युधिष्ठिर का दास स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और उसे उसी अवस्था में महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख लाया गया। महाराज युधिष्ठिर ने दयालु होकर उसे छोड़ने का आदेश दिया और जब उसने त्रिगर्त राजकुमार को महाराज के अधीन बनाने के लिए आत्म–स्वीकृति कर ली, तो महारानी द्रौपदी ने भी उसको मुक्त करने की इच्छा व्यक्त कर दी। इस घटना के बाद उसे अपने देश जाने दिया गया। इस प्रकार अपमानित होने के बाद, वह हिमालय पर्वत पर गंगोत्री चला गया और उसने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या की। उसने पाँचों पाण्डवों को कम से कम एक–एक करके हराने का वर माँगा। तत्पश्चात जब कुरुक्षेत्र–युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसने दुर्योधन का पक्ष लिया। पहले दिन उसने महाराज द्रुपद से, फिर विराट से और तब अभिमन्यु से युद्ध किया। जब अभिमन्यु को सात महान् सेनापति घेरकर निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, तो पाण्डव उसकी सहायता करने के लिए पहुँचे, किन्तु जयद्रथ ने शिवजी की कृपा से अपनी शक्ति से उन्हें पीछे हटा दिया। इस पर अर्जुन ने उसका वध करने की प्रतिज्ञा की। यह सुनकर जयद्रथ ने युद्धस्थल छोड़कर भागना चाहा और कौरवों से इसकी अनुमति माँगी, किन्तु उसे ऐसा नहीं करने दिया गया। उल्टे उसे अर्जुन से युद्ध करने के लिए विवश किया गया और जब युद्ध चल रहा था, तो भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को याद दिलाई कि जयद्रथ को शिवजी का यह वरदान प्राप्त है कि जो भी उसका सिर धरती पर गिराएगा, वह तुरन्त मर जायेगा। अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वे जयद्रथ के सिर को सीधे उसके पिता की गोद में गिराये, जो समन्तपंचक तीर्थ में तप कर रहा था। अर्जुन ने वास्तव में ऐसा ही किया। जयद्रथ का पिता पुत्र के कटे हुए सिर को अपनी गोद में देखकर अचम्भिंत हो उठा। अतएव उसने तुरन्त ही उस सिर को भूमि पर फेंक दिया। उसके पिता का सिर सात खण्डों में विभक्त हो गया और वह तुरन्त मर गया।

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।

मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥ १७॥

शब्दार्थ

सौत्ये—सारथी के विषय में; वृतः—लगा हुआ; कुमतिना—बुरी चेतना के कारण; आत्म-दः—उद्धार करनेवाला; ईश्वरः—परमेश्वर; मे—मेरा; यत्—जिसको; पाद-पद्मम्—चरणकमल को; अभवाय—मोक्ष के मामले में; भजन्ति—सेवा करते हैं; भव्याः—बुद्धिमान पुरुष; माम्—मुझको; श्रान्त—प्यासा; वाहम्—मेरे घोड़े; अरयः—शत्रु; रथिनः—महान् सेनापति; भुविष्ठम्—भूमि पर खड़े हुए; न—नहीं; प्राहरन्—आक्रमण किया; यत्—जिसकी; अनुभाव—कृपा; निरस्त—अनुपस्थित होने से; चित्ताः—मन।

यह उन्हीं की कृपा थी कि जब मैं अपने प्यासे घोड़ों के लिए जल लेने रथ से नीचे उतरा था, तो मेरे शत्रुओं ने मुझे मारने की परवाह न की। यह तो अपने प्रभु के प्रति मेरा असम्मान ही था कि मैंने उन्हें अपना सारथी बनाने का दुस्साहस किया, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ पुरुष उनकी पूजा तथा सेवा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण निर्विशेषवादियों तथा भगवद्भक्तों दोनों के द्वारा समान रूप से आराध्य हैं। निर्विशेषवादी उनके जाज्वल्यमान तेज की पूजा करते हैं, जो सच्चिदानन्द-स्वरूप दिव्य देह से उद्भासित होता रहता है और भक्तगण पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् के रूप में उनकी पूजा करते हैं। जो लोग निर्विशेषवादियों से भी नीचे के हैं, वे उन्हें महान् ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। किन्तु भगवान् तो अपनी विशिष्ट दिव्य लीलाओं के द्वारा सबों को आकृष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं और इस तरह वे पूर्ण स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी की भूमिका निभाते हैं। अर्जुन से उनका दिव्य सम्बन्ध मित्र (सख्य) भावका था, अतएव उन्होंने अपनी भूमिका पूरी तरह निभाई, जिस तरह उन्होंने अपने माता-पिता, प्रेमिकाओं तथा पत्नियों के साथ किया था। इस तरह के पूर्ण दिव्य भाव में भक्त, भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कारण यह भूल जाता है कि उसका मित्र या पुत्र पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान् है, यद्यपि भक्त भी कभी-कभी भगवान् के कार्यों से मोहग्रस्त हो जाता है। भगवान् के प्रयाण के बाद अर्जुन को अपने परम मित्र का बोध था, लेकिन इस विषय में अर्जुन कोई गलती नहीं कर रहा था और न ही उसे भगवान् के विषय में कोई भ्रान्त धारणा थी। बुद्धिमान व्यक्ति अर्जुन जैसे शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की दिव्य करनी के द्वारा आकृष्ट होते हैं।

युद्धभूमि में जल का अभाव सर्वविदित तथ्य है। जल वहाँ दुर्लभ रहता है। और पशु तथा मनुष्य, दोनों ही युद्धक्षेत्र में निरन्तर श्रम करते रहने से प्यासे हो उठते हैं और प्यास बुझाने के लिए जल की

आवश्यकता पड़ती है। विशेष रूप से, घायल सैनिक तथा सेनापति मृत्यु के समय अत्यधिक प्यासे हो उठते हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जल न मिलने के कारण ही विवश होकर मृत्यु हो जाती है। लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्ध में पानी के अभाव को भूमि का बेधन करके पूरा किया गया। भगवान् की कृपा से किसी भी स्थान को बेध करके जल आसानी से प्राप्त किया जा सकता था, यदि वहाँ बेधन करने की सुविधा हो। आधुनिक प्रणाली भी भूमि के बेधन के सिद्धान्त पर कार्य करती है। फिर भी आज के इंजीनियर, आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त खुदाई करने में समर्थ नहीं हो पाते। लेकिन इतिहास से पता चलता है कि पाण्डवों के काल में अर्जुन जैसे बड़े-बड़े सेनानायक घोड़ों तक को तुरन्त जल पिला सकते थे—मनुष्यों की तो बात ही क्या? वे तीक्ष्ण बाण से पृथ्वी की कठोर सतह को भेदकर ही नीचे से जल निकाल सकते थे। यह विधि आधुनिक विज्ञानियों को आज भी अज्ञात है।

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नर्माणि—परिहास में बातचीत; उदार—खुलकर बातें करनेवाले; रुचिर—अच्छी लगनेवाली; स्मित-शोभितानि—हँसीले चेहरे से अलंकृत; हे—हे, अरे (सम्बोधन का चिह्न); पार्थ—हे पृथा-पुत्र; हे—हे; अर्जुन—अर्जुन; सखे—मित्र; कुरु-नन्दन—कुरुवंश के पुत्र; इति—इस प्रकार; सञ्जल्पितानि—ऐसी बातचीत; नर-देव—हे राजा; हृदि—हृदय में; स्पृशानि—स्पर्श करती; स्मर्तुः—उन्हें स्मरण करके; लुठन्ति—अभिभूत करती हैं; हृदयम्—हृदय तथा आत्मा को; मम—मेरे; माधवस्य—माधव (कृष्ण) का।

हे राजन्, उनके परिहास तथा उनकी मुक्त बातें अत्यन्त सुहावनी तथा सौंदर्य से अलंकृत होती थीं। "हे पार्थ, हे सखा, हे कुरुनन्दन" कहकर उनका पुकारना तथा उनकी समस्त सहृदयता की अब मुझे याद आ रही है और मैं अभिभूत हूँ।

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शय्या—एक ही बिस्तर पर सोना; आसन—एक ही आसन पर बैठना; अटन—साथ-साथ घूमना; विकत्थन—आत्मश्लाघा; भोजन—साथ-साथ खाना; आदिषु—इत्यादि में; ऐक्यात्—एकत्व होने से; वयस्य—हे मित्र; ऋतवान्—सत्यवादी; इति—इस प्रकार; विप्रलब्धः—बुरा आचरण किया गया; सख्युः—मित्र से; सखा इव—मित्र की भाँति; पितृवत्—पिता की भाँति; तनयस्य—बालक का; सर्वम्—सारे; सेहे—सह लेते; महान्—महान्; महितया—यश से; कुमतेः—दुर्बुद्धि का; अघम्—अपराध; मे—मेरे।

सामान्यतः हम दोनों साथ-साथ रहते और सोते, साथ-साथ बैठते और घूमने जाते। और बहादुरी के कार्यों के लिए आत्म-प्रशंसा करते हुए कभी-कभी यदि कोई भूल होती, तो मैं उन्हें यह कहकर चिढ़ाया करता था "हे मित्र, तुम तो बड़े सत्यवादी हो।" उस समय भी जब उनका महत्व घटता होता, वे परमात्मा होने के कारण, मेरी उटपटांग बातों को सह लेते थे और मुझे उसी प्रकार क्षमा कर देते थे जिस तरह एक सच्चा मित्र अपने सच्चे मित्र को या पिता अपने पुत्र को क्षमा कर देता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् श्रीकृष्ण परम-पूर्ण हैं, अतएव शुद्ध भक्तों के साथ उनकी दिव्य लीलाओं में किसी तरह की कमी नहीं रहती, चाहे वह मित्र, पुत्र या प्रेमी के रूप में हों। भगवान् अपने मित्रों, माता-पिता या प्रेमिकाओं की झिड़कियों में बड़े-बड़े विद्वानों तथा धर्म-विशारदों द्वारा विधिपूर्वक अर्पित की जानेवाली वैदिक ऋचाओं से भी अधिक आनन्द उठाते हैं।

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; नृप-इन्द्र—हे सम्राट; रहितः—विहीन; पुरुष-उत्तमेन—परमेश्वर द्वारा; सख्या—अपने मित्र द्वारा; प्रियेण—अपने सर्वाधिक प्रिय द्वारा; सुहृदा—शुभचिन्तक द्वारा; हृदयेन—हृदय तथा आत्मा से; शून्यः—शून्य, रहित; अध्वनि—हाल ही में; उरुक्रम-परिग्रहम्—सर्वशक्तिमान की पत्नियाँ; अङ्ग—शरीर; रक्षन्—रक्षा करते हुए; गोपैः—ग्वालों द्वारा; असद्भिः—नास्तिक, असभ्य, दुष्ट; अबला इव—निर्बल स्त्री की तरह; विनिर्जितः अस्मि—पराजित हो चुका हूँ।

हे राजन्, अब मैं अपने मित्र तथा सर्वाधिक प्रिय शुभचिन्तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विलग हो गया हूँ, अतएव मेरा हृदय हर तरह से शून्य-सा प्रतीत हो रहा है। उनकी अनुपस्थिति

में, जब मैं कृष्ण की तमाम पत्नियों की रखवाली कर रहा था, तो अनेक अविश्वस्त ग्वालों ने मुझे हरा दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अर्जुन किस तरह ग्वालों की असभ्य टोली द्वारा हरा दिये गये और किस तरह इन संसारी ग्वालों ने भगवान् की पत्नियों के शरीर का स्पर्श किया होगा, जिनकी रखवाली अर्जुन कर रहे थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विष्णुपुराण* तथा *ब्रह्मपुराण* से खोज करके इस विरोधाभास को मान्य ठहराया है। इन पुराणों में कहा गया है कि एक बार स्वर्ग की सुन्दरियों ने अपनी सेवा से अष्टावक्र मुनि को प्रसन्न कर लिया, तो मुनि ने उन्हें वरदान दिया कि तुम्हें परमेश्वर पति के रूप में प्राप्त होंगे। अष्टावक्र का शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा था, अतएव वे एक खास तरह से झुककर टेढ़ा चलते थे। फलतः देवताओं की पुत्रियाँ उनकी चाल देखकर अपनी हँसी रोक न पाईं, तो मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दिया कि यदि उन्हें पति-रूप में भगवान् प्राप्त हो भी जायें, तो भी उनका अपहरण दुष्टों के द्वारा होगा। बाद में उन कन्याओं ने स्तुतियों द्वारा मुनि को फिर से प्रसन्न किया, तो मुनि ने फिर वरदान दिया कि अपहरण होने पर भी, उन्हें अपने अपने पति वापस मिल जायेंगे। अतएव मुनि के वचनों को सही बनाने के लिए स्वयं भगवान् ने अपनी पत्नियों का अपहरण अर्जुन की सुरक्षा में रहते हुए भी कर लिया, अन्यथा उन दुष्टों के स्पर्श करते ही सारी की सारी पत्नियाँ अदृश्य हो गई होतीं। इसके साथ ही जिन गोपियों ने कृष्ण की पत्नी बनने के लिए प्रार्थना की थी, वे भी अपनी-अपनी इच्छा पूरी होने पर अपने-अपने स्थानों पर लौट आईं। भगवान् कृष्ण के प्रस्थान के बाद उन्होंने चाहा कि उनके सारे संगी भगवद्धाम वापस आ जाँय और वे सभी विभिन्न अवस्थाओं में वापस बुला लिए गये।

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वही; वै—निश्चय ही; धनुः—धनुष; ते इषवः—वही तीर; सः—वही; रथः—रथ; हयाः ते—वे ही घोड़े; सः अहम्—मैं वही अर्जुन हूँ; रथी—रथारूढ़ वीर; नृपतयः—सारे राजा; यतः—जिनको; आनमन्ति—नमस्कार किया करते थे; सर्वम्—सब; क्षणेन—एक क्षण भर में; तत्—वे सब; अभूत्—हो गये; असत्—व्यर्थ; ईश—ईश्वर के कारण; रिक्तम्—रिक्त होने से; भस्मन्—राख; हुतम्—घी की आहुति; कुहक-राद्धम्—जादूगरी से उत्पन्न धन; इव—सदृश; उप्तम्—बोया हुआ; ऊष्याम्—बंजर भूमि में।

मेरे पास वही गाण्डीव धनुष है, वे ही तीर हैं, उन्हीं घोड़ों के द्वारा खींचा जानेवाला वही रथ है और उन्हें इस्तेमाल करनेवाला मैं वही अर्जुन हूँ, जिसके सामने सारे राजा सिर झुकाया करते थे। किन्तु भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति में वे सब एक ही क्षण में शून्य हो गये हैं। यह वैसा ही है जैसे राख में घी की आहूति डालना, जादू की छड़ी से धन एकत्र करना या बंजर भूमि में बीज बोना।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं कि किसी को उधार ली गई पगड़ी पर गर्व नहीं करना चाहिए। सारी शक्तियाँ तथा बल परम स्रोत भगवान् कृष्ण से प्राप्त होते हैं। वे सब तब तक कार्यशील रहते हैं, जब तक भगवान् की इच्छा रहती है। उनके न चाहने पर, वे सब समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह सारी विद्युत् शक्ति बिजलीघर से प्राप्त होती है और ज्योंही बिजलीघर विद्युत् ऊर्जा देना बन्द कर देता है कि सारे बल्ब बेकार हो जाते हैं। ऐसी शक्तियाँ भगवान् की इच्छा से क्षण भर में उत्पन्न की जा सकती हैं या वापस ली जा सकती हैं। भगवान् के आशीष के बिना आधुनिक सभ्यता मात्र बच्चों का खेल है। जब तक माता-पिता बच्चे को खेलने देते हैं, तब तक सब कुछ ठीक-ठाक रहता है, लेकिन ज्योंही माता-पिता अपनी अनुमति वापस ले लेते हैं, बच्चे को खेलना बन्द करना पड़ता है। मानवीय सभ्यता तथा इसके सारे कार्यकलापों को भगवान् के परम आशीष का अनुगमन करना चाहिए। इस आशीष के बिना मानवीय सभ्यता की सारी प्रगति किसी शव को सजाने जैसा ही है। यहाँ पर कहा गया है कि मृत सभ्यता तथा उसके कार्यकलाप राख में घी डालने के तुल्य, जादू की छड़ी से धन जुटाने के तुल्य या बंजर भूमि में बीज बोने के तुल्य हैं।

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥ २२॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।

अजानतामिवान्योन्यं चतु:पञ्चावशेषिता: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; त्वया—आपके द्वारा; अनुपृष्टानाम्—पूछे गये; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; नः—हमारे; सुहृत्-पुरे—द्वारका नगरी में; विप्र—ब्राह्मण के; शाप—शाप से; विमूढानाम्—मूर्खों का; निघ्नताम्—मारे हुओं का; मुष्टिभिः—लाठियों द्वारा; मिथः—परस्पर; वारुणीम्—खमीर उठे चावल को; मदिराम्—शराब को; पीत्वा—पीकर; मद-उन्मथित—नशे में आकर; चेतसाम्—मानसिक स्थिति का; अजानताम्—न जानते हुए; इव—सदृश; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; चतुः—चार; पञ्च—पाँच; अवशेषिताः—अब बचे हुए।

हे राजन्, चूँकि आपने द्वारका नगरी के हमारे मित्रों तथा सम्बन्धियों के विषय में पूछा है, अतएव मैं आपको सूचित कर रहा हूँ कि वे सब ब्राह्मणों द्वारा शापित होकर, सड़े हुए चावलों से बनी शराब पीकर उन्मत्त हो उठे और एक-दूसरे को न पहचानने के कारण लाठियाँ लेकर परस्पर लड़ने लगे। अब केवल चार-पाँच को छोड़कर शेष सभी मर चुके हैं।

प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथ: ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण एतत्—प्रायः यह; भगवतः—भगवान् की; ईश्वरस्य—ईश्वर की; विचेष्टितम्—इच्छा से; मिथः—परस्पर; निघ्नन्ति—मारते हैं; भूतानि—जीवों को; भावयन्ति—तथा पालते हैं; च—भी; यत्—जिसका; मिथः—परस्पर।

वास्तव में यह सब भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप है कि कभी-कभी लोग एक दूसरे को मार डालते हैं और कभी एक दूसरे की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार 'जीवन संघर्ष' तथा 'योग्यतम की दीर्घजीविता' प्राकृतिक नियम हैं। लेकिन वे यह नहीं जानते कि प्राकृतिक नियम के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परम निर्देशन है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है कि भगवान् के निर्देशन में ही प्रकृति का नियम सम्पन्न होता है। अतएव जब भी विश्व में शान्ति रहती है, तो इसे भगवान् की सदिच्छा समझा जाता है और जब विश्व में उत्पात मचता है, तब भी भगवान् की परम इच्छा रहती है। भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती। अतएव जब-जब भगवान् द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन होता है तब-तब मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच युद्ध होता है। अतएव शान्ति का निश्चित मार्ग यही है कि भगवान् के द्वारा स्थापित नियमों का पालन किया जाय। स्थापित नियम यह है कि हम जो भी करें, जो भी खायें, जो भी यज्ञ करें या जो भी दान दें, वह भगवान् की पूर्ण तुष्टि के निमित्त किया जाए। भगवान् की

इच्छा के विरुद्ध न तो कुछ किया जाय, न खाया जाय, न यज्ञ किया जाय और न दान दिया जाय। हमें विवेक से उन कार्यों में, जिनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं तथा वे कार्य जिनसे भगवान् रुष्ट होते हैं, अन्तर करना सीखना चाहिए। इसी तरह किसी कर्म का निर्णय भगवान् की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से किया जाता है। इसमें वैयक्तिक स्वेच्छाचारिताओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता; हमें सदैव भगवान् की इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। ऐसा कर्म *योग: कर्मसु कौशलम्* कहलाते हैं अर्थात् किए गए कर्म जो भगवान् से संबद्ध होते हैं। यही है किसी वस्तु को ठीक से सम्पन्न करने की कला।

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः ।
दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥ २५ ॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः ।
यदून्यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जलौकसाम्—जलचरों का; जले—जल में; यद्वत्—जिस तरह; महान्तः—बड़ा प्राणी; अदन्ति—निगल जाते हैं; अणीयसः—छोटा प्राणी; दुर्बलान्—दुर्बल को; बलिनः—बलवान; राजन्—हे राजन्; महान्तः—सबसे बलवान; बलिनः—कम बली; मिथः—द्वन्द्व में; एवम्—इस तरह; बलिष्ठैः—सर्वाधिक बलवान द्वारा; यदुभिः—यदुवंशियों द्वारा; महद्भिः—सर्वाधिक शक्तिशाली; इतरान्—सामान्य लोग; विभुः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; यदून्—सारे यदुवंशियों; यदुभिः—यदुओं द्वारा; अन्योन्यम्—परस्पर; भू-भारान्—धरती का भार; सञ्जहार—उतार दिया; ह—भूतकाल में।

हे राजन्, जिस तरह समुद्र में बड़े तथा बलशाली जलचर, छोटे-मोटे तथा निर्बल जलचरों को निगल जाते हैं, उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने भी धरती का भार हलका करने के लिए, निर्बल यदु को मारने के लिए बलशाली यदु को और छोटे यदु को मारने के लिए बड़े यदु को भिड़ा दिया है।

तात्पर्य : भौतिक जगत का नियम है—जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष एवं योग्यतम का बचे रहना—क्योंकि भौतिक जगत में बद्धजीवों के मध्य असमानता है, जो भौतिक साधनों पर प्रभुता जताने की इच्छा के कारण है। भौतिक प्रकृति पर प्रभुता जताने की यही प्रवृत्ति बद्ध जीवन का मूल कारण है। ऐसे बनावटी प्रभुओं की सुविधा के लिए ही भगवान् की भ्रामक शक्ति ने बद्धजीवों में प्रत्येक योनि के अन्तर्गत सबल तथा निर्बल की सृष्टि करके अन्तर उत्पन्न कर दिया है। भौतिक प्रकृति तथा सृष्टि पर प्रभुता जताने से ही असमानता की सृष्टि हुई और इसीसे जीवन-संघर्ष का नियम आया। आध्यात्मिक

जगत में न तो ऐसी असमानता होती है, न ऐसा जीवन-संघर्ष होता है। आध्यात्मिक जगत में जीवन-संघर्ष इसलिए नहीं रहता, क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है। वहाँ असमानता इसलिए नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की सेवा करना चाहता है और कोई भी खुद लाभ लेने के लिए भगवान् बनने की नकल नहीं करता। भगवान् हर वस्तु के, यहाँ तक कि जीवों के भी स्रष्टा होने के कारण प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं, लेकिन भौतिक जगत में माया के जादू से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ का यह नित्य सम्बन्ध भुला दिया जाता है। अतएव जीव 'जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम का बचे रहना' नियमों के द्वारा बद्ध हो जाता है।

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥ २७॥

शब्दार्थ

देश—अवकाश; काल—समय; अर्थ—महत्ता; युक्तानि—से युक्त; हृत्—हृदय; ताप—जलन; उपशमानि—बुझाना; च—तथा; हरन्ति—आकर्षित कर रहे हैं; स्मरतः—स्मरण करने से; चित्तम्—मन को; गोविन्द—हर्ष के परम पुरुष; अभिहितानि—के द्वारा कहा गया; मे—मुझको।

अब मैं भगवान् (गोविन्द) द्वारा मुझे दिये गये उपदेशों की ओर आकृष्ट हूँ, क्योंकि वे देश-काल की समस्त परिस्थितियों में हृदय की जलन को शान्त करनेवाले आदेशों से परिपूर्ण बनाए गये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन का संकेत *भगवद्गीता* के उपदेश की ओर है, जिसे भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर प्रदान किया था। भगवान् के द्वारा दिये गये *भगवद्गीता* के उपदेश न केवल अर्जुन के लाभ के लिए थे, अपितु समस्त देशों तथा समस्त काल के लिए हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा कही गयी *भगवद्गीता* समस्त वैदिक वाङ्मय का सार है। जिन लोगों के पास *उपनिषद्, पुराण* तथा *वेदान्त-सूत्र* सरीखे विशाल वैदिक ग्रंथों को पढ़ने के लिए समय नहीं है, उनके लिए स्वयं भगवान् ने यह ग्रंथ सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ महान् पौराणिक महाकाव्य *महाभारत* के अन्तर्गत आता है, जिसे विशेष रूप से कम बुद्धिमान श्रेणी के लोगों के लिए, यथा स्त्रियों, श्रमिकों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्चवर्गीय वैश्यों की अयोग्य सन्तानों के लिए तैयार किया गया था। अर्जुन के मन में कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में जो समस्या उठी थी, वह *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से हल हो गई थी। अब, जबकि भगवान्

पृथ्वी के लोगों की दृष्टि से ओझल हो चुके थे और अर्जुन अपने पराक्रम तथा प्राधान्य को खोने जा रहा था, तो उसने पुन: *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाओं का स्मरण करना चाहा, क्योंकि वह लोगों को शिक्षा देना चाह रहा था कि न केवल समस्त प्रकार के मानसिक क्लेशों में सान्त्वना दिलाने के लिए, अपितु संकट उपस्थित होने पर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से निकलने के लिए *भगवद्गीता* से निराकरण किया जा सकता है।

कृपासिन्धु भगवान् अपने पीछे *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाएँ इसीलिए छोड़ते गये, जिससे मनुष्य भगवान् के भौतिक दृष्टि से अदृश्य होने पर भी उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर सके। भौतिक इन्द्रियों से परमेश्वर का अनुमान कोई नहीं लगा सकता, लेकिन भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से पदार्थ के माध्यम से बद्धजीवों की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति किये जाने के लिए अवतार ले सकते हैं, क्योंकि पदार्थ भी भगवान् की प्रकट शक्ति का दूसरा रूप है। इस तरह *भगवद्गीता* या भगवान् की कोई भी प्रामाणिक शास्त्रीय शब्द-अभिव्यक्ति भी भगवान् का अवतार है। भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्ति में और स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। कोई भी मनुष्य *भगवद्गीता* से वही लाभ उठा सकता है, जो अर्जुन ने भगवान् की व्यक्तिगत उपस्थिति में उठाया था।

कोई भी श्रद्धालु मनुष्य जो भव-बन्धन से मुक्त होने का इच्छुक रहता है, वह *भगवद्गीता* से बहुत आसानी से लाभ उठा सकता है। इसी दृष्टि से भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया मानो उसे इसकी आवश्यकता थी। *भगवद्गीता* में पाँच महत्त्वपूर्ण ज्ञान की बातें खोज निकाली गई, हैं जिनका सम्बन्ध (१) परमेश्वर (२) जीव (३) प्रकृति (४) देश और काल तथा (५) कर्म-विधान से है। इनमें से परमेश्वर तथा जीव गुणात्मक रूप से एक हैं। दोनों का अन्तर पूर्ण तथा उसके अंश के अन्तर-जैसा है। प्रकृति जड़ पदार्थ है, जिसमें तीन विभिन्न गुणों की अन्त:क्रिया होती रहती है और शाश्वत समय तथा असीम अवकाश भौतिक प्रकृति के जगत के परे माने जाते हैं। जीव के कार्यकलाप विभिन्न प्रकार की मनोवृतियाँ हैं, जो जीव को प्रकृति के भीतर तथा बाहर जकड़ सकती हैं या मुक्त कर सकती हैं। इन सभी विषयों की संक्षिप्त व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है और इसके आगे प्रबुद्ध करने के लिए *श्रीमद्भागवत* में भी उनका विस्तार किया गया है। इन पाँच विषयों में से परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा देश-काल शाश्वत हैं, लेकिन इनमें से जीव, प्रकृति तथा काल परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं, जो स्वयं

परम तथा किसी अन्य नियंत्रण से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं। परमेश्वर परम नियन्ता हैं। जीव की भौतिक गतिविधि अनादि है, लेकिन इसे आध्यात्मिक गुण में स्थानान्तरित करके ठीक किया जा सकता है। इस तरह यह भौतिक गुणात्मक प्रतिक्रियाओं में नहीं रह जाती। भगवान् तथा जीव दोनों प्रबुद्ध हैं और उनकी पहचान जीवित शक्ति के रूप में होती है; लेकिन प्रकृति की अवस्था, जिसे *महत् तत्त्व* कहते हैं, उसके अन्तर्गत जीव अपनी गलत से पहचान करता है कि वह भगवान् से भिन्न है। वैदिक वाङ्मय की पूरी योजना ऐसी भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के निमित्त है और इस तरह जीव को भौतिक पहचान के भ्रम (मोह) से मुक्त करती है। जब यह भ्रम (मोह) ज्ञान तथा वैराग्य से समूल नष्ट हो जाता है, तो जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों का उत्तरदायित्व सँभालता है। भगवान् में भोग की भावना वास्तविक है, लेकिन जीव में ऐसी भावना मात्र मनचाही इच्छा है। भावना का यह अन्तर ही दो स्वरूपों का—भगवान् तथा जीव का—अन्तर है। अन्यथा भगवान् और जीव में कोई अन्तर नहीं होता। अत: जीव सदैव एकसाथ एक तथा भिन्न होता है। *भगवद्गीता* का सारा उपदेश एकमात्र इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

भगवद्गीता में भगवान् तथा जीव दोनों को सनातन कहा गया है और भगवान् का धाम, जो भौतिक आकाश से बहुत दूर है, उसे भी सनातन बताया गया है। जीव को भगवान् के सनातन जगत में रहने के लिए आमंत्रित किया जाता है और जहाँ आत्मा की मुक्त क्रियाशीलता प्रकट होती है, उस भगवान् के धाम में पहुँचने की विधि को सनातन धर्म कहा जाता है। किन्तु भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त हुए बिना कोई भगवद्-धाम नहीं पहुँच सकता। *भगवद्गीता* हमें सिद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करने के सूत्र उपलब्ध करती है। भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त होने की विधि अलग-अलग अवस्थाओं में सकाम कर्म से लेकर, अनुभवसिद्ध दर्शन, भक्तिमय सेवा तथा दिव्य अनुभूति कहलाती है। ऐसी दिव्य अनुभूति तभी सम्भव है, जब उपर्युक्त सारी बातें भगवान् के साथ जोड़ दी जाँय। वेदों द्वारा निर्दिष्ट मनुष्यों के कर्तव्य धीरे-धीरे बद्धजीव के पापी मन को धीरे-धीरे शुद्ध कर सकते हैं और उसे ज्ञान की अवस्था तक ले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की शुद्ध अवस्था भगवान् की भक्तिमय सेवा का आधार बनती है। जब तक मनुष्य जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ता रहता है, तब तक उसकी जानकारी ज्ञान या शुद्ध ज्ञान कहलाती है, किन्तु जीवन के वास्तविक हल की अनुभूति होने

पर, मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाता है। *भगवद्गीता* का शुभारम्भ जीवन की समस्याओं से होता है, जिसमें पदार्थ के तत्त्वों को आत्मा से अलग करके देखा जाता है और हर तर्क से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा सभी परिस्थितियों में अविनाशी है और पदार्थ का बाह्य आवरण, मन तथा शरीर परिवर्तित होकर फिर से इस संसार में आते हैं, जो दुखों से भरा हुआ होता है। अतएव *भगवद्गीता* विभिन्न प्रकार के कष्टों को समाप्त करने के लिए है और अर्जुन ने इस महान् ज्ञान का आश्रय लिया, जो उन्हें कुरुक्षेत्र के युद्ध में प्रदान किया जा चुका था।

सूत उवाच
एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; चिन्तयतः—उपदेशों का चिन्तन करते हुए; जिष्णोः—भगवान् के; कृष्ण-पाद—कृष्ण के चरण; सरोरुहम्—कमलों की तरह के; सौहार्देन—घनिष्ठ मित्रता से; अति-गाढेन—अत्यधिक घनिष्ठता में; शान्ता—शान्त; आसीत्—हो गया; विमला—किसी भौतिक कल्मष का रंच भी नहीं; मतिः—मन।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् के उपदेश, जो अत्यधिक घनिष्ठ मित्रता में प्रदान किये गये थे उसके विषय में सोचने में तथा उनके चरणकमलों का चिन्तन करने में तल्लीन अर्जुन का मन शान्त और समस्त भौतिक कल्मष से रहित हो गया।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनका गहन ध्यान यौगिक समाधि के समान ही है। भगवान् अपने नाम, रूप, गुण, लीलाओं, पार्षदों तथा विशिष्ट कर्मों से अभिन्न हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में उसे दिये गये उपदेशों का चिन्तन करने लगा। उन्हीं उपदेशों से अर्जुन के मन का भौतिक कल्मष नष्ट होने लगा। भगवान् सूर्य के समान हैं। सूर्योदय का अर्थ है अंधकार या अज्ञान का तत्काल दूर होना और भक्त के मन में भगवान् के प्राकट्य से तुरन्त ही कष्टप्रद भौतिक प्रभाव दूर हो जाते हैं। अतएव संसार के समस्त कल्मष से सुरक्षा के लिए भगवान् चैतन्य ने भगवान् के नाम का निरन्तर कीर्तन करने के लिए संस्तुति की है। निस्सन्देह, भक्त के लिए भगवान् का वियोग कष्टप्रद होता है। लेकिन इसका सम्बन्ध भगवान् से है, अतएव इसका विशेष दिव्य प्रभाव पड़ता है, जो

हृदय को शान्त बनाता है। वियोग की अनुभूति दिव्य आनन्द का स्रोत भी बनती है और इसकी तुलना कभी भी कलुषित भौतिक वियोग से नहीं की जा सकती।

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा ।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमल; अनुध्यान—निरन्तर स्मरण करने से; परिबृंहित—विस्तीर्ण; रंहसा—अत्यन्त वेग से; भक्त्या—भक्ति से; निर्मथित—शान्त हुआ; अशेष—असीम; कषाय—प्रहार; धिषणः—धारणा; अर्जुनः—अर्जुन।

अर्जुन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण किये जाने से उसकी भक्ति तेजी से बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप उसके विचारों का सारा मैल दूर हो गया।

तात्पर्य : मन की भौतिक इच्छाएँ भौतिक कल्मष के कूड़ा-करकट के समान हैं। ऐसे कल्मष से जीव को अनेक ग्राह्य तथा अग्राह्य वस्तुओं का सामना करना होता है, जो आध्यात्मिक स्वरूप के अस्तित्व को ही हतोत्साहित कर देती है। बद्धजीव जन्म-जन्मांतर तक अनेक रुचिकर तथा अरुचिकर तत्त्वों में फँसा रहता है, जो मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। वे हमारी भौतिक इच्छाओं की प्रतिक्रियास्वरूप एकत्र होते रहते हैं, किन्तु जब हम भक्तिमय सेवा के द्वारा दिव्य भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, तो सारी इच्छाओं के नग्न रूप प्रकट होते हैं और जीव की बुद्धि सही अर्थ में शान्त हो जाती है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेशों की ओर अपना ध्यान मोड़ा, त्योंही भगवान् के साथ नित्य संगति का असली रंग प्रकट हुआ और इस तरह उसे सारे भौतिक कल्मषों से मुक्ति का आभास हुआ।

गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् सङ्ग्राममूर्धनि ।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत् प्रभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गीतम्—उपदिष्ट; भगवता—भगवान् द्वारा; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; यत्—जो; तत्—वह; सङ्ग्राम-मूर्धनि—युद्ध के बीच में; काल-कर्म—समय तथा कर्म; तमः-रुद्धम्—ऐसे अंधकार से घिरा; पुनः अध्यगमत्—पुनः स्मरण हो आया; प्रभुः—अपनी इन्द्रियों का स्वामी।

भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों के कारण तथा उनकी अनुपस्थिति से ऐसा लगा कि अर्जुन भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को भूल गया हो। लेकिन, वास्तव में बात ऐसी न थी और वह पुनः अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन गया।

तात्पर्य : बद्धजीव शाश्वतकाल के प्रभाव से अपने सकाम कर्मों में लिपटा हुआ रहता है। किन्तु जब परमेश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे काल द्वारा—भूत, वर्तमान तथा भविष्य की भौतिक धारणा द्वारा—प्रभावित नहीं होते। भगवान् के कार्यकलाप शाश्वत हैं और वे उनकी *आत्म-माया* या अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। भगवान् की सारी लीलाएँ या कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं, किन्तु अबूझ लोगों को ये भौतिक कार्यकलापों जैसे दिखते हैं। ऐसा लगता है कि अर्जुन तथा भगवान् कृष्ण दूसरे पक्ष की ही तरह युद्ध में लगे थे, किन्तु वास्तव में भगवान् अपने अवतार के उद्देश्य को तथा अपने शाश्वत सखा अर्जुन की संगति को पूरा कर रहे थे। अतएव ऊपर से भौतिक लगनेवाले अर्जुन के ये कार्यकलाप उसे उसकी दिव्य स्थिति से दूर नहीं ले गये, अपितु इसके विपरीत उसे *भगवद्गीता* की उसकी चेतना का पुन:स्मरण दिलाया जैसे भगवान् ने उसे स्वयं सुनाया था। चेतना की इस पुन: जागृति का आश्वासन भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६५) में इस प्रकार दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

मनुष्य को चाहिए कि वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करे; मन से उन्हें भूले नहीं। मनुष्य को भगवद्भक्त बनकर उनको नमस्कार करना चाहिए। जो इस तरह रहता है, उसे भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त होने पर भगवान् का आशीष प्राप्त होता है। इस चिरन्तन सत्य के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। चूँकि अर्जुन उनका विश्वासपात्र तथा मित्र था, अतएव उससे यह रहस्य प्रकट किया गया।

अर्जुन को अपने सम्बन्धियों से युद्ध करने की कोई इच्छा नही थी, लेकिन उसने भगवान् के ध्येय के कारण युद्ध किया। वह सदा उनके ध्येय की ही पूर्ति में लगा रहा, अतएव भगवान् के प्रयाण के बाद वह उसी दिव्य स्थिति में रहा, यद्यपि ऐसा लग रहा था कि वह *भगवद्गीता* के सारे उपेदशों को भूल गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन के कार्यकलापों और भगवान् के ध्येय में

तालमेल पैदा करे। ऐसा करने से उसका भगवद्धाम लौटना निश्चित है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशोकः—शोक से रहित; ब्रह्म-सम्पत्त्या—आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी होने से; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटकर; द्वैत-संशयः—द्वैत के संशय से; लीन—संलग्न; प्रकृति—भौतिक प्रकृति; नैर्गुण्यात्—अध्यात्म में रहने से; अलिङ्गत्वात्—भौतिक शरीर से विहीन होने के कारण; असम्भवः—जन्म तथा मृत्यु से मुक्त।

आध्यात्मिक सम्पत्ति से युक्त होने के कारण उसके द्वैत के संशय पूर्ण रूप से छिन्न हो गये। इस तरह वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त होकर अध्यात्म में स्थित हो गया। अब जन्म तथा मृत्यु के पाश में उसके फँसने की कोई आशंका न थी, क्योंकि वह भौतिक रूप से मुक्त हो चुका था।

तात्पर्य : द्वैत के संशय देहात्म-बुद्धि की गलत धारणा से प्रारम्भ होते हैं, क्योंकि अल्पज्ञ लोग शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। हमारी अज्ञानता का सबसे मूर्खतापूर्ण अंश यह है कि हम इस भौतिक शरीर को ही आत्मा के रुप में पहचानने लगते हैं। अज्ञानवश, शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी निजी मान लिया जाता है। ''मैं और मेरा'' की भ्रान्तधारणा से उत्पन्न संशय—दूसरे शब्दों में, ''मेरा शरीर,'' ''मेरे सम्बन्धी,'' ''मेरी सम्पत्ति,'' ''मेरी पत्नी,'' ''मेरी सन्तान,'' ''मेरा धन,'' ''मेरा देश,'' ''मेरा समाज'' तथा इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों भ्रामक विचार बद्धजीव के लिए मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशों को आत्मसात् करने से मनुष्य निश्चित रूप से ऐसे मोह से छुटकारा पा सकता है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान यह जान लेना है कि भगवान् वासुदेव या भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं, जिसमें अपना आत्मा भी सम्मिलित है। प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अतएव पूर्ण ज्ञान के प्राप्त होते ही द्वैत का भाव समाप्त हो जाता है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण किया, जिसमें वह दक्ष था, त्योंही उसके शाश्वत-सखा भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में उसका भौतिक बोध मिट गया। उसे यह अनुभव हुआ कि भगवान् अपने उपदेश के द्वारा अपने रूप, लीलाओं, गुणों इत्यादि के द्वारा अब भी

उसके समक्ष उपस्थित हैं। वह अनुभव कर सका कि उसके मित्र भगवान् कृष्ण विभिन्न अद्वैत शक्तियों में अपनी दिव्य उपस्थिति के कारण अब भी उसके समक्ष उपस्थित थे और देश-काल के प्रभाव के अन्तर्गत शरीर के अन्य परिवर्तन के द्वारा भगवान् की संगति को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं था। परम ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य इसी जीवन में भी भगवान् की निरन्तर संगति में रह सकता है, यदि वह केवल परमेश्वर का श्रवण, कीर्तन, चिन्तन तथा पूजन करे। इसी जीवन में मनुष्य उन्हें देख सकता है, उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है यदि वह केवल भक्तियोग द्वारा, जो कि उनका श्रवण करने से प्रारम्भ होता है, *अद्वयज्ञान* भगवान् को जान ले। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि केवल भगवन्नाम-कीर्तन से ही शुद्ध चेतना के दर्पण की धूल को हटाया जा सकता है और इस धूल के हटते ही मनुष्य तत्काल समस्त भौतिक बन्धनों से छूट जाता है। भौतिक बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ है, आत्मा को मुक्त करना। अतएव ज्योंही मनुष्य परम ज्ञान में स्थित होता है, त्योंही उसकी देहात्मबुद्धि दूर हो जाती है या वह जीवन के मिथ्याबोध से उबर जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति में शुद्ध आत्मा का कार्य फिर से चालू हो जाता है। जीव की यह व्यावहारिक अनुभूति, प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों से उसके मुक्त होने पर सम्भव हो पाती है। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त तुरन्त भगवद्धाम को चला जाता है और भक्त की पुनः बद्ध जीवन में फँसने की कोई संभावना नहीं रह जाती। जब तक मनुष्य में प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा नियत की गई भक्तिमय सेवा के द्वारा आवश्यक आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उसे भगवान् की उपस्थिति का अनुभव नहीं हो पाता। अर्जुन को यह अवस्था कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में बहुत ही पहले प्राप्त हो चुकी थी, अतएव ज्योंही उसे भगवान् की अनुपस्थिति का अनुभव हुआ कि तुरन्त ही उसने *भगवद्गीता* के उपदेशों का आश्रय लिया की और इस तरह वह अपनी मूल स्थिति को फिर से प्राप्त हो सका। यह *विशोक* की अवस्था अर्थात् समस्त शोक तथा चिन्ता से मुक्त होने की अवस्था है।

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—कहकर; भगवत्—भगवान् के विषय में; मार्गम्—भगवान् के प्रकट तथा अप्रकट होने के रास्ते; संस्थाम्—अन्त; यदु-कुलस्य—राजा यदु के वंश का; च—भी; स्वः—भगवान् का धाम; पथाय—रास्ते में; मतिम्—इच्छा; चक्रे—ध्यान दिया; निभृत-आत्मा—अकेले, एकान्त; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने।

भगवान् कृष्ण के स्वधाम गमन को सुनकर तथा यदुवंश के पृथ्वी के अस्तित्व का अन्त समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस संसार के लोगों की दृष्टि से भगवान् के दूर चले जाने की खबर सुनकर, महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना ध्यान *भगवद्गीता* के उपदेशों की ओर मोड़ा। वे भगवान् के प्राकट्य तथा प्रयाण की विधि के विषय में सोचने लगे। इस मर्त्य ब्रह्माण्ड में भगवान् के प्रकट होने तथा उनके अन्तर्धान होने का उद्देश्य पूर्ण रूप से भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है। वे किसी उच्चतर शक्ति द्वारा प्रकट या अप्रकट होने केक लिए बाध्य नहीं हैं, जिस प्रकार जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा प्रकट या अप्रकट होने के लिए बाध्य होते हैं। जब भी भगवान् चाहते हैं, वे कहीं भी और सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं। इससे किसी अन्य स्थान पर उनके प्राकट्य तथा तिरोधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सूर्य के समान हैं। सूर्य स्वेच्छा से किसी स्थान पर उदय और अस्त होता है, किन्तु इससे अन्य स्थानों पर उसकी उपस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य पश्चिम गोलार्ध में अस्त हुए बिना भारत में प्रात:काल उदय होता है। सूर्य पूरे सौर मण्डल में सर्वत्र उपस्थित रहता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक स्थान में सूर्य निश्चित समय पर प्रात: उदय होता है और शाम को निश्चित समय पर अस्त होता है। जब सूर्य के लिए समय की सीमा कोई अर्थ नहीं रखती, तो फिर परमेश्वर के विषय में क्या कहा जाय, जो सूर्य के भी स्रष्टा तथा नियामक हैं। अतएव *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान को वास्तव में समझ लेता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है और चिन्म्य आकाश में स्थित हो जाता है, जहाँ पर वैकुण्ठ के ग्रह हैं। वहाँ पर ऐसे मुक्त व्यक्ति जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के भय से रहित होकर शाश्वत रूप से रह सकते हैं। आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तथा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा में निरन्तर लगे रहनेवाले सारे लोग सदैव तरुण बने रहते हैं, क्योंकि वहाँ न बुढ़ापा है, न रोग और न मृत्यु। चूँकि वहाँ मृत्यु नहीं होती, अतएव वहाँ जन्म भी नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एकमात्र भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान को समझ लेने पर मनुष्य जीवन की सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सकता है। अतएव

महाराज युधिष्ठिर भी भगवद्धाम वापस जाने के विषय में सोचने लगे। भगवान् पृथ्वी पर या अन्य किसी लोक में अपने पार्षदों के साथ प्रकट होते हैं, जो उनके साथ नित्य निवास करते हैं और यदुवंश के सारे सदस्य जो भगवान् की लीलाओं में सहायक बने रहे, उनके पार्षद ही थे। उसी तरह महाराज युधिष्ठिर, उनके भाई तथा उनकी माता इत्यादि भी उनके नित्य पार्षद ही थे। चूँकि भगवान् तथा उनके पार्षदों का प्राकट्य तथा तिरोधान दिव्य होता है, अतएव प्राकट्य तथा तिरोधान के बाह्य लक्षणों से किसी को मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए।

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती ने; अपि—भी; अनुश्रुत्य—सुनकर; धनञ्जय—अर्जुन द्वारा; उदितम्—कथित; नाशम्—अन्त; यदूनाम्—यदुवंश का; भगवत्—भगवान् का; गतिम्—तिरोधान; च—भी; ताम्—उन सबको; एक-अन्त—अनन्य; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अधोक्षजे—अध्यात्म में; निवेशित-आत्मा—पूर्ण मनोयोग से; उपरराम—मुक्त हो गयी; संसृतेः—भौतिक अस्तित्व से।

अर्जुन द्वारा यदुवंश के नाश तथा भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की बात सुनकर, कुन्ती ने पूर्ण मनोयोग से दिव्य भगवान् की भक्ति में अपने को लगा दिया और इस तरह संसार के आवागमन से मोक्ष प्राप्त किया।

तात्पर्य : सूर्य के अस्त होने का यह अर्थ नहीं होता कि सूर्य का अन्त हो गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इसी प्रकार किसी विशेष लोक या ब्रह्माण्ड में भगवान् के कार्य के अन्त का अर्थ केवल इतना ही होता है कि वे हमारी दृष्टि से ओझल हो गये हैं। युदवंश के अन्त का यह भी अर्थ नहीं है कि उसका विनाश हो गया। वह भगवान् के साथ हमारी दृष्टि से अप्रकट हो जाता है। जिस तरह महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय कर लिया, उसी तरह कुन्ती ने भी किया। अतएव वे भगवान् की दिव्य भक्ति में लग गईं, जिसमें वर्तमान भौतिक इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश-पत्र निश्चित हो सके। भगवान् की भक्ति का शुभारम्भ इस देह के आध्यात्मिकीकरण की शुरुआत है और इस तरह भगवान् के अनन्य भक्त का इस देह से सारा

भौतिक सम्पर्क छूट जाता है। भगवद्धाम कोई कपोल-कल्पना नहीं है, जैसाकि नास्तिक या अज्ञानी लोग सोचते हैं। लेकिन वहाँ तक स्पुतनिक या अन्तरिक्ष-यान जैसे किसी भौतिक साधन द्वारा पहुँचा नहीं जा सकता। लेकिन इस शरीर को त्यागने के बाद अवश्य ही वहाँ पहुँचा जा सकता है और मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय सेवा के अभ्यास से वह भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करे। यह भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश पत्र का कार्य करती है और कुन्ती ने यही किया।

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः ।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; अहरत्—छीन लिया; भुवः—संसार का; भारम्—भार, बोझा; ताम्—उस; तनुम्—शरीर को; विजहौ—त्याग दिया; अजः—अजन्मा ने; कण्टकम्—काँटे को; कण्टकेन—काँटे से; इव—सदृश; द्वयम्—दोनों; च—भी; अपि—यद्यपि; ईशितुः—नियंत्रण करते हुए; समम्—समान।

सर्वोपरि अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश के सदस्यों से अपना-अपना शरीर त्याग करवा दिया और इस तरह उन्होंने पृथ्वी के भार को उतारा। यह कार्य काँटे को काँटे से निकालने जैसा था, यद्यपि नियन्ता के लिए दोनों एक से हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बताते हैं कि शौनक तथा अन्य ऋषि जो नैमिषारण्य में सूत गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुन रहे थे, यदुओं के इस प्रकार मदोन्मत्त होकर मरने की बात सुनकर प्रसन्न नहीं थे। अतएव उनकी मनोव्यथा को दूर करने के लिए सूत गोस्वामी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि भगवान् ने यदुवंश के सदस्यों से अपना शरीर त्याग करवा दिया, जिससे वे संसार के भार को हल्का कर सकें। भगवान् तथा उनके नित्य संगी इस धरा पर पृथ्वी का भार उतारने में प्रशासनिक देवताओं की सहायता करने के लिए प्रकट हुए थे। अतएव उन्होंने अपने कतिपय विश्वासपात्र देवताओं को यदुवंश में प्रकट होने और उन्हें अपने महान् उद्देश्य में सेवा करने के लिए बुलाया था। उद्देश्य पूरा हो जाने पर भगवान् की इच्छा से देवताओं ने मदोन्मत्त होकर परस्पर लड़भिड़ कर अपने भौतिक शरीर त्याग दिये। देवता *सोमरस* पीने के अभ्यस्त हैं, अतएव शराब तथा मादक द्रव्यों का सेवन उनसे अछूता नहीं है। कभी-कभी उन्हें उन्मत्तता के कारण कष्ट उठाने पड़े थे। एक बार मदोन्मत्त होने के कारण कुबेर के पुत्र नारद के शाप-भाजन बने, लेकिन बाद में भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से उन्हें असली रूप

प्राप्त हो सका। यह कथा दशम स्कंध में मिलेगी। परमेश्वर के लिए असुर तथा देवता (सुर) दोनों समान हैं, लेकिन देवता भगवान् के आज्ञाकारी हैं, किन्तु असुर नहीं हैं। अतएव काँटे से काँटा निकालने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। एक काँटा जो भगवान् के पाँव में चुभता है, वह निश्चय ही उन्हें कष्टदायक है और दूसरा काँटा जो पीड़ादायक तत्त्वों को निकालता है, निश्चय ही भगवान् की सेवा करता है। यद्यपि प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, फिर भी जो भगवान् को चुभता है, वह असुर है और जो स्वेच्छा से सेवक है, वह देवता कहलाता है। भौतिक जगत में देवता तथा असुर सदा ही लड़ते रहते हैं और देवता सदा ही भगवान् द्वारा असुरों के हाथों से बचाये जाते हैं। ये दोनों ही भगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। यह संसार दो प्रकार के जीवों से भरा हुआ है और भगवान् का उद्देश्य सदैव देवताओं की रक्षा करना तथा जब भी संसार में आवश्यकता होती है तब असुरों का विनाश करना है। इस तरह दोनों का कल्याण होता है।

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः ।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; मत्स्य-आदि—मत्स्य अवतार इत्यादि.; रूपाणि—स्वरूप; धत्ते—स्वीकार करते हैं; जह्यात्—ऊपर से छोड़ देते हैं; यथा—जिस तरह; नटः—नट, जादूगर; भू-भारः—संसार का भार; क्षपितः—उद्धार; येन—जिससे; जहौ—जाने दिया; तत्—उस; च—भी; कलेवरम्—शरीर को।.

परमेश्वर ने जिस शरीर को पृथ्वी का भार कम करने के लिए प्रकट किया था, उसे उन्होंने छोड़ दिया। वे एक जादूगर के समान विभिन्न शरीरों को, यथा मत्स्य अवतार तथा अन्य अवतारों में धारण करने के लिए एक शरीर को छोड़ते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न तो निर्विशेष हैं, न निराकार, किन्तु उनका शरीर उनसे अभिन्न है। अतएव वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के स्वरूप जाने जाते हैं। *बृहद् वैष्णव तंत्र* में स्पष्ट उल्लेख है कि जो कोई भगवान् कृष्ण के स्वरूप को भौतिक शक्ति से बना मानता है, उसे समाज से सभी प्रकार से अलग कर दिया जाना चाहिए और यदि संयोगवश कोई ऐसे अविश्वासी का मुँह देख ले, तो उसे वस्त्र-समेत नदी में कूद कर अपने को स्वच्छ करना चाहिए। भगवान् को *अमृत* या मृत्युरहित कहा जाता है, क्योंकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में भगवान् का मरना या

शरीर त्याग करना एक जादूगर की जादूगरी जैसा है। जादूगर अपनी कलाबाजियों से दिखाता है कि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, वह जलकर राख हो गया है या सम्मोहन द्वारा बेहोश हो गया, लेकिन ये सब झूठे प्रदर्शन मात्र होते हैं। वास्तव में जादूगर का शरीर न तो खंड-खंड होता है, न जलकर राख होता है, न वह मृत होता है, न जादू प्रदर्शन की किसी भी अवस्था के समय वह बेहोश रहता है। इसी प्रकार भगवान् के भी अनन्त शाश्वत रूप हैं, जिनमें इस ब्रह्माण्ड में प्रदर्शित मत्स्य अवतार भी एक है। चूँकि ब्रह्माण्ड अनन्त हैं अतएव यह मत्स्य अवतार किसी न किसी ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ प्रदर्शित कर रहा होगा। इस श्लोक में विशिष्ट शब्द *धत्ते* प्रयुक्त है (जिसका अर्थ ''शाश्वत रूप से स्वीकृत'' है *धित्वा* ''विशेष अवसर के लिए स्वीकृत'' शब्द ठीक नहीं है)। भाव यह है कि भगवान् मत्स्य अवतार की सृष्टि नहीं करते, उनका यह रूप शाश्वत होता है और ऐसे अवतार के प्राकट्य से तथा अन्तर्धान होने से विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि होती है। *भगवद्गीता* (७.२४-२५) में भगवान् कहते हैं, ''निर्विशेषवादी सोचते हैं कि मेरा कोई स्वरूप नहीं होता, मैं निराकार हूँ, लेकिन, चूँकि इस समय मैंने एक प्रयोजन पूरा करने के लिए स्वरूप स्वीकार किया है, अतएव मैं प्रकट हूँ। लेकिन ऐसे चिन्तक वास्तव में बुद्धिहीन होते हैं। भले ही वे वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान हों, लेकिन वे मेरी अचिन्त्य शक्तियों एवं मेरे शाश्वत स्वरूपों के प्रति एक तरह अनजान रहते हैं। इसका कारण यह है कि मैं अपने योग-आवरण से अभक्तों के समक्ष स्वयं को प्रकट न करने का अधिकार बनाए रखता हूँ। अतएव अल्पज्ञानी मूर्ख मेरे शाश्वत रूप से अनजान रहते हैं, जो कभी भी नष्ट नहीं होता और अजन्मा है।'' *पद्मपुराण* में यह कहा गया है कि जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं और सदैव उन पर क्रुद्ध रहते हैं, वे भगवान् के वास्तविक तथा शाश्वत रूप को जानने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। *भागवत्* में भी कहा गया है कि मल्लों के समक्ष भगवान् वज्र के समान प्रकट हुए। जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया, तो वह ब्रह्मज्योति की चकाचौंध से उन्हें कृष्ण के रूप में नहीं देख पाया। अत: कंस द्वारा नियुक्त मल्लों के समक्ष वज्र के रूप में भगवान् का क्षणिक प्राकट्य अथवा शिशुपाल के समक्ष भगवान् का जाज्वल्यमान स्वरूप भगवान् ने त्याग दिया, लेकिन जादूगर के रूप में भगवान् शाश्वत रूप से विद्यमान हैं और किसी दशा में नष्ट नहीं होते। ऐसे रूप असुरों के समक्ष ही कुछ समय के लिए प्रदर्शित किये जाते हैं, किन्तु जब भगवान् ऐसे प्रदर्शन को बन्द कर देते हैं, तो असुर लोग

सोचते हैं कि अब ईश्वर नहीं हैं, जिस प्रकार मूर्ख दर्शकगण सोचते हैं कि जादूगर जल गया या खण्ड-खण्ड हो गया। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव वे न कभी मारे जाते हैं और न कभी अपना दिव्य शरीर बदलते हैं।

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मभद्रहेतुः कलिरन्ववर्तत ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मुकुन्दः—कृष्ण ने; भगवान्—भगवान्; इमाम्—इस; महीम्—पृथ्वी को; जहौ—छोड़ा; स्व-तन्वा—अपने उसी शरीर के साथ; श्रवणीय-सत्-कथः—उनके विषय में श्रवण करने योग्य है; तदा—उस समय; अहः एव—उसी दिन से; अप्रति-बुद्ध-चेतसाम्—जिनके मन पर्याप्त विकसित नहीं हैं उनके; अभद्र-हेतुः—सारे दुर्भाग्य का कारण; कलिः अन्ववर्तत—कलि पूर्ण रूप से प्रकट हुआ।.

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने उसी रूप के साथ इस पृथ्वीलोक को छोड़ दिया, उसी दिन से कलि, जो पहले ही अंशतः प्रकट हो चुका था, अल्पज्ञों के लिए अशुभ परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए पूरी तरह प्रकट हो गया।

तात्पर्य : जो लोग पूर्ण रूप से ईश्वर-भावनाभावित नहीं है, उन्हीं पर कलि का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने आप को भगवान् की देख-रेख में रखकर कलियुग के प्रभावों को निरस्त कर सकता है। कलियुग का पदार्पण कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद ही हो गया था, किन्तु भगवान् की उपस्थिति के कारण यह अपना प्रभाव न दिखा सका। लेकिन जब भगवान् अपने ही दिव्य शरीर को साथ लेकर इस धरालोक को छोड़ गये, तो उनके जाते ही कलियुग के लक्षण उसी तरह प्रकट होने लगे, जिस रूप में द्वारका से अर्जुन के आगमन से पूर्व महाराज युधिष्ठिर को दृष्टिगोचर हो रहे थे और महाराज युधिष्ठिर ने ठीक ही इस धरा से भगवान् के प्रयाण की कल्पना कर ली। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् हमारी आँखों से उसी तरह ओझल हो गये, जिस तरह सूर्य अस्त होने पर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि ।

विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; तत्—उस; परिसर्पणम्—विस्तार को; बुधः—पूर्ण अनुभवी; पुरे—राजधानी में; च—भी; राष्ट्रे—राज्य में; च—तथा; गृहे—घर में; तथा—और; आत्मनि—अपने में; विभाव्य—देखकर; लोभ—लालच; अनृत—झूठ; जिह्म—कुटिल नीति; हिंसन-आदि—हिंसा, ईर्ष्या; अधर्म—अधर्म; चक्रम्—छल; गमनाय—प्रस्थान के लिए; पर्यधात्—तदनुसार वस्त्र धारण किये।.

महाराज युधिष्ठिर पर्याप्त बुद्धिमान थे कि वे कलियुग के प्रभाव को समझ गये, जिसके विशेष लक्षण होते हैं—बढ़ता लालच, असत्य भाषण, धोखा देना तथा सारी राजधानी, राज्य, घर तथा समस्त व्यक्तियों में हिंसा का आधिक्य इत्यादि। अतएव उन्होंने घर छोड़ने की तैयारी की और तदनुकूल वस्त्र धारण कर लिये।

तात्पर्य : आधुनिक युग कलि के विशिष्ट गुणों से प्रभावित है। कुरुक्षेत्र युद्ध के दिनों से, जिसे लगभग पाँच हजार वर्ष हुए हैं, कलियुग का प्रभाव प्रकट होने लगा है और प्रामाणिक शास्त्रों से पता चलता है कि अभी कलियुग ४,२७,००० वर्ष और चलता रहेगा। कलियुग के जिन लक्षणों का उल्लेख ऊपर किया गया है अर्थात् लोभ, असत्य, छल, भाई-भतीजावाद, हिंसा इत्यादि, उनका पहले से ही बोलबाला है और यह कोई नहीं जानता कि ज्यों-ज्यों कलि का प्रभाव बढ़ेगा, प्रलय होने तक क्या-क्या न हो ले। हम यह पहले ही जान चुके हैं कि कलियुग के प्रभाव ईश्वर-विहीन तथाकथित सभ्य मनुष्य के लिए हैं। जो लोग भगवान् के आश्रय में हैं, उन्हें इस भयावह युग से डरने की कोई बात नहीं है। महाराज युधिष्ठिर भगवान् के महान् भक्त थे, अतएव उन्हें कलियुग से भयभीत होने की आवश्यकता न थी, किन्तु उन्होंने सक्रिय गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयारी करना उचित समझा। चूँकि पाण्डव भगवान् के सनातन संगी हैं, अतएव वे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा भगवान् की संगति के लिए अधिक बेचैन रहते थे। इसके साथ ही, आदर्श राजा होने के नाते महाराज युधिष्ठिर अन्यों के लिए आदर्श स्थापित करने के लिए भी विरत होना चाहते थे। ज्योंही गृहस्थी के कार्यों को देखनेवाला कोई नवयुवक तैयार हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि वह आध्यात्मिक साक्षात्कार तक ऊपर उठने के लिए तुरन्त गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। उसे गृहस्थी के अंधकूप में तब तक सड़ते नहीं रहना चाहिए, जब तक यमराज आकर उसे बाहर न खींच निकाले।

आधुनिक राजनेताओं को महाराज युधिष्ठिर से स्वेच्छिक वैराग्य लेने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और नई पीढ़ी को अवसर प्रदान करना चाहिए। यही नहीं, सेवा-निवृत्त (रिटायर्ड) वृद्धों को भी उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और इसके पूर्व कि वे मृत्यु के लिए बलपूर्वक घसीटे जाँय, उन्हें आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए घर छोड़ देना चाहिए।

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

स्व-राट्—सम्राट; पौत्रम्—पौत्र को; विनयिनम्—भली-भाँति प्रशिक्षित; आत्मनः—अपना; सु-समम्—सभी प्रकार से समान; गुणैः—गुणों से; तोय-नीव्याः—समुद्रों से घिरा; पतिम्—स्वामी को; भूमेः—भूमि के; अभ्यषिञ्चत्—सिंहासन पर बिठाया; गजाह्वये—हस्तिनापुर की राजधानी में।

तत्पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुर की राजधानी में, उन्होंने अपने पौत्र को सिंहासनारूढ़ किया, जो समुद्र से घिरी सारी भूमि के स्वामी तथा सम्राट के रूप में प्रशिक्षित था और उन्हीं के समान सुयोग्य था।

तात्पर्य : समुद्रों से घिरी हुई सारी भूमि हस्तिनापुर के राजा के अधीन थी। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र महाराज परीक्षित को, जो उन्हीं के समान सुयोग्य था, नागरिक के प्रति राजा के कर्तव्य को ध्यान में रखकर राज्य-प्रशासन में प्रशिक्षित किया। इस तरह महाराज युधिष्ठिर के भगवद्धाम जाने के पूर्व, परीक्षित उनके स्थान पर सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। यहाँ पर महाराज परीक्षित के प्रसंग में *विनयिनम्* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो महत्त्वपूर्ण है। कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक, हस्तिनापुर का राजा पूरे संसार का सम्राट क्यों माना जाता था? इसका कारण यही था कि सम्राट के अच्छे शासन के कारण संसार के लोग सुखी थे। नागरिकों के सुख का कारण प्रचुर प्राकृतिक उपज थी—जैसे अन्न, फल, दुग्ध, औषधियाँ, रत्न, खनिज तथा जनता की आवश्यकता की सारी वस्तुएँ। वे शारीरिक व्याधियों, मन की चिन्ताओं तथा प्राकृतिक उत्पातों एवं अन्य जीवों द्वारा दी जाने वाली सारी आपदाओं से मुक्त थे। चूँकि सभी लोग सभी तरह से सुखी थे, अतएव कहीं कोई असन्तोष न था, यद्यपि राजनैतिक कारणों तथा श्रेष्ठता-प्रदर्शन के लिए विभिन्न प्रान्त के राजाओं में कभी-कभी युद्ध हुआ करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता

था, अतएव लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़ते न थे। किन्तु धीरे-धीरे कलियुग का दुष्प्रभाव राजा तथा प्रजा दोनों के सद्‌गुणों में प्रविष्ट हो गया, अतएव शासक तथा शासित के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी। किन्तु शासक तथा शासित के मध्य विषमता के इस युग में भी आध्यात्मिक विकास तथा ईश्वर-चेतना सम्भव है। यही एक विशेष अधिकार उपलब्ध है।

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मथुरायाम्—मथुरा में; तथा—भी; वज्रम्—वज्र को; शूरसेन-पतिम्—शूरसेन का राजा; ततः—तत्पश्चात्; प्राजापत्याम्—प्रजापति यज्ञ; निरूप्य—सम्पन्न करके; इष्टिम्—लक्ष्य; अग्नीन्—अग्नि को; अपिबत्—अपने में स्थापित किया; ईश्वरः—समर्थ।

तब उन्होंने अनिरुद्ध (भगवान् कृष्ण के पौत्र) के पुत्र वज्र को मथुरा में शूरसेन का राजा बना दिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने प्राजापत्य यज्ञ किया और गृहस्थ जीवन त्यागने के लिए अपने भीतर अग्नि प्रतिष्ठित की।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने महाराज परीक्षित को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठाकर तथा भगवान् कृष्ण के प्रपौत्र वज्र को मथुरा का राजा बनाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। वर्णाश्रम धर्म, गुण और कार्य की दृष्टि से वास्तविक मानव-जीवन का शुभारम्भ है और महाराज युधिष्ठिर तो इस वर्णाश्रम धर्म के रक्षक थे, अतएव उन्होंने शासन का भार प्रशिक्षित राजकुमार, महाराज परीक्षित को सौंप दिया और स्वयं संन्यासी बन गये। वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक पद्धति मानव जीवन को चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आश्रमों में विभाजित करती है। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी। सभी को इन चारों का पालन करना आवश्यक है, चाहे उसका वृत्तिपरक-विभाग कुछ भी हो। आधुनिक राजनेता सक्रिय जीवन से विरत नहीं होना चाहते, भले ही वे कितने ही बूढ़े क्यों न हो जाँय, लेकिन महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे, अतएव वे स्वेच्छा से प्रशासनिक जीवन से विरत हो गये, जिससे वे अगले जीवन की तैयारी कर सकें। हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने जीवन की ऐसी व्यवस्था करे कि जीवन की अन्तिम व्यवस्था के कम से कम अन्तिम पन्द्रह-बीस वर्ष पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगाये जा सकें, जिससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके। यह

सचमुच नादानी है कि जीवन का सारा समय भौतिक भोग तथा सकाम कर्मों में लगाया जाय, क्योंकि जब तक मन भौतिक भोग के लिए सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक बद्धजीवन या भवबन्धन से बाहर निकलने की कोई गुंजाईश नहीं रहती। किसी भी व्यक्ति को जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के परम कार्य की, अर्थात् भगवद्धाम जाने की, उपेक्षा करने की आत्मघाती नीति नहीं अपनानी चाहिए।

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम् ।
निर्ममो निरहङ्कार: सञ्छिन्नाशेषबन्धन: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; तत्र—वे सब; तत्—यह; सर्वम्—सब कुछ; दुकूल—पेटी; वलय-आदिकम्—कंगन आदि; निर्ममः—उदास; निरहङ्कारः—अनासक्त; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटा हुआ; अशेष-बन्धनः—असीम लगाव।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे वस्त्र, कमर-पेटी तथा राजसी आभूषण तुरन्त त्याग दिये और वे पूर्ण रूप से उदासीन तथा प्रत्येक वस्तु से विरक्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् का पार्षद बनने के लिए यह आवश्यक है कि भौतिक कल्मष से शुद्ध हो लिया जाय। ऐसी शुद्धि के बिना कोई न तो भगवान् का पार्षद बन सकता है, न भगवद्-धाम वापस जा सकता है। अतएव, आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध होने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने राजसी वेश-भूषा तथा वस्त्रों का त्याग कर राजसी ऐश्वर्य त्याग दिया। संन्यासी का *कषाय* या केसरिया कौपीन बताता है कि उसे आकर्षक वस्त्रों से मुक्ति मिल चुकी है, अतएव उन्होंने अपनी वेशभूषा बदल ली। वे अपने राज्य तथा परिवार के प्रति उदासीन हो गये और समस्त भौतिक कल्मष या भौतिक उपाधि से मुक्त हो गये। लोग सामान्यतया विविध उपाधियों से जुड़े होते हैं जैसे परिवार, समाज, देश, वृत्ति, धन, पद, इत्यादि। जब तक मनुष्य ऐसी उपाधियों से जुड़ा रहता है, तब तक वह भौतिक दृष्टि से अशुद्ध माना जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित नेता राष्ट्रीय चेतना से जुड़े रहते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि ऐसी मिथ्या चेतना बद्धजीव की दूसरी उपाधि है। भगवद्-धाम जाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी उपाधियों का परित्याग कर दिया जाय। वे लोग मूर्ख हैं, जो राष्ट्रीय चेतना में मरनेवालों की पूजा करते हैं, लेकिन यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण है, जिन्होंने राजा होते हुए भी ऐसी राष्ट्रीय चेतना से रहित होकर इस संसार से जाने के लिए तैयारी की। फिर भी लोग उन्हें आज तक याद करते हैं,

क्योंकि वे एक महान् पवित्र राजा थे और लगभग भगवान् श्रीराम के ही समान स्तर पर थे। चूँकि संसार में ऐसे पुण्यात्मा राजाओं का प्राधान्य था, अतएव वे सभी तरह से सुखी थे और ऐसे महान् सम्राटों के लिए विश्व पर शासन चलाना सम्भव हो पाया।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी को; जुहाव—त्याग दिया; मनसि—मन में; तत् प्राणे—मन को श्वास लेने में; इतरे च—अन्य इन्द्रियों को भी; तम्—उसमें; मृत्यौ—मृत्यु में; अपानम्—श्वास; स-उत्सर्गम्—पूर्ण समर्पण को; तम्—उस; पञ्चत्वे—पाँच तत्त्वों से बने शरीर में; हि—निश्चय ही; अजोहवीत्—समाहित कर दिया।

तब उन्होंने अपनी सारी इन्द्रियों को मन में, मन को जीवन में, जीवन को प्राण में, अपने पूर्ण अस्तित्व को पाँच तत्त्वों के शरीर में तथा अपने शरीर को मृत्यु में समाहित कर दिया। तत्पश्चात् शुद्ध आत्मा के रूप में वे देहात्म-बुद्धि से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर भी अपने भाई अर्जुन की तरह एकाग्रचित्त होकर क्रमशः सारे भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये। सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्रियों के समस्त कर्मों को एकाग्र किया और उन्हें मन में समाहित कर दिया, अथवा दूसरे शब्दों में, उन्होंने मन को भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मोड़ा। उन्होंने प्रार्थना की कि चूँकि सारे भौतिक कार्यकलाप मन द्वारा इन्द्रियों के कर्मों तथा फलों के रूप में सम्पन्न होते हैं और चूँकि वे भगवद्-धाम जा रहे थे, अतएव मन को अपने भौतिक कार्यकलापों को समेट लेना चाहिए और भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मुड़ना चाहिए। तब भौतिक कार्यकलापों की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वस्तुतः मन के कार्यकलापों को रोका नहीं जा सकता, क्योंकि वे सनातन आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं, किन्तु कार्यकलापों के गुण को पदार्थ से भगवान् की दिव्य सेवा में बदला जा सकता है। जब मन के मैल को प्राण वायु द्वारा स्वच्छ कर लिया जाता है, तो उसका भौतिक रंग बदल जाता है और वह जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो जाता है और शुद्ध आध्यात्मिक जीवन में स्थित हो जाता है। भौतिक देह के क्षणिक रुप से धारण होने पर सब कुछ प्रकट होता है और यह शरीर मृत्यु के समय की मन की उपज है, अतएव यदि मन को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है और उसे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में प्रवृत्त रखा जाता है, तो मृत्यु

के बाद मन द्वारा अन्य भौतिक शरीर को उत्पन्न कर पाने की सम्भावना ही नहीं रहेगी। तब यह भौतिक कल्मष में डूबे रहने से मुक्त हो जायेगा और शुद्ध आत्मा भगवद्-धाम को लौट जायेगा।

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्रित्वे—तीनों गुणों में; हुत्वा—आहुति करके; च—भी; पञ्चत्वम्—पाँच तत्त्व; तत्—वह; च—भी; एकत्वे—एक अविद्या में; अजुहोत्—लीन हो गया; मुनिः—विचारवान; सर्वम्—कुल मिलाकर; आत्मनि—आत्मा में; अजुहवीत्—स्थिर; ब्रह्मणि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; अव्यये—कभी न समाप्त होने वाले।

इस प्रकार उन्होंने पंचतत्त्वमय स्थूल शरीर को विनष्ट करके, प्रकृति के तीन गुणों में मिलाकर उसे अज्ञानता में मिला दिया और तब उस अज्ञानता को आत्मा या ब्रह्म में विलीन कर दिया, जो सर्वदा अक्षय है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में जो कुछ व्यक्त है, वह *महत् तत्त्व अव्यक्त* का प्रतिफल है और हमें जितनी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ऐसे विविध भौतिक पदार्थों के विविध संयोग हैं। लेकिन जीव ऐसे भौतिक पदार्थों से भिन्न होता है। यह तो जीव द्वारा भगवान् के नित्य दास-रूप में अपना शाश्वत स्वभाव भूलने के कारण तथा प्रकृति पर प्रभुता जताने की मिथ्या धारणा के कारण है कि उसे मिथ्या इन्द्रिय-भोग के संसार में प्रवेश करना पड़ता है। इस तरह भौतिकता द्वारा मन के प्रभावित होने का मुख्य कारण भौतिक शक्ति की साथ-साथ उत्पत्ति है। इस तरह पाँच तत्त्वों का स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। महाराज युधिष्ठिर ने इस क्रिया को उलट दिया और उन्होंने शरीर के पाँचों तत्त्वों को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में मिला दिया। इससे शरीर के उत्तम, मध्यम या निकृष्ट होने का अन्तर जाता रहता है और पुनः गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ भौतिक शक्ति में समाहित हो जाती हैं, जो शुद्ध जीव के मिथ्या भाव से उत्पन्न हैं। इस तरह जब कोई वैकुण्ठलोक के असंख्य लोकों में से किसी एक में, विशेषतया गोलोक वृन्दावन में, भगवान् का पार्षद बनना चाहता है, तो उसे निरन्तर यह सोचना होता है कि वह इस भौतिक शक्ति से भिन्न है, उसे इससे कोई सरोकार नहीं है और उसे अपनी अनुभूति शुद्ध आत्मा या ब्रह्म के रूप में करनी होती है, जो गुण में परम ब्रह्म (परमेश्वर) के तुल्य है। महाराज युधिष्ठिर ने अपना साम्राज्य परीक्षित तथा वज्र को सौंप देने के बाद उन्होंने अपने आपको न तो विश्व का सम्राट

माना, न ही कुरुवंश का अग्रणी माना। भौतिक सम्बन्धों से एवं स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों के भौतिक बन्धन से स्वतंत्रता का यह भाव मनुष्य को भगवान् के दास के रूप में कार्य करने के लिए मुक्त बनाता है, भले ही वह अभी भौतिक जगत में रहता हो। यह अवस्था इसी भौतिक जगत में रहते हुए भी *जीवन्मुक्त* अवस्था कहलाती है। भौतिक अस्तित्व को समाप्त करने की विधि यही है। मनुष्य को न केवल अपने को ब्रह्म समझना चाहिए, अपितु उसे ब्रह्म के समान आचरण भी करना चाहिए। जो अपने को मात्र ब्रह्म समझता है, वह मायावादी (निर्विशेषवादी) है। किन्तु जो ब्रह्म की भाँति कर्म करता है, वह शुद्ध भक्त है।

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः ।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

चीर-वासाः—चिथड़े ग्रहण किये; निराहारः—ठोस भोजन करना त्याग दिया; बद्ध-वाक्—बोलना बन्द कर दिया; मुक्त-मूर्धजः—बाल खोल दिए; दर्शयन्—दिखाने लगे; आत्मनः—अपने; रूपम्—शारीरिक स्वरूप को; जड—निष्क्रिय; उन्मत्त—पागल; पिशाच-वत्—उजड्ड की तरह; अनवेक्षमाणः—प्रतीक्षा किये बिना; निरगात्—स्थित था; अशृण्वन्—बिना सुने; बधिरः—बहरा व्यक्ति; यथा—जिस तरह।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने फटे हुए वस्त्र पहन लिये, ठोस आहार लेना बन्द कर दिया, वे जान कर गूँगे बन गये और बालों को खोल दिया। इन सबके मिल-जुले रुप में, वे एक उजड्ड या वृत्तिविहीन पागल की तरह दिखने लगे। वे किसी वस्तु के लिए अपने भाइयों पर आश्रित नहीं रहे। वे बहरे मनुष्य की तरह कुछ भी न सुनने लगे।

तात्पर्य : इस प्रकार समस्त बाह्य झंझटों से छूटने पर, उन्हें राजसी जीवन या परिवार–प्रतिष्ठा से कुछ लेना–देना नहीं रहा और वे एक तरह से वे निष्क्रिय, पागल, उजड्ड की तरह बन गये और भौतिक मामलों के विषय में कुछ भी बोलना बन्द कर दिया। अब वे अपने उन भाइयों पर आश्रित नहीं रहे जो निरन्तर उनकी सहायता करते थे। सभी प्रकार की इस पूर्ण स्वतंत्रता को निर्भीकता की शुद्ध अवस्था (निर्भयपद) कहते हैं।

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

उदीचीम्—उत्तरी दिशा; प्रविवेश-आशाम्—वहाँ प्रवेश करने की इच्छा करनेवाले; गत-पूर्वाम्—अपने पूर्वजों द्वारा स्वीकृत पथ; महा-आत्मभिः—विशाल हृदय के कारण; हृदि—हृदय के भीतर; ब्रह्म—परमेश्वर; परम्—परम; ध्यायन्—निरन्तर ध्यान करते हुए; न आवर्तेत—अपने दिन बिताये; यतः—जहाँ कहीं भी; गतः—गये।

तब उन्होंने उत्तर दिशा की ओर अपने पूर्वजों तथा महापुरुषों द्वारा स्वीकृत पथ पर चलते हुए प्रस्थान किया, जिससे वे परमेश्वर के विचार में पूर्ण रूप से लग सकें। वे जहाँ कहीं भी गये, इसी तरह रहे।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह विदित होता है कि महाराज युधिष्ठिर ने अपने पूर्वजों तथा भगवान् के महान् भक्तों के चरण-चिह्नों का अनुगमन किया। हम पहले कई बार यह बता चुके हैं कि जिस रूप में वर्णाश्रम-धर्म विश्व के निवासियों द्वारा और विशेष रूप से आर्यावर्त के निवासियों द्वारा पालित होता है, उसमें जीवन की एक अवस्था में, घर-बार के सारे सम्बन्धों को छिन्न करने की महत्ता पर बल दिया जाता है। इसी दृष्टि से प्रशिक्षण तथा शिक्षा दी जाती थी और इस तरह महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्मानित व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार करने तथा भगवद्धाम वापस लौटने के लिए सारे पारिवारिक सम्बन्ध छोड़ने पड़ते थे। गृहस्थ जीवन को न कोई राजा, न कोई सम्मानित व्यक्ति, अन्त तक चला सकता है, क्योंकि इसे मानव जीवन की सिद्धि के प्रतिकूल तथा उसकी आत्म-हत्या जैसा माना जाता है। अतएव सारी पारिवारिक झंझटों से मुक्त होने एवं भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा में शत-प्रतिशत लगने की हमेशा संस्तुति की जाती है, क्योंकि यह प्रामाणिक पथ है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.६२) में शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को, कम से कम अपनी अन्तिम अवस्था में, भगवद्भक्त बनना चाहिए। भगवान् के प्रति एकनिष्ठ आत्मा को अपने हित के लिए महाराज युधिष्ठिर की भाँति भगवान् के उपदेश का पालन करना चाहिए।

ब्रह्म परम् शब्द भगवान् श्रीकृष्ण के सूचक हैं। इसकी पुष्टि अर्जुन द्वारा *भगवद्गीता* (१०.१३) में असित, देवल, नारद तथा व्यास जैसे महापुरुषों के सन्दर्भ में की गई है। इस प्रकार उत्तरापथ के लिए गृहत्याग करते हुए महाराज युधिष्ठिर अपने अन्तःकरण में निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहे और अपने पूर्वजों तथा सभी परम भक्तों के चरण-चिह्नों पर चलते रहे।

सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः ।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सारे; तम्—उनको; अनुनिर्जग्मुः—पीछा करते हुए घर छोड़ दिया; भ्रातरः—भाइयों ने; कृत-निश्चयाः—निश्चित रूप से; कलिना—कलियुग द्वारा; अधर्म—अधर्म; मित्रेण—मित्र के द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; स्पृष्टाः—प्रभावित, वशीभूत; प्रजाः—सारे नागरिक; भुवि—पृथ्वी पर।

महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाईयों ने देखा कि कलियुग का पहले से ही संसार भर में पदार्पण हो चुका है और राज्य के नागरिक पहले से ही अधर्म द्वारा प्रभावित हैं। अतएव उन्होंने अपने बड़े भाई के चरण-चिन्हों का अनुगमन करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई पहले से ही सम्राट के आज्ञाकारी आज्ञापालक थे और जीवन के परम उद्देश्य को जानने के लिए उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण दिया गया था। अतएव उन्होंने भगवान् कृष्ण की भक्ति करने में अपने बड़े भाई का अनुसरण करने का निश्चय किया। सनातन धर्म के नियमानुसार आधी आयु बीत जाने पर गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त होना चाहिए। लेकिन इस प्रकार प्रवृत्त होना सदैव निश्चित नहीं रहता। कभी-कभी निवृत्ति-प्राप्त लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपने को किस तरह लगाये रखा जाये। यहाँ पाण्डव जैसे अधिकारीजनों का निर्णय दिया हुआ है। उन सबों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अनुशीलन में अपने आपको प्रवृत्त किया। स्वामी श्रीधर के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के चरम लक्ष्य नहीं है, जैसाकि कई लोग सोचते हैं। इनका अभ्यास तो वे करते हैं, जिन्हें जीवन के चरम लक्ष्य की कोई जानकारी नहीं है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में जीवन के चरम उद्देश्य का संकेत किया है और पाण्डवों ने बिना किसी संकोच के उनका पालन करने की बुद्धिमानी की।

ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः ।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; साधु-कृत—साधु के अनुरूप किया गया; सर्व-अर्थाः—प्रत्येक योग्य वस्तु से युक्त; ज्ञात्वा—जानकर; आत्यन्तिकम्—चरम; आत्मनः—जीव का; मनसा—मन के भीतर; धारयाम् आसुः—पालन किया; वैकुण्ठ—वैकुण्ठ के स्वामी; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल का।

उन्होंने धर्म के सारे नियम सम्पन्न कर लिये थे। अतएव उनका यह निश्चय ठीक ही था कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल ही सबों के चरम लक्ष्य हैं। अतएव उन्होंने बिना व्यवधान के उनके चरणों का ध्यान किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२८) में भगवान् कहते हैं कि जिन्होंने पूर्वजन्म में सत्कर्म किये हैं और जो समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो चुके हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने को एकाग्र कर सकते हैं। पाण्डवों ने न केवल इस जन्म में, अपितु अपने पूर्वजन्मों में भी सदैव पुण्य कर्म किये थे। और इस प्रकार वे पापकर्मों के फलों से हमेशा मुक्त थे। अत: यह उचित ही है कि उन्होंने अपना ध्यान भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के नियमों को वे ही अपनाते हैं, जो पापकर्म के फलों से मुक्त नहीं हुए हैं। ऐसे लोग उपुर्यक्त चारों नियमों के कल्मष से प्रभावित होने के कारण वैकुण्ठलोक के स्वामी भगवान् के चरणकमलों को तुरन्त ही अपना नहीं पाते। वैकुण्ठ विश्व भौतिक आकाश से बहुत दूर स्थित है। भौतिक आकाश दुर्गादेवी या भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन है, किन्तु वैकुण्ठ विश्व की व्यवस्था भगवान् की निजी शक्ति द्वारा होती है।

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।
तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥ ४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।
विधूतकल्मषा स्थानं विरजेनात्मनैव हि ॥ ४८॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ध्यान—ध्यान; उत्रिक्तया—मुक्त होकर; भक्त्या—भक्ति से; विशुद्ध—विशुद्ध; धिषणाः—बुद्धि द्वारा; परे—अध्यात्म में; तस्मिन्—उसमें; नारायण—भगवान् श्रीकृष्ण के; पदे—चरणकमल में; एकान्त-मतयः—जो एक और अनन्य ऐसे भगवान् में स्थित हैं, उनके; गतिम्—गन्तव्य; अवापुः—प्राप्त किया; दुरवापाम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन; ते—उनके द्वारा; असद्भिः—भौतिकतावादियों द्वारा; विषय-आत्मभिः—भौतिक आवश्यकताओं में लीन; विधूत—धोया हुआ; कल्मषाः—भौतिक मल; स्थानम्—धाम; विरजेन—रजोगुण से रहित; आत्मना एव—ठीक उसी शरीर से; हि—निश्चय ही।

इस प्रकार भक्तिभाव से निरन्तर स्मरण करने से उत्पन्न भक्तिमयी शुद्ध चेतना के द्वारा उन्होंने आदि नारायण भगवान् कृष्ण द्वारा अधिशासित वैकुण्ठलोक प्राप्त किया। यह वैकुण्ठलोक केवल उन्हें प्राप्त होता है, जो अविचल भाव से एक परमेश्वर का ध्यान धरते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यह धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और यह उन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होता, जो जीवन की भौतिक अवधारणा में लीन रहते हैं। लेकिन समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से शुद्ध होने के कारण पाण्डवों ने अपने इसी शरीर में उस धाम को प्राप्त किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति सत्त्व, रजो तथा तमो गुणों से मुक्त हो तथा अध्यात्म में स्थित हो, तो वह शरीर-परिवर्तन हुए बिना ही जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। श्रील सनातन गोस्वामी ने *हरि-भक्ति-विलास* नामक अपनी कृति में कहा है कि कोई भी व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में आध्यात्मिक अनुशासनात्मक कर्म करके द्विजन्मा ब्राह्मण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक रसायनशास्त्री रासायनिक प्रक्रिया से पीतल जैसी किसी धातु को सोने में बदल देता है। अतएव शरीर-परिवर्तन के बिना ही ब्राह्मण बनने या बिना शरीर-परिवर्तन के भगवद्धाम जाने में वास्तविक मार्गदर्शन का महत्त्व होता है। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यहाँ *हि* शब्द का उपयोग इस सत्य की पुष्टि करता है और इस वास्तविक स्थिति के विषय में कोई सन्देह नहीं है। *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी श्रील जीव गोस्वामी के इस कथन की पुष्टि होती है, जब भगवान् कहते हैं कि जो अविचल भाव से विधिपूर्वक भक्ति करता है, वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष को लाँघ करके ब्रह्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है और जब भक्तिमय सेवा के स्वयंस्फूर्त आचरण द्वारा ब्रह्मसिद्धि को और भी उन्नत बनाया जाता है, तो इसमें जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि उसे बिना शरीर-परिवर्तन के गोलोक वृन्दावन प्राप्त होता है, जैसा बिना शरीर-परिवर्तन के भगवान् के अपने धाम लौटने के सम्बन्ध में हम पहले ही बता चुके हैं।

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मनः ।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर (महाराज युधिष्ठिर के चाचा); अपि—भी; परित्यज्य—त्याग कर; प्रभासे—प्रभास नामक तीर्थस्थल में; देहम् आत्मनः—अपना शरीर; कृष्ण—परमेश्वर; आवेशेन—उसी विचार में लीन होकर; तत्—उनका; चित्तः—विचार तथा कार्य; पितृभिः—पितृलोक के वासियों सहित; स्व-क्षयम्—अपने निजी धाम को; ययौ—चला गये।

तीर्थाटन के लिए गये हुए विदुर ने प्रभास में अपना शरीर त्याग किया। चूँकि वे भगवान् कृष्ण के विचार में मग्न रहते थे, अतएव उनका स्वागत पितृलोक के निवासियों ने किया, जहाँ वे अपने मूल पद पर लौट गये।

तात्पर्य : पाण्डवों तथा विदुर में अन्तर इतना ही है कि पाण्डव भगवान् के नित्य संगी हैं, लेकिन विदुर पितृलोक के प्रशासक देवताओं में से एक हैं और यमराज के रूप में जाने जाते हैं। लोग यमराज से भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे ही इस जगत के दुष्टों को दण्ड देते हैं, किन्तु जो भगवान् के भक्त हैं, उन्हें उनसे डरने की कोई बात नहीं है। वे भक्तों के सुहृद मित्र हैं, किन्तु अभक्तों के लिए साक्षात् भय हैं। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, यमराज को मण्डूक मुनि ने शाप दिया था कि वे शूद्र बन जाये, अतएव विदुर यमराज के अवतार थे। उन्होंने भगवान् के सनातन सेवक के रूप में अत्यन्त मनोयोग से भक्ति का प्रदर्शन किया और पुण्यात्मा का जीवन बिताया, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र जैसे भौतिकतावादी मनुष्य को भी उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त हो सका। अतएव वे भक्ति के पुण्यकर्मों द्वारा भगवान् के चरणकमलों का स्मरण सदैव कर सकते थे और इस तरह उनके शूद्र-जन्मा जीवन के सारे कल्मष धुल गये। अन्त में पितृलोक के निवासियों ने उनका स्वागत किया और पुनः उन्हें अपना मूल पद मिल गया। देवता भी भगवान् के पार्षद हैं, किन्तु उन्हें भगवान् का व्यक्तिगत संग प्राप्त नहीं हो पाता, जबकि भगवान् के प्रत्यक्ष पार्षदों को उनका निरन्तर संग प्राप्त होता रहता है। भगवान् तथा उनके निजी पार्षद निरन्तर विभिन्न ब्रह्माण्डों में अवतरित होते रहते हैं। भगवान् सभी पार्षदों का स्मरण रखते हैं, किन्तु भगवान् के सूक्ष्म अंश होने के कारण वे उन्हें भूल जाते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इस तरह भूलना सहज है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.५) में हुई है।

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

द्रौपदी—द्रौपदी (पाण्डव पत्नी); च—तथा; तदा—उस समय; आज्ञाय—भगवान् कृष्ण को भलीभाँति जानते हुए; पतीनाम्—पतियों के; अनपेक्षताम्—उसकी परवाह न करनेवाले; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव (कृष्ण) में; भगवति—भगवान्; हि—ठीक उसी तरह; एक-अन्त—पूर्णतया; मतिः—ध्यान; आप—प्राप्त किया; तम्—उसको (भगवान् को)।

द्रौपदी ने भी देखा कि उसके पतिगण, उसकी परवाह किये बिना घर छोड़ रहे हैं। वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को भलीभाँति जानती थीं। अतएव वे तथा सुभद्रा दोनों भगवान् कृष्ण के ध्यान में लीन हो गईं और अपने-अपने पतियों की सी गति प्राप्त की।

तात्पर्य : हवाई जहाज उड़ाते समय कोई किसी दूसरे जहाजों की संभाल नहीं ले सकता। हर एक को अपने खुद के जहाज की संभाल लेनी होती है और यदि कोई संकट आ पड़े, तो उस अवस्था में कोई अन्य जहाज दूसरे की सहायता नहीं कर सकता। इसी प्रकार जीवन के अन्त में, जब हर एक को अपने घर, भगवद्धाम वापस जाना होता है, तो उसे दूसरे के ऊपर निर्भर न रह कर, स्वयं अपनी संभाल लेनी होती है। हाँ, उड़ने के पूर्व जमीन पर सहायता की जाती है। इसी प्रकार किसी के जीवन काल में उसे उसका गुरु, पिता, माता, सम्बन्धी, पति तथा अन्य लोग सहायता कर सकते हैं, किन्तु भवसागर पार करते समय हर एक को अपनी खुद की परवाह करनी होती है और पहले से प्राप्त उपदेशों का उपयोग करना होता है। द्रौपदी के पाँच पति थे, किन्तु किसी ने नहीं कहा कि चलो। द्रौपदी को अपने महान् पतियों की प्रतीक्षा किये बिना अपनी परवाह स्वयं करनी थी और चूँकि वे पहले से प्रशिक्षित थीं, अतएव उन्होंने तुरन्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण का ध्यान किया। पत्नियों को भी उसी तरह पतियों जैसी गति प्राप्त हुई, अर्थात् वे बिना शरीर बदले, भगवान् के धाम पहुँच गईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का मत है कि द्रौपदी तथा सुभद्रा दोनों को एक सा ही फल मिला, यद्यपि यहाँ पर उनका नाम उल्लिखित नहीं है। उनमें से किसी को भी अपना शरीर त्यागना नहीं पड़ा।

यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; एतत्—यह; भगवत्-प्रियाणाम्—भगवान् के अत्यन्त प्रियजनों का; पाण्डोः—पाण्डु के; सुतानाम्—पुत्रों का; इति—इस प्रकार; सम्प्रयाणम्—चरम लक्ष्य के लिए प्रस्थान; शृणोति—सुनता है; अलम्—केवल; स्वस्त्ययनम्—सौभाग्य; पवित्रम्—पूरी तरह शुद्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; हरौ—भगवान् की; भक्तिम्—भक्ति को; उपैति—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि को।

पाण्डु-पुत्रों द्वारा जीवन के परम लक्ष्य भगवद्धाम के लिए प्रस्थान का यह विषय अत्यन्त शुभ तथा परम पवित्र है। अतएव जो भी इस कथा को भक्तिभावपूर्वक सुनता है, वह जीवन की परम सिद्धि भगवद्भक्ति को निश्चय ही प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एवं पाण्डवों जैसे भगवद्भक्तों की कथा है। भगवान् और उनके भक्तों की कथा अपने आप में पूर्ण है। अतएव भक्तिभाव से इसे सुनना भगवान् तथा उनके नित्य-संगियों से सान्निध्य प्राप्त करने जैसा है। मनुष्य *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् भगवद्धाम-प्रस्थान को प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति' नामक पंद्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

परीक्षित ने कलियुग का सत्कार किस तरह किया

सूत उवाच
ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह ।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; परीक्षित्—महाराज परीक्षित ने; द्विज-वर्य—श्रेष्ठ ब्राह्मण; शिक्षया—अपने उपदेशों से; महीम्—पृथ्वी को; महा-भागवतः—परम भक्त; शशास—शासन किया; ह—भूतकाल में; यथा—जैसा उन्होंने कहा था; हि—निश्चय ही; सूत्याम्—उनके जन्म के समय; अभिजात-कोविदाः—जन्म के समय पटु ज्योतिषी; समादिशन्—अभिमत व्यक्त किया; विप्र—हे ब्राह्मण; महत्-गुणः—महान् गुण; तथा—उसी के अनुसार सत्य।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे विद्वान ब्राह्मणों, तब महाराज परीक्षित श्रेष्ठ द्विज ब्राह्मणों के आदेशों के अनुसार महान् भगवद्भक्त के रूप में संसार पर राज्य करने लगे। उन्होंने उन महान् गुणों के द्वारा शासन चलाया, जिनकी भविष्यवाणी उनके जन्म के समय पटु ज्योतिषियों ने की थी।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के जन्म के समय निपुण ज्योतिषी ब्राह्मणों ने उनके कुछ गुणों की भविष्यवाणी की थी। भगवान् के महान् भक्त होने के कारण, महाराज परीक्षित में इन सारे गुणों का विकास हो सका। असली योग्यता भगवद्भक्त होना है और धीरे-धीरे सभी ग्राह्य गुणों का विकास होता जाता है। महाराज परीक्षित *महाभागवत* या प्रथम श्रेणी के भक्त थे, जो न केवल भक्ति के विज्ञान में पटु थे अपितु अपने दिव्य उपदेशों से अन्यों को भी भक्त बनाने में समर्थ थे। अतएव महाराज परीक्षित प्रथम श्रेणी के भक्त थे और इस तरह वे बड़े-बड़े मुनियों तथा विद्वान ब्राह्मणों से राय लिया करते थे, जो उन्हें शास्त्रों के आधार पर सलाह दे सकें कि राज्य का शासन किस तरह चलाया जाय। ऐसे महान् राजा आजकल के निर्वाचित प्रशासकों से अधिक जिम्मेदार होते थे, क्योंकि वे महापुरुषों द्वारा वैदिक साहित्य में संकलित अनुदेशों का पालन करके उनके प्रति कृतज्ञ रहते थे। तब ऐसे अव्यावहारिक मूर्खों की आवश्यकता नहीं होती थी, जो नित्य ही नये-नये विधान बनाएँ और अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर उसे बारम्बार बदलते रहें। ऐसे विधि-विधान तो मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा अन्य मुक्त मुनियों द्वारा पहले ही स्थापित किये जा चुके थे और उनका प्रचलन सभी युगों तथा सभी स्थानों के लिए उपयुक्त था। अतएव सारे विधि-विधान प्रामाणिक थे और किसी त्रुटि या दोष से रहित होते थे। महाराज परीक्षित जैसे राजाओं की अपनी सलाहकार-समिति होती थी और इस समिति के सदस्य या तो ऋषि-मुनि होते थे या प्रथम श्रेणी के ब्राह्मण होते थे। वे कोई वेतन नहीं लेते थे, न उन्हें ऐसे वेतन की आवश्यकता ही रहती थी। *राजा बिना किसी व्यय के श्रेष्ठ सलाह प्राप्त करता था।* वे स्वयं *समदर्शी* होते थे—सबों के प्रति समदर्शी, चाहे मनुष्य हो या पशु। वे राजा को ऐसी सलाह नहीं देते थे कि मनुष्य को तो सुरक्षा प्रदान की जाय और बेचारे पशुओं का वध किया जाय। समिति के ऐसे सदस्य न तो मूर्ख होते थे, न दिवास्वप्न देखने वाले मूर्खों के प्रतिनिधि होते थे। वे सभी स्वरूपसिद्ध होते थे और वे भलीभाँति जानते थे कि किस तरह राज्य के सारे जीव इस जीवन में तथा

अगले जीवन में सुखी रह सकते हैं। वे 'खाओ, पियो और मौज करो' जैसी भोगवादी विचारधारा के समर्थक न थे। वे वास्तविक अर्थ में विचारक होते थे और यह भलीभाँति जानते थे कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है। इन सारे प्रतिबन्धों के अन्तर्गत राजा की सलाहकार समिति सही निर्देश देती थी और राजा या प्रशासनाधिकारी स्वयं योग्य भगवद्भक्त होने के कारण राज्य के कल्याण के लिए उन आदेशों की छानबीन करके उनका पालन करता था। महाराज युधिष्ठिर अथवा महाराज परीक्षित के समय का राज्य वास्तव में जन-कल्याणकारी राज्य होता था, क्योंकि राज्य में कोई भी दुखी नहीं रहता था, चाहे वह मनुष्य हो या पशु। महाराज परीक्षित विश्व के जनकल्याणकारी राज्य के एक आदर्श राजा थे।

स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम् ।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; **उत्तरस्य**—राजा उत्तर की; **तनयाम्**—पुत्री को; **उपयेमे**—विवाह किया; **इरावतीम्**—इरावती को; **जनमेजय-आदीन्**—महाराज जनमेजय तथा अन्य; **चतुरः**—चार; **तस्याम्**—उसमें; **उत्पादयत्**—जन्म दिया; **सुतान्**—पुत्रों को।

राजा परीक्षित ने राजा उत्तर की पुत्री इरावती से विवाह किया और उससे उन्हें ज्येष्ठ पुत्र महाराज जनमेजय सहित चार पुत्र प्राप्त हुए।

तात्पर्य : महाराज उत्तर विराट के पुत्र तथा महाराज परीक्षित के मामा थे। इरावती महाराज उत्तर की पुत्री होने से, महाराज परीक्षित की ममेरी बहन थी, लेकिन यदि ममेरे भाइयों तथा बहिनों का गोत्र अर्थात् परिवार एक न हो, तो उन्हें विवाह करने की अनुमति होती थी। विवाह की वैदिक पद्धति में गोत्र या परिवार पर बल दिया जाता था। अर्जुन ने भी सुभद्रा से विवाह किया था, यद्यपि वह उनकी ममेरी बहिन लगती थी।

जनमेजय—राजर्षियों में से एक तथा महाराज परीक्षित के विख्यात पुत्र। इनकी माता का नाम इरावती अथवा कुछ लोगों के अनुसार माद्रवती था। महाराज जनमेजय के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे ज्ञातानीक तथा शंकुकर्ण। उन्होंने कुरुक्षेत्र तीर्थस्थल पर अनेक यज्ञ किये। उनके तीन छोटे भाइयों के नाम श्रुतसेन, उग्रसेन तथा भीमसेन-द्वितीय थे। उन्होंने तक्षला (अजन्ता) पर आक्रमण किया और अपने महान् पिता महाराज परीक्षित को दिये गये अवैध शाप का बदला लेने का निश्चय किया। उन्होंने

अपने पिता को डँसनेवाले तक्षक सहित सर्पों की सम्पूर्ण जाति को विनष्ट करने के लिए सर्प-यज्ञ किया। किन्तु अनेक प्रभावशाली देवताओं तथा मुनियों के आग्रह पर, उन्हें सम्पूर्ण सर्प जाति को विनष्ट करने का अपना निर्णय बदलना पड़ा, किन्तु यज्ञ बन्द करने के बावजूद उन्होंने यज्ञ से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को समुचित पुरस्कार देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। इस उत्सव में महामुनि व्यासदेव भी उपस्थित थे और उन्होंने स्वयं राजा के समक्ष कुरुक्षेत्र युद्ध का सारा वृत्तान्त सुनाया। बाद में, व्यासदेव की आज्ञा से उनके शिष्य वैशम्पायन ने राजा को *महाभारत* सुनाया। वे अपने पिता के असामयिक निधन से अत्यधिक दुखी थे और उन्हें दुबारा देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते थे। अतएव उन्होंने महामुनि व्यासदेव से अपनी इच्छा व्यक्त की। व्यासदेव ने उनकी इच्छा पूरी की। उनके पिता उनके समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पिता एवं व्यासदेव का पूजन बड़े ही आदर तथा धूमधाम से किया। उन्होंने उस यज्ञ में उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रसन्न होकर मुक्तहस्त दान दिया।

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आजहार—सम्पन्न किया; अश्व-मेधान्—अश्वमेध यज्ञ; त्रीन्—तीन; गङ्गायाम्—गंगा तट पर; भूरि—पर्याप्त; दक्षिणान्—दक्षिणाएँ, पुरस्कार; शारद्वतम्—कृपाचार्य को; गुरुम्—गुरु; कृत्वा—चुनकर; देवाः—देवतागण; यत्र—जहाँ पर; अक्षि—आँखें; गोचराः—दृष्टिगत।

महाराज परीक्षित ने कृपाचार्य को अपना गुरु चुनने के बाद गंगा के तट पर तीन अश्वमेध यज्ञ किये। इन्हें आगन्तुकों एवं निमंत्रितों को पर्याप्त दक्षिणा देकर संपन्न किया गया। इन यज्ञों में सामान्य लोग भी देवताओं का दर्शन पा सके।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि स्वर्ग के निवासियों द्वारा अन्तर्ग्रहीय यात्रा सुगम है। *भागवत* में अनेक स्थलों पर हमने देखा है कि प्रभावशाली राजाओं तथा सम्राटों द्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञों में स्वर्ग के निवासी भी भाग लेने के लिए पृथ्वी पर आया करते थे। यहाँ भी हम पाते हैं कि महाराज परीक्षित के अश्वमेध यज्ञ में अन्य ग्रहों के देवता यज्ञोत्सव के कारण सामान्य व्यक्ति को भी दिखाई दे रहे थे। देवता सामान्यतया आम लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होते, ठीक उसी तरह जिस तरह भगवान् नहीं दिखते। किन्तु जिस तरह भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए दृश्य होने के निमित्त अपनी अहैतुकी कृपा से

अवतरित होते हैं, इसी तरह देवता भी सामान्य व्यक्ति को अपनी कृपा से दृष्टिगोचर हुए। यद्यपि स्वर्ग के निवासी इस पृथ्वी के लोगों की आँखों से दिखते नहीं, किन्तु यह महाराज परीक्षित का प्रताप था कि देवताओं ने दृश्य होना स्वीकार कर लिया। राजागण ऐसे यज्ञों के समय जी खोलकर खर्च करते थे, जिस तरह बादल पानी बरसाते हैं। बादल आखिर पानी का दूसरा रूप ही तो है, अथवा दूसरे शब्दों में पृथ्वी का पानी ही बादलों में रूपान्तरित होता है। इसी प्रकार ऐसे यज्ञों में राजाओं द्वारा दिया गया दान प्रजा से ही संग्रह किये गये कर का दूसरा रूप होता है। किन्तु जिस तरह जब प्रचुर वर्षा होती है, तो वह आवश्यकता से अधिक प्रतीत होती है, उसी तरह ऐसे राजाओं द्वारा दिया दान भी प्रजा की आवश्यकताओं से अधिक प्रतीत होता है। संतुष्ट प्रजा कभी राजा के विरुद्ध संघर्ष नहीं करती, अतएव राजतंत्रीय राज्य को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए भी मार्गदर्शन के लिए गुरु की आवश्यकता थी। ऐसे मार्गदर्शन के बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर पाना सम्भव नहीं है। गुरु को प्रामाणिक होना चाहिए और जो आत्म-साक्षात्कार के लिए इच्छुक रहते हैं, उन्हें वास्तविक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए।

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥ ४॥

शब्दार्थ

निजग्राह—पर्याप्त दण्डित; ओजसा—पराक्रम से; वीरः—वीर पुरुष; कलिम्—इस युग के स्वामी, कलि को; दिग्विजये—विश्व को विजित करने के मार्ग पर; क्वचित्—एक बार; नृप-लिङ्ग-धरम्—राजा का वेश धारण करके विचरण करने वाला; शूद्रम्—नीच जाति का; घ्नन्तम्—चोट पहुँचाते हुए; गो-मिथुनम्—गाय तथा बैल की जोड़ी को; पदा—पाँव में।.

एक बार, जब महाराज परीक्षित विश्व-दिग्विजय करने निकले, तो उन्होंने देखा कि कलियुग का स्वामी, जो शूद्र से भी निम्न था, राजा का वेश धारण करके गाय तथा बैल की जोड़ी के पाँवों पर प्रहार कर रहा था। राजा ने उसे पर्याप्त दण्ड देने के लिए तुरन्त पकड़ लिया।

तात्पर्य : दिग्विजय करने के लिए राजा के बाहर निकलने का उद्देश्य आत्मश्लाघा नहीं है। महाराज परीक्षित सिंहासन पर बैठने के बाद दिग्विजय करने निकले थे, किन्तु यह अन्य राजाओं के उत्पीड़न के उद्देश्य से नहीं था। वे विश्व के सम्राट थे और समस्त छोटे-छोटे राज्य उनके अधीन ही थे।

उनका बाहर जाने का उद्देश्य यह देखना था कि क्या राज्य का शासन भगवद्भावनामय ढंग से चल रहा था कि नहीं? भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा को भगवान् की इच्छाओं को भलीभाँति पूरा करना होता है। इसमें आत्मश्लाघा का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव ज्योंही महाराज परीक्षित ने एक निम्न जाति के मनुष्य को राजा के वेश में गाय तथा बैल की जोड़ी के पाँव पर प्रहार करते देखा, तो उन्होंने तुरन्त उसे बन्दी बनाकर दण्ड दिया। राजा न तो सबसे महत्त्वपूर्ण पशु गाय का अनादर होते सह सकता है, न वह सबसे महत्त्वपूर्ण मनुष्य ब्राह्मण का अनादर सह सकता है। मानव सभ्यता का अर्थ है, ब्राह्मण संस्कृति को आगे बढ़ाना और उसके पालन के लिए गोरक्षा अनिवार्य है। गाय के दूध में चमत्कार है, क्योंकि इसमें उच्चतर उपलब्धि के लिए मनुष्य की शारीरिक स्थिति को बनाये रखने के लिए सभी आवश्यक विटामिन रहते हैं। ब्राह्मण संस्कृति तभी प्रगति कर सकती है, जब मनुष्य को सतोगुण विकसित करने की शिक्षा दी जाय और उसके लिए दूध, फल तथा अन्न का तैयार किया गया भोजन मूल आवश्यकता है। महाराज परीक्षित यह देखकर चकित थे कि एक काला शूद्र, राजा का वेश बनाये, मानव समाज के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पशु गाय के साथ दुर्व्यवहार कर रहा था।

कलियुग का अर्थ है, कुव्यवस्था तथा कलह। इस कुव्यवस्था तथा कलह का मूल कारण यह है कि निम्न श्रेणी के निकम्मे व्यक्ति, जिनकी कोई उच्चतर महत्त्वाकांक्षा नहीं है, राज्य के प्रबन्ध में अग्रणी बन जाते हैं। राजा के पद पर ऐसे लोग निश्चित रूप से सर्वप्रथम गाय तथा ब्राह्मण संस्कृति को हानि पहुँचाते हैं, जिससे सारा समाज नरक की ओर आगे बढ़ता है। स्वयं महाराज परीक्षित ने प्रशिक्षित होने के कारण, संसार के सारे झगड़े के मूल कारण की गंध पा ली थी। अतएव वे इसे प्रारम्भ में ही रोक देना चाहते थे।

शौनक उवाच
कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः ।
नृदेवचिह्नधृक्शूद्रकोऽसौ गां यः पदाहनत् ।
तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ऋषि ने कहा; कस्य—किस; हेतोः—कारण से; निजग्राह—पर्याप्त दण्ड दिया; कलिम्—कलियुग के स्वामी को; दिग्विजये—अपनी विश्व यात्रा के समय; नृपः—राजा; नृ-देव—राजसी व्यक्ति; चिह्न-धृक्—के समान सजा हुआ; शूद्रकः—शूद्रों में भी अधम; असौ—वह; गाम्—गाय को; यः—जो; पदा अहनत्—लात से मारा; तत्—वह सब; कथ्यताम्—कृपा करके कहो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; यदि—यदि, फिर भी; कृष्ण—कृष्ण विषयक; कथा-आश्रयम्—उनकी कथाओं से सम्बन्धित।

शौनक ऋषि ने पूछा : महाराज परीक्षित ने उसे केवल दण्ड क्यों दिया, जबकि वह शूद्रों में अधम था, उसने राजा का वेश बना रखा था तथा गाय पर पाद प्रहार किया था? ये सब घटनाएं यदि भगवान् कृष्ण की कथा से सम्बन्धित हों, तो कृपया इनका वर्णन करें।

तात्पर्य : शौनक तथा ऋषिगण यह सुनकर विस्मित थे कि पुण्यात्मा महाराज परीक्षित ने अपराधी को केवल दण्डित ही क्यों किया, उसे मार क्यों नहीं डाला? इससे यह सूचित होता है कि महाराज परीक्षित जैसे पुण्यात्मा राजा को चाहिए कि वह ऐसे अपराधी को तुरन्त मार डाले, जो राजा का वेश बनाकर जनता को ठगता है और साथ ही पवित्रतम पशु गाय को अपमानित करने का दुस्साहस करता है। उस काल के ऋषियों ने यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि कलियुग के अग्रगामी दिनों में निम्नतम शूद्रों को प्रशासक के रूप में चुना जायेगा और गोवध करने के लिए खुले सुनियोजित कसाईघर खोल दिये जायेंगे। जो हो, यद्यपि ऋषियों को उस *शूद्रक* के विषय में सुनना अधिक रुचिकर नहीं लगा, जो ठग था तथा गाय का अपमान करने वाला था, फिर भी वे इसके विषय में यह जानने के लिए सुनना चाहते थे कि इसका सम्बन्ध कहीं भगवान् कृष्ण से तो नहीं है। वे केवल कृष्ण कथा में रुचि रखते थे, क्योंकि कृष्ण कथा से जो भी विषय सम्बन्धित हो, वह श्रवण करने योग्य होता है। *भागवत* में समाज विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, सांस्कृतिक मामले इत्यादि के विषय में अनेक प्रसंग हैं, किन्तु वे सभी कृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव वे सबके सब श्रवणीय हैं। कृष्ण सभी मामलों के शुद्धकर्ता अवयव हैं, चाहे वे जैसे भी हों। इस संसार में हर वस्तु प्रकृति के तीनों गुणों से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध है। किन्तु कृष्ण शुद्धकर्ता तत्त्व हैं।

अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथवा—अन्यथा; अस्य—उनका (भगवान् कृष्ण का); पद-अम्भोज—चरणकमल; मकरन्द-लिहाम्—कमल पुष्प के मधु को चाटनेवाले; सताम्—निरन्तर जीवित रहनेवालों के; किम् अन्यैः—अन्य किसी वस्तु से क्या लाभ; असत्—भ्रामक; आलापैः—विषय, प्रसंग; आयुषः—आयु में; यत्—जो है; असत्-व्ययः—जीवन का अपव्यय।

भगवान् के भक्त भगवान् के चरणकमलों से प्राप्त मधु के चाटने के आदी हैं। उन कथा प्रसंगों से क्या लाभ जो मनुष्य के बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट करें?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्त दोनों ही दिव्य स्तर पर रहते हैं, अतएव भगवान् कृष्ण तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथाएँ समान रूप से उत्तम होती हैं। यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध राजनीति तथा कूटनीति से भरा हुआ है, परन्तु इसकी कथाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव *भगवद्गीता* सारे विश्व में पूजित है। राजनीति, अर्थशास्त्र या समाज विज्ञान जो संसारियों के लिए भौतिकतामय हों, उनके उच्छेदन की कोई आवश्यकता नहीं है। शुद्ध भक्त के लिए, जो वास्तव में भगवान् से जुड़ा है, ऐसी संसारी वस्तुएँ दिव्य होती हैं, यदि वे कृष्ण या उनके शुद्ध भक्तों के साथ जुड़ी हों। हम पाण्डवों के कार्यकलापों के सम्बन्ध में कह-सुन चुके हैं और अब हम महाराज परीक्षित की कथाओं के विषय में बातें कर रहे हैं, किन्तु ये सब कथाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव ये सबकी सब दिव्य हैं और शुद्ध भक्त इन्हें बड़ी रुचि से सुनते हैं। हम इस बात को भीष्मदेव की स्तुतियों के प्रसंग में पहले ही बता चुके हैं।

हमारी आयु बहुत लम्बी नहीं होती और ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है कि हमें कब अगली मंजिल के लिए हर वस्तु को छोड़ने के लिए आदेश मिल जाँय। अतएव यह हमारा परम धर्म है कि हम कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में एक क्षण भी व्यर्थ न बिताएँ। कोई भी विषय कितना ही रोचक क्यों न हो, यदि वह कृष्ण से सम्बन्धित नहीं है, तो सुनने योग्य नहीं होता।

आध्यात्मिक ग्रह गोलोक वृन्दावन, जो भगवान् कृष्ण का सनातन धाम है, कमल पुष्प के गुच्छे के आकार का है। जब भगवान् किसी एक भौतिक ग्रह में भी अवतरित होते हैं, तब वे अपने निजी धाम को यथारूप में प्रकट करके ही ऐसा करते हैं। इस प्रकार उनके चरण सदैव उसी कमलदल के बड़े गुच्छे पर रहते हैं। उनके चरण कमल पुष्प के समान ही सुन्दर हैं, इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण के पांव कमल-स्वरूप हैं।

जीव वैधानिक रूप से शाश्वत है। वह भौतिक शक्ति के सम्पर्क में रहने के कारण जन्म तथा मृत्यु के भँवर में पड़ा हुआ है। ऐसी भौतिक शक्ति से छूटने पर जीव मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम जाने के योग्य बन जाता है। जो लोग अपना शरीर बदले बिना सदा-सदा के लिए जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें कृष्ण तथा उनके भक्तों की कथाओं के अतिरिक्त अन्य किसी कथा में अपना बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए।

क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ।
इहोपहूतो भगवान्मृत्युः शामित्रकर्मणि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

क्षुद्र—अत्यन्त छोटी; आयुषाम्—आयु वाले; नृणाम्—मनुष्यों का; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; ऋतम्—शाश्वत् जीवन; इच्छताम्—चाहनेवालों का; इह—यहाँ; उपहूतः—उपस्थित होने के लिए बुलाया गया; भगवान्—भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हुए; मृत्युः—मृत्यु के नियंत्रक, यमराज; शामित्र—दमन करते हुए; कर्मणि—कार्यों को।

हे सूत गोस्वामी, मनुष्यों में से कुछ ऐसे हैं, जो मृत्यु से मुक्ति पाने के और शाश्वत जीवन प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। वे मृत्यु के नियंत्रक यमराज को बुलाकर वध किये जाने की क्रिया से बच जाते हैं।

तात्पर्य : जैसे-जैसे जीव निम्नतर पशु जीवन से उच्चतर मनुष्य जीवन में विकसित होकर धीरे-धीरे उच्चतर बुद्धि प्राप्त करता है, त्यों-त्यों वह मृत्यु के पाश से मुक्त होने के लिए उत्सुक रहता है। आधुनिक विज्ञानी शरीर सम्बन्धी रासायनिक ज्ञान की प्रगति द्वारा मृत्यु से बचना चाहते हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश मृत्यु के नियंत्रक यमराज इतने क्रूर हैं कि वे खुद उस विज्ञानी तक को नहीं छोड़ते। जो विज्ञानी वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से मृत्यु रोकने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, वह खुद यमराज के बुलाने पर मृत्यु का शिकार बन जाता है। मृत्यु रोकने की बात तो कोसों दूर रही, कोई जीवन की लघु अवधि को क्षण के एक अंश भर भी नहीं बढ़ा सकता। यदि यमराज की क्रूर वध-क्रिया को रोकने की कोई आशा है, तो यही है कि उन्हें बुलाकर भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण तथा कीर्तन कराया जाय। यमराज भगवान् के परम भक्त हैं और उन्हें उन शुद्ध भक्तों द्वारा कीर्तनों तथा यज्ञों में आमंत्रित किया जाना अच्छा लगता है, जो भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं। इस तरह, शौनक आदि ऋषियों

ने नैमिषारण्य में सम्पन्न हो रहे यज्ञ में यमराज को सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। यह उन लोगों के लिए अच्छा हुआ, जो मरना नहीं चाहते थे।

न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदास्त इहान्तकः ।
एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः ।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कश्चित्—कोई; म्रियते—मरेगा; तावत्—तब तक; यावत्—जब तक; आस्ते—उपस्थित हैं; इह—यहाँ; अन्तकः—जीवन का अन्त करने वाले; एतत्—यह; अर्थम्—कारण; हि—निश्चय ही; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; आहूतः—आमंत्रित; परम-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा; अहो—ओह; नृ-लोके—मानव समाज में; पीयेत—पीने दो; हरि-लीला—भगवान् की दिव्य लीलाएँ; अमृतम्—अमृत; वचः—कथाएँ।.

जब तक सबों की मृत्यु के कारण यमराज यहाँ पर उपस्थित हैं, तब तक किसी की मृत्यु नहीं होगी। ऋषियों ने मृत्यु के नियंत्रक यमराज को आमंत्रित किया है, जो भगवान् के प्रतिनिधि हैं। उनकी पकड़ में आनेवाले सारे जीवों को भगवान् की दिव्य लीलाओं की इस वार्ता के रूप में मृत्युरहित अमृत का श्रवण करने का लाभ उठाना चाहिए।

तात्पर्य : प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी मृत्यु न हो, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मृत्यु से छुटकारा कैसे पाया जाय। मृत्यु से बचने की रामबाण औषधि है भगवान् की उन अमृत-तुल्य लीलाओं का श्रवण करने के लिए अपने को अभ्यस्त करना, जो क्रमबद्ध रूप में *श्रीमद्भागवत* में कही गई हैं। अतएव यहाँ पर यह सलाह दी गई है कि कोई भी मनुष्य, जो मृत्यु से मुक्ति पाने का अभिलाषी है, उसे शौनक आदि ऋषियों द्वारा संस्तुत जीवन-शैली अपनानी चाहिए।

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै ।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मन्दस्य—आलसी का; मन्द—अल्प; प्रज्ञस्य—बुद्धि का; वयः—आयु; मन्द—लघु; आयुषः—आयु का; च—तथा; वै—ठीक-ठीक; निद्रया—सोने में; ह्रियते—बीत जाती है; नक्तम्—रात्रि; दिवा—दिन; च—भी; व्यर्थ—बेकार; कर्मभिः—कार्यों में।.

अल्प बुद्धि तथा कम आयु वाले आलसी मनुष्य रात को सोने में तथा दिन को व्यर्थ के कार्यों में बिता देते हैं।

तात्पर्य : अल्पज्ञ लोग मनुष्य-जीवन के वास्तविक महत्त्व को नहीं जानते। भौतिक प्रकृति के द्वारा जीव पर दुखदायी कठोर नियम लागू करने की प्रक्रिया के दौरान जीव को मनुष्य-जीवन प्रदान करना प्रकृति का एक विशेष उपहार है। यह जीवन के सर्वोच्च वरदान को प्राप्त करने, अर्थात् बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से निकलने के लिए अच्छा अवसर होता है। बुद्धिमान लोग, बन्धन से निकलने के लिए कठिन प्रयत्न द्वारा इस महत्त्वपूर्ण उपहार की रक्षा करते हैं, लेकिन अल्पज्ञ लोग आलसी होते हैं और इस उपहारस्वरूप मानव-शरीर को भव-बन्धन से मोक्ष पाने के लिए प्रयोग करने में असमर्थ रहते हैं। वे तो तथाकथित आर्थिक विकास में अधिक रुचि दिखाते हैं और क्षणिक शरीर के इन्द्रिय-भोग हेतु ही जीवन भर कठिन श्रम करते रहते हैं। प्रकृति ने इन्द्रिय-भोग की अनुमति तो पशुओं को भी दे रखी है और इस तरह मनुष्य को भी, अपने पूर्वजन्म या इस जन्म के अनुसार, कुछ न कुछ इन्द्रियभोग तो दिया ही गया है। लेकिन मनुष्य को इतना अवश्य समझना चाहिए कि इन्द्रियभोग इस मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। यहाँ कहा गया है कि दिन में मनुष्य व्यर्थ ही कार्य करता है, क्योंकि एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियभोग रहता है। हम विशेष करके बड़े-बड़े शहरों में तथा औद्योगिक नगरों में देख सकते हैं कि किस तरह मनुष्य व्यर्थ के कार्यों में लगा रहता है। मानवीय शक्ति से तरह-तरह की वस्तुएँ निर्मित की जाती हैं, किन्तु वे सब इन्द्रियभोग के लिए ही होती हैं, भवबन्धन से छूटने के लिए नहीं। दिन भर कठिन श्रम करने के बाद, थका-हारा मनुष्य रात में या तो सो जाता है या संभोग करता है। अल्पज्ञों के लिए भौतिकतावादी सभ्य जीवन का यही कार्यक्रम होता है। अतएव यहाँ पर उन्हें आलसी, अभागे तथा अल्पायु वाले कहे गये हैं।

सूत उवाच
यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽवसत्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते ।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; परीक्षित्—महाराज परीक्षित; कुरु-जाङ्गले—कुरु प्रदेश की राजधानी में; अवसत्—रहते थे; कलिम्—कलियुग के लक्षण; प्रविष्टम्—प्रवेश किया; निज-चक्रवर्तिते—अपनी सीमा में; निशम्य—इस तरह का सुनकर; वार्ताम्—समाचार को; अनति-प्रियाम्—अधिक रोचक नहीं; ततः—तत्पश्चात्; शरासनम्—धनुष-बाण; संयुग—अवसर पाकर; शौण्डिः—वीरोचित कार्य-कलाप; आददे—ग्रहण किया।

सूत गोस्वामी ने कहा : जब महाराज परीक्षित कुरु-साम्राज्य की राजधानी में रह रहे थे, तो अपने राज्य की सीमा के भीतर कलियुग के लक्षणों को प्रवेश होते देखा। जब उन्हें इसका पता चला, तो उन्हें यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। लेकिन इससे उन्हें उसके विरुद्ध लड़ने का अवसर अवश्य प्राप्त हो सका। अतएव उन्होंने अपना धनुष-बाण उठाया और सैनिक कार्यवाही के लिए सन्नद्ध हो गये।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित का राज्य-प्रशासन इतना चुस्त था कि वे अपनी राजधानी में शान्तिपूर्वक रह रहे थे। लेकिन उन्हें समाचार मिल गया कि कलियुग के लक्षण उनकी राज्य सीमा में प्रवेश पा चुके हैं, और उन्हें यह समाचार अच्छा नहीं लगा। कलियुग के लक्षण क्या हैं? ये इस प्रकार हैं: (१) स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध, (२) मांस-भक्षण की लत, (३) मादक द्रव्य सेवन (नशा); तथा (४) द्यूत-क्रीड़ा में रुचि। कलियुग का शाब्दिक अर्थ कलह का युग है और मानव समाज में उपर्युक्त चारों लक्षण सभी प्रकार के कलह के मुख्य कारण होते हैं। महाराज परीक्षित ने सुना कि उनके राज्य के कुछ लोग पहले ही उन लक्षणों के शिकार हो चुके हैं, अतएव वे चाह रहे थे कि अशान्ति के ऐसे कारणों के विरुद्ध अविलम्ब कदम उठाये जाँय। इसका अर्थ यह हुआ कि कम से कम महाराज परीक्षित के राज्य-काल तक जन-जीवन में ऐसे लक्षण व्यावहारिक रूप से अज्ञात थे और ज्योंही उनका थोड़ा पता चला, त्योंही वे उन्हें समूल नष्ट कर देना चाहते थे। यह समाचार उन्हें रुचिकर नहीं लगा, लेकिन एक दृष्टि से महाराज परीक्षित को युद्ध करने का यह अवसर मिल रहा था। यद्यपि छोटे-छोटे राज्यों से लड़ने की आवश्यकता न थी, क्योंकि वे सभी शान्तिपूर्वक उनके अधीन थे, लेकिन कलियुग के दुष्टों ने उन्हें अवसर प्रदान किया कि वे अपनी शूरता का प्रदर्शन कर सकें। पक्का क्षत्रिय, युद्ध का अवसर पाते ही, प्रफुल्लित होता है, जिस तरह खेल के मैच का अवसर उपस्थित होने पर खिलाड़ी उत्सुक हो उठता है। यह कोई तर्क नहीं है कि कलियुग में ऐसे लक्षण पूर्व-निर्धारित होते हैं। यदि ऐसा होता तो फिर ऐसे लक्षणों के विरुद्ध चढ़ाई करने की क्या आवश्यकता थी? ऐसे तर्क

आलसी तथा अभागे लोग ही देते हैं। वर्षाऋतु में वर्षा अवश्यम्भावी है; फिर भी लोग अपनी सुरक्षा के लिये सावधानी बरतते हैं। इसी प्रकार कलियुग में सामाजिक जीवन में उपर्युक्त लक्षणों का प्रविष्ट होना अवश्यम्भावी है, लेकिन यह राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों को कलियुग के एजेण्टों के सम्पर्क से बचाएँ। महाराज परीक्षित कलि के लक्षणों में शरीक होनेवाले दुष्टों को दण्डित करना चाह रहे थे और इस तरह धर्मात्मा एवं निर्दोष नागरिकों को बचाना चाहते थे। राजा का धर्म है कि वह ऐसी सुरक्षा प्रदान करे और यह ठीक ही था कि महाराज परीक्षित लड़ने के लिए तैयार हो गये।

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात् ।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सु-अलङ्कृतम्—अच्छी तरह से सजकर; श्याम—काले; तुरङ्ग—घोड़े; योजितम्—जोते हुए; रथम्—रथ को; मृग-इन्द्र—सिंह; ध्वजम्—ध्वजा लगी; आश्रितः—संरक्षण में; पुरात्—राजधानी से; वृतः—घिरा हुआ; रथ—सारथी; अश्व—अश्वारोही दल; द्विपपत्ति—हाथी; युक्तया—इस तरह सुसज्जित; स्व-सेनया—पैदल सेना के साथ; दिग्विजयाय—जीतने के लिए; निर्गतः—बाहर गया।

महाराज परीक्षित काले घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले रथ पर सवार हो गये। उनकी ध्वजा पर सिंह का चिन्ह अंकित था। इस प्रकार सुसज्जित होकर तथा सारथियों, अश्वारोहियों, हाथीयों तथा पैदल सैनिकों से घिरे हुए, उन्होंने सभी दिशाएँ जीतने के लिए राजधानी से प्रस्थान किया।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित अपने पितामह अर्जुन से इस बात में भिन्न थे कि उनके रथ को खींचनेवाले घोड़े श्वेत रंग के न होकर काले रंग के थे। उनकी ध्वजा का चिह्न सिंह था, जबकि उनके पितामह की ध्वजा पर हनुमानजी चिह्नित थे। महाराज परीक्षित जैसा राजसी जुलूस जिसमें सुसज्जित रथ, घोड़े, हाथी, पैदल सिपाही तथा बैण्ड थे, नेत्रों को अत्यन्त सुहावना लगने वाला था, लेकिन साथ ही ऐसी सभ्यता का प्रतीक है, जो लड़ाई के मैदान में भी सौन्दर्य-परक था।

भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून् ।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भद्राश्वम्—भद्राश्व; केतुमालम्—केतुमाल; च—भी; भारतम्—भारत; च—तथा; उत्तरान्—उत्तरी देश; कुरून्—कुरुवंश का राज्य; किम्पुरुष-आदीनि—हिमालय की उत्तरी दिशा के आगे का देश; वर्षाणि—पृथ्वी-लोक के भागों को; विजित्य—जीतकर; जगृहे—वसूल किया; बलिम्—भेंटें।

तब महाराज परीक्षित ने पृथ्वी-लोक के समस्त भागों—भद्राश्व, केतुमाल, भारत, कुरुजांगल का उत्तरी भाग, किम्पुरुष इत्यादि को जीत लिया और उनके शासकों से भेंटें वसूल कीं।

तात्पर्य : *भद्राश्व*—यह मेरु पर्वत के निकट का द्वीप है और यह गंधमादन पर्वत से खारे पानी के समुद्र तक फैला हुआ है। *महाभारत* (भीष्म पर्व ७.१४-१८) में इस द्वीप का वर्णन है। संजय ने धृतराष्ट्र को इसका वर्णन सुनाया था।

महाराज युधिष्ठिर ने भी इस द्वीप को जीता था और यह प्रान्त उनके राज्य की सीमा के भीतर आ गया था। महाराज परीक्षित को पहले ही अपने पितामह द्वारा शासित सारे देशों का सम्राट घोषित किया गया था, लेकिन उन्हें उस समय अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनी थी, जब वे ऐसे राज्यों से भेंटें लेने के लिए राजधानी से बाहर निकले थे।

केतुमाल—यह पृथ्वी-लोक सात समुद्रों द्वारा सात द्वीपों में विभक्त है, और जम्बूद्वीप नामक केन्द्रीय द्वीप नौ वर्षों मे अर्थात् नौ भागों में आठ विशाल पर्वतों द्वारा विभाजित किया जाता है। इनमें से भारतवर्ष भी एक है और केतुमाल को भी उपर्युक्त वर्षों में एक बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि केतुमाल वर्ष की स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर होती हैं। इस 'वर्ष' अर्थात् भू-भाग को अर्जुन ने भी जीता था। इस भू-भाग का वर्णन *महाभारत* (सभा-पर्व २८.६) में उपलब्ध है।

ऐसा कहा जाता है कि विश्व का यह भाग मेरु पर्वत के पश्चिम में स्थित है और इस प्रान्त के निवासी दस हजार वर्षों तक जीवित रहते थे (भीष्म-पर्व ६.३१)। इस भाग के मनुष्य सुनहरे रंग के होते हैं और स्त्रियाँ स्वर्ग की अप्सराओं के समान होती हैं। यहाँ के निवासी सभी प्रकार के रोगों तथा शोकों से मुक्त होते हैं।

भारतवर्ष—संसार का यह भाग भी जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से एक है। भारतवर्ष का वर्णन *महाभारत* (भीष्म पर्व, अध्याय ९ और १०) में दिया हुआ है।

जम्बूद्वीप के मध्य में इलावृत वर्ष है और इलावृतवर्ष के दक्षिण में हरिवर्ष है। इन वर्षों का वर्णन *महाभारत* (सभापर्व २८.७-८) में इस प्रकार दिया गया है—

नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः।

पुरुषान्देवकल्पांश्च नारीश्च प्रिय-दर्शनाः॥

अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनञ्जयः।

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसां निभाः॥

यहाँ पर उल्लेख है कि इन दोनों वर्षोंकी स्त्रियाँ सुन्दर होती हैं और उनमें से कुछ तो अप्सराओं के तुल्य होती हैं।

उत्तरकुरु—वैदिक भूगोल के अनुसार, जम्बूद्वीप का उत्तरी भाग उत्तरकुरुवर्ष कहलाता है। यह तीन ओर से नमकीन पानी के समुद्र से घिरा है और हिरण्मय वर्ष से शृंगवान् पर्वत के द्वारा विभाजित होता है।

किम्पुरुष वर्ष—बताया जाता है कि यह वर्ष महान् हिमालय पर्वत के उत्तर में स्थित है, जो लम्बाई और ऊँचाई में ८० हजार मील है और चौड़ाई में १६ हजार मील है। विश्व के इन भागों को भी अर्जुन ने जीता था (सभापर्व २८.१-२)। किम्पुरुष लोग दक्ष की पुत्री की सन्तानें हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ किया था, तो इन देशों के निवासी भी उस उत्सव में भाग लेने आये थे और उन्होंने सम्राट का यशोगान किया था। विश्व के इस भाग को किम्पुरुष वर्ष या कभी-कभी हिमवती (हिमालय के प्रान्त) कहा जाता है। कहा जाता है कि शुकदेव गोस्वामी इस हिमालय प्रान्त में पैदा हुए थे और वे हिमालय देशों को पार करके भारतवर्ष आये थे।

दूसरे शब्दों में, महाराज परीक्षित ने सारा विश्व जीत लिया था। उन्होंने सभी महाद्वीपों की सभी दिशाओं के समस्त सागरों से सटे हुए भाग अर्थात् पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भागों को जीत लिया था।

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।
प्रगीयमाणं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥ १३ ॥

आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।
स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे ॥ १४॥
तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ-जहाँ राजा गये; उपशृण्वानः—निरन्तर सुनते रहे; स्व-पूर्वेषाम्—अपने पुरखों के विषय में; महा-आत्मनाम्—जो सबके सब भगवान् के महान् भक्त थे; प्रगीयमाणम्—इस तरह सम्बोधित करनेवालों को; च—भी; यशः—यश; कृष्ण—भगवान् कृष्ण; माहात्म्य—यशस्वी कार्य; सूचकम्—सूचित करनेवाले; आत्मानम्—अपने को; च—भी; परित्रातम्—उद्धार किया; अश्वत्थाम्नः—अश्वत्थामा का; अस्त्र—हथियार; तेजसः—शक्तिशाली किरणें; स्नेहम्—स्नेह; च—भी; वृष्णि-पार्थानाम्—वृष्णि तथा पृथा की सन्तानों के बीच; तेषाम्—उन सब की; भक्तिम्—भक्ति; च—भी; केशवे—भगवान् कृष्ण में; तेभ्यः—उनको; परम—अत्यधिक; सन्तुष्टः—प्रसन्न; प्रीति—आकर्षण; उज्जृम्भित—हर्ष से खुले; लोचनः—नेत्रोंवाला; महा-धनानि—बहुमूल्य धन; वासांसि—वस्त्र; ददौ—दान में दिया; हारान्—गले के हार; महा-मनाः—विशाल हृदय-वाला।

राजा जहाँ कहीं भी जाते, उन्हें निरन्तर अपने उन महान् पूर्वजों का यशोगान सुनने मिलता, जो सभी भगवद्भक्त थे, तथा भगवान् श्रीकृष्ण के यशस्वी कार्यों की गाथा सुनने को भी मिलती। वे यह भी सुनते कि किस तरह वे स्वयं अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के प्रचण्ड ताप से भगवान् कृष्ण द्वारा बचाये गये थे। लोग वृष्णि तथा पृथा-वंशियों के मध्य अत्यधिक स्नेह का भी उल्लेख करते, क्योंकि पृथा भगवान् केशव के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान थी। राजा ने ऐसे यशोगान करनेवालों से अत्यधिक प्रसन्न होकर परम सन्तोष के साथ अपनी आँखें खोलीं। उदारतावश उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें मूल्यवान मालाएँ तथा वस्त्र भेंट किये।

तात्पर्य : राजाओं तथा राज्य के बड़े-बड़े लोगों को स्वागत के सम्बोधनों द्वारा मान दिया जाता है। यह प्रथा अनादिकाल से चली आ रही है। महाराज परीक्षित तो विश्व के विख्यात सम्राटों में से थे, अतएव वे विश्व के जिन-जिन स्थानों में जाते, वहीं उनको मानपत्र दिया जाता। इन सम्बोधनों के विषय होते थे कृष्ण। कृष्ण का अर्थ है कृष्ण तथा उनके सनातन भक्त, जिस तरह राजा का अर्थ होता है, राजा तथा उसके विश्वासपात्र दरबारी-गण।

कृष्ण तथा उनके अनन्य भक्तों को विलग नहीं किया जा सकता। अतएव भक्त के यशोगान का अर्थ है, भगवान् का यशोगान और भगवान् के यशोगान का अर्थ है भक्त का यशोगान। महाराज परीक्षित को अपने पूर्वज, महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन का यशोगान सुनकर इतनी प्रसन्नता न होती, यदि वे सब भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों से जुड़े न होते। भगवान् अपने भक्तों का उद्धार करने

(*परित्राणाय साधूनाम्*) के उद्देश्य से ही अवतरित होते हैं। भक्तगण भगवान् की उपस्थिति से ही महिमामंडित हो जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् तथा उनकी विभिन्न शक्तियों के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकते। भक्तों के लिए भगवान् अपने कार्यों तथा महिमा से उपस्थित रहते हैं। अतएव जब भगवान् के कार्यों द्वारा उनका यशोगान किया जा रहा था, तो उन्हें भगवान् की उपस्थिति का अनुभव हुआ, विशेष रूप से जब भगवान् ने माता के गर्भ में ही उनकी रक्षा की थी। भगवान् के भक्त कभी संकट में नहीं होते, किन्तु भौतिक जगत में वे ऊपरी रूप से भयावह परिस्थितियों में पड़ जाते हैं, क्योंकि यह जगत पद-पद पर संकटों से भरा हुआ है। अतएव जब भगवान् द्वारा भक्तों की रक्षा होती है, तो भगवान् का यशोगान किया जाता है। यदि पाण्डव जैसे भगवद्भक्त कुरुक्षेत्र के युद्ध में फँसे न होते, तो भगवान् कृष्ण कभी भी *भगवद्गीता* के उद्घोषक के रूप में महिमामण्डित न किये जाते। स्वागत-उद्बोधन में भगवान् के ऐसे समस्त कार्यों का उल्लेख था, अतएव महाराज परीक्षित ने पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होकर ऐसे मानपत्र भेंट करनेवालों को पुरस्कृत किया। आज के तथा तब के स्वागत-उद्बोधन करने में यही अन्तर है कि प्राचीन समय में महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति को ही ऐसे उद्बोधन भेंट किये जाते थे। ऐसे उद्बोधन तथ्यों तथा आँकड़ों से भरे होते थे और जो इन उद्बोधनों को भेंट करता था, वह प्रचुर पुरस्कार पाता था। किन्तु आजकल जो स्वागत-उद्बोधन भेंट किया जाता है, उसमें वास्तविक आँकड़े नहीं रहते। वह किसी पदाधिकारी को प्रसन्न करने के लिए भेंट किया जाता है और प्राय: चापलूसी से भरा हुआ रहता है। और शायद ही ऐसा मान भेंट करनेवाला कभी कोई पुरस्कार पाता हो।

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य-
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सारथ्य—सारथी के पद की स्वीकृति; **पारषद**—राजसूय यज्ञ की सभा में प्रधान पद की स्वीकृति (अग्रत्व); **सेवन**—भगवान् की सेवा में मन को निरन्तर लगाना; **सख्य**—भगवान् को मित्र-रूप में सोचना; **दौत्य**—दूत-पद को स्वीकारना; **वीर-आसन**—रात्रि में हाथ में तलवार लिए रखवाले के पद की स्वीकृति; **अनुगमन**—चरणचिह्नों पर चलना; **स्तवन**—प्रार्थना करना; **प्रणामान्**—प्रणाम् करते हुए; **स्निग्धेषु**—जो लोग भगवान् की इच्छा के प्रति विनम्र हैं उनको, विनीत; **पाण्डुषु**—पाण्डवों में;

जगत्—विश्व; प्रणतिम्—जिसकी आज्ञा का पालन किया जाय, उसको; च—तथा; विष्णोः—विष्णु की; भक्तिम्—भक्ति; करोति—करता है; नृ-पतिः—राजा; चरण-अरविन्दे—भगवान् के चरणकमलों पर।

महाराज परीक्षित ने सुना कि जिन भगवान् कृष्ण (विष्णु) की आज्ञा का पालन सारा जगत करता है, उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से पाण्डु के विनीत पुत्रों की उनकी इच्छानुसार सभी प्रकार से सेवाएँ कीं, जिनमें सारथी बनने से लेकर अग्रपूजा ग्रहण करने तथा दूत बनने, मित्र बनने, रात्रि में रक्षक बनकर सेवाएँ करने के कार्य सम्मिलित हैं। उन्होंने सेवक की भाँति पाण्डवों की आज्ञा का पालन किया तथा आयु में छोटों की भाँति उन्हें प्रणाम किया। जब महाराज परीक्षित ने यह सब सुना, तो वे भगवान् के चरणकमलों की भक्ति से अभिभूत हो उठे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पाण्डवों जैसे अनन्य भक्तों के लिए सर्वस्व हैं। वे उनके लिए परमेश्वर, गुरु, आराध्य देव, पथ-प्रदर्शक, सारथी, मित्र, सेवक, दूत तथा जो कुछ भी सोचा जा सकता है, वह सब कुछ थे। इस प्रकार भगवान् ने भी पाण्डवों की भावनाओं का प्रतिदान किया। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में महाराज परीक्षित भगवान् द्वारा अपने भक्तों की भावनाओं के दिव्य आदान-प्रदान का महत्त्व समझ सकते थे और इस तरह वे स्वयं भगवान् के आचरण से अभिभूत थे। मात्र अपने शुद्ध भक्तों के साथ भगवान् के आचरण के महत्त्व को समझ लेने से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि भक्तों के साथ भगवान् के आचरण सामान्य मानवीय आचरण जैसे प्रतीत होते हैं, लेकिन जो उन्हें यथार्थ रूप में समझता है, वह तुरन्त ही भगवद्धाम जाने के लिए सुपात्र बन जाता है। पाण्डवजन भगवान् की इच्छा के प्रति इतने विनीत थे कि वे भगवान् की सेवा में कितनी ही शक्ति लगा सकते थे और ऐसे अनन्य संकल्प से वे इच्छित रूप में भगवान् की कृपा के भाजन बन सके थे।

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम् ।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—महाराज परीक्षित का; एवम्—इस प्रकार; वर्तमानस्य—ऐसे विचारों में लीन रहकर; पूर्वेषाम्—अपने पूर्वजों में; वृत्तिम्—अच्छा कार्य; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन; न—नहीं; अति-दूरे—काफी दूर; किल—निश्चय ही; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक; यत्—वह; आसीत्—था; तत्—जो; निबोध—उसे जानो; मे—मुझसे।

अब तुम लोग मुझसे वह घटना सुन सकते हो, जो तब घटी, जब महाराज परीक्षित अपने पूर्वजों की उत्तम वृत्तियों के विषय में सुनते हुए तथा उन विचारों में डूबे हुए अपने दिन बिता रहे थे।

धर्म: पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् ।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धर्म:—साक्षात् धर्म; पदा—पाँव से; एकेन—एक ही; चरन्—विचरण करते; विच्छायाम्—शोक की छाया से ग्रसित; उपलभ्य—मिलकर; गाम्—गाय को; पृच्छति—पूछते हुए; स्म—सहित; अश्रु-वदनाम्—मुख-मंडल में अश्रुओं सहित; विवत्साम्—बिना बछड़े की; इव—सदृश; मातरम्—माता को।

साक्षात् धर्म, बैल के रूप में विचरण कर रहा था। उसे गाय के रूप में साक्षात् पृथ्वी मिली, जो ऐसी माता के समान शोकग्रस्त दिखाई पड़ी, जो अपना पुत्र खो चुकी हो। उसकी आँखों में आँसू थे और उसके शरीर का सौन्दर्य उड़ गया था। धर्म ने पृथ्वी से इस प्रकार प्रश्न किया।

तात्पर्य : बैल नैतिक सिद्धान्त का प्रतीक है और गाय पृथ्वी की प्रतिनिधि है। जब बैल तथा गाय प्रसन्न मुद्रा में रहते हैं, तो यह माना जाता है कि संसार भर के लोग भी प्रसन्न हैं। इसका कारण यह है कि बैल खेतों से अन्न उपजाने में सहायता करता है और गाय दूध देती है, जो समग्र भोज्य आहारों में चमत्कारिक पदार्थ है। अत: मानव समाज इन दो महत्त्वपूर्ण पशुओं का बड़ी ही सावधानी से पालन करता है, जिससे वे प्रसन्नतापूर्वक सर्वत्र विचरण कर सकें। लेकिन आज के समय में इस कलियुग में बैल तथा गाय दोनों का वध हो रहा है और दोनों ही उन लोगों द्वारा भोजन के रूप में उपयोग में लाये जा रहे हैं, जो ब्राह्मण संस्कृति को नहीं जानते। समस्त मानव समाज के कल्याण हेतु ब्राह्मण सभ्यता को समस्त सांस्कृतिक मामलों में सर्वोपरि सिद्धि मानकर बैल तथा गाय को बचाया जा सकता है। ऐसी संस्कृति की समृद्धि से समाज का मनोबल समुचित रूप से बना रहता है और इस तरह बिना किसी बाहरी प्रयास के ही शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है। जब ब्राह्मण संस्कृति का पतन होता है, तो गाय-बैल के साथ दुर्व्यवहार होता है और जो परिणाम निकलता है उसके निम्नलिखित प्रभुख लक्षण हैं।

धर्म उवाच
कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धर्मः उवाच—धर्म ने पूछा; कच्चित्—क्या; भद्रे—महोदया; अनामयम्—स्वस्थ एवं प्रसन्न; आत्मनः—स्वयं; ते—आपको; विच्छाया असि—शोक की छाया से आवृत प्रतीत होते हैं; म्लायता—श्याम रंग की; ईषत्—कुछ-कुछ; मुखेन—मुख मंडल से; आलक्षये—आप दिखती हो; भवतीम्—आप; अन्तराधिम्—आन्तरिक व्याधि; दूरे—दूर स्थित; बन्धुम्—मित्र के विषय में; शोचसि—चिन्ता कर रहे हैं; कञ्चन—कोई; अम्ब—हे माता।

धर्म ने (बैल रूप में) पूछा : हे महोदया, आप स्वयं स्वस्थ तथा प्रसन्न तो हैं? आप शोक की छाया से आवृत क्यों हैं? आपके मुख से ऐसा लगता है कि आप म्लान पड़ गई हैं। क्या आपको कोई भीतरी रोग हो गया है या आप अपने किसी दूर स्थित सम्बन्धी के विषय में सोच रही हैं?

तात्पर्य : इस कलियुग में विश्व भर के लोग सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं। हर एक किसी न किसी रोग से ग्रस्त है। इस युग के लोगों के चेहरों से ही उनके मनों की बात पढ़ी जा सकती है। हर व्यक्ति, घर से दूर स्थित अपने सम्बन्धी की अनुपस्थिति का अनुभव करता है। कलियुग का विशेष लक्षण यह है कि कोई भी परिवार अब एकसाथ रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाता। जीविकोपार्जन के लिए पिता अपने पुत्र से, अथवा पत्नी अपने पति से दूर रहती है। आन्तरिक रोग, प्रियजनों से विछोह तथा पूर्ववत् स्थिति बनाये रखने की चिन्ता सबों को सताती है। ये कतिपय कारण हैं जिनसे इस युग के लोग सदैव दुखी रहते हैं।

पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपाद-
मात्मानं वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणम् ।
आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादैः—तीन पाँवों से; न्यूनम्—विहीन; शोचसि—क्या आप शोक कर रही हो; मा—मेरा; एक-पादम्—केवल एक पाँव; आत्मानम्—अपना शरीर; वा—अथवा; वृषलैः—अवैध मांस-भक्षकों के द्वारा; भोक्ष्यमाणम्—शोषित किये जाने के लिए; आहोः—यज्ञ में; सुर-आदीन्—देवता-गण; हृत-यज्ञ—यज्ञ से रहित; भागान्—हिस्से; प्रजाः—जीव; उत—बढ़ता हुआ; स्वित्—कहीं; मघवति—दुर्भिक्ष में; अवर्षति—वर्षा न होने से।

मेरे तीन पाँव नहीं रहे और अब मैं केवल एक पाँव पर खड़ा हूँ। क्या आप मेरी इस दशा पर शोक कर रही हैं या इस बात पर कि अब आगे अवैध मांस-भक्षक आपका शोषण करेंगे? या आप इसलिए दुखी हैं कि अब देवताओं को यज्ञ की बलि में से अपना हिस्सा नहीं मिल रहा, क्योंकि इस समय कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं हो रहे? या आप दुर्भिक्ष तथा सूखे के कारण दुखी जीवों के लिए दुखित हो रही हैं?

तात्पर्य : ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों चार बातों का विशेष रूप से क्षरण होता जायेगा। ये हैं—आयु, दया, स्मरण-शक्ति तथा नैतिक और धार्मिक सिद्धान्त। चूँकि धर्म के चार भागों में से तीन भाग का लोप हो जायेगा, अतएव प्रतीक-स्वरूप बैल केवल एक पैर पर खड़ा था। जब सारे संसार की तीन चौथाई जनता धर्म-हीन हो जाती है, तो पशुओं के लिए नरक-जैसी-स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कलियुग में ईश्वर-विहीन सभ्यताएँ अनेक तथाकथित समितियों को जन्म देंगी, जिनमें ईश्वर की प्रत्यक्ष या परोक्ष निन्दा की जाएगी। और इस प्रकार नास्तिक समितियाँ दुनिया को ऐसा बना देगी, जिससे दुनिया अच्छे लोगों के लिए बसने योग्य नहीं रहेगी। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति श्रद्धा के अनुपात के अनुसार मनुष्य की कोटियाँ होती हैं। सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु व्यक्ति वैष्णव तथा ब्राह्मण हैं, तब क्षत्रिय, फिर वैश्य, तब शूद्र, फिर म्लेच्छ, यवन और अन्त में चण्डाल आते हैं। मानवीय भाव का पतन म्लेच्छों से प्रारम्भ हो जाता है और मनुष्य जाति के पतन में चण्डाल तो अवनति की अन्तिम अवस्था है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित ये सारे शब्द किसी जाति-विशेष या जन्म के लिए प्रयुक्त नहीं हैं। ये सामान्य रूप से मनुष्यों के विभिन्न गुण हैं। जन्म-अधिकार या जाति का कोई प्रश्न नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपने निजी प्रयासों से इन गुणों को अर्जित कर सकता है और इस तरह वैष्णव का पुत्र म्लेच्छ बन सकता है या चण्डाल का पुत्र ब्राह्मण से भी बढ़कर हो सकता है। यह सब उनके सत्संग तथा भगवान् के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध के सापेक्ष होता है।

सामान्यतया मांस खानेवालों को *म्लेच्छ* कहा जाता है। किन्तु सारे मांस-भक्षक म्लेच्छ नहीं होते। जो लोग शास्त्रीय आदेशानुसार मांस ग्रहण करते हैं, वे म्लेच्छ नहीं हैं, किन्तु जो बिना रोक-टोक के मांस-भक्षण करते हैं, वे म्लेच्छ हैं। शास्त्रों में गो-मांस वर्जित है और वेदों के अनुयायी बैलों तथा गायों को विशेष संरक्षण प्रदान करते हैं। लेकिन इस कलियुग में लोग गाय तथा बैल के शरीर का इच्छानुसार शोषण करेंगे और इस तरह वे नाना प्रकार के कष्टों को बुलावा देते रहेंगे।

इस युग के लोग कोई यज्ञ नहीं करेंगे। म्लेच्छ लोग ऐसे यज्ञों की तनिक भी परवाह नहीं करेंगे, यद्यपि भौतिक इन्द्रिय-भोग में व्यस्त रहनेवालों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य है। *भगवद्गीता* (३.१४-१६) में यज्ञों को सम्पन्न करने की जोरदार संस्तुति की गई है।

सारे जीव स्रष्टा ब्रह्मा द्वारा सृजित हैं और उत्पन्न किये गये जीवों को निरन्तर भगवद्धाम की ओर अग्रसर होने के लिए उन्होंने ही यज्ञ सम्पन्न करने की प्रणाली स्थापित की है। पद्धति यह है कि सभी जीव अन्न तथा शाक की उपज पर जाते हैं और ऐसे खाद्यपदार्थ खाकर वे रक्त तथा वीर्य के रूप में शरीर की जीवनी शक्ति को प्राप्त करते है, और रक्त तथा वीर्य से ही एक जीव दूसरे जीवों को उत्पन्न करने के लिए समर्थ बनता है। किन्तु अन्न, घास इत्यादि तभी उत्पन्न होते हैं, जब वर्षा होती है और बताये गये यज्ञों को सम्पन्न करने से ही वर्षा समुचित रूप से बरसती है। 'साम', 'यजुर्', 'ऋग्' तथा 'अथर्व' वेदों के अनुष्ठानों द्वारा ऐसे यज्ञों का निर्देशन होता है। *मनु-स्मृति* में कहा गया है कि अग्नि की वेदी पर यज्ञ करने से सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं। जब सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं, तब वे समुद्र से उचित रीति से जल एकत्र करते हैं और इस तरह आकाश में प्रचुर बादल जुटते हैं और तब वर्षा होती है। पर्याप्त वर्षा होने पर मनुष्यों तथा पशुओं के लिए प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है और इस तरह जीवों में आगे उन्नति करने के लिए शक्ति प्राप्त होती है। लेकिन म्लेच्छ-गण अन्य पशुओं के साथ-साथ बैलों तथा गायों को मारने के लिए कसाईघर स्थापित करते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि फैक्टरियों की संख्या बढ़ाकर वे उन्नति करेंगे और यज्ञों को सम्पन्न किये बिना तथा अन्न उपजाये बिना भी, वे पशु-मांस पर रह लेंगे। लेकिन उन्हें यह जान लेना चाहिए कि पशुओं के लिए भी उन्हें घास तथा वनस्पति उत्पन्न करनी होगी। अन्यथा पशु जीवित नहीं रह सकते। और पशुओं के लिए घास उत्पन्न करने के लिए उन्हें पर्याप्त वर्षा

की आवश्यकता होगी। अतएव अन्ततः उन्हें सूर्यदेव, इन्द्र, चन्द्र जैसे देवों की कृपा पर आश्रित रहना होगा और ऐसे देवताओं को यज्ञ सम्पन्न करके ही प्रसन्न किया जा सकता है।

यह भौतिक जगत एक बन्दीगृह के समान है, जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं। देवता भगवान् के सेवक हैं, जो बन्दीगृह के रख-रखाव को देखते हैं। ये देवता चाहते हैं कि जो विद्रोही जीव श्रद्धा-विहीन होकर जीवित रहना चाहते हैं, वे धीरे-धीरे भगवान् की परम शक्ति की ओर मुड़ें। अतएव शास्त्रों में यज्ञ सम्पन्न करने की संस्तुति की गयी है।

भौतिकतावादी मनुष्य कठिन श्रम करके इन्द्रिय-भोग के लिए कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं। अतः वे जीवन में पग-पग पर कई प्रकार के पाप करते हैं। किन्तु जो लोग सचेतन रहकर भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगे रहते है, वे सभी प्रकार के पाप तथा पुण्यों से परे रहते हैं। उनके कार्य-कलाप प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्त होते हैं। भक्तों को संस्तुत यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भक्त का सारा जीवन ही यज्ञ का प्रतीक है। किन्तु जो लोग इन्द्रियभोग के लिए सकाम कर्म में लगे रहते हैं, उन्हें संस्तुत यज्ञ करने चाहिए, क्योंकि सकाम-कर्मियों द्वारा किये गये समस्त पाप-कर्मों से मुक्त होने का यही एकमात्र साधन है। यज्ञ ही ऐसे संचित पापों के शमन का साधन है। देवतागण ऐसे यज्ञों के करने से उसी तरह प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार जेल के बन्दियों के आज्ञाकारी बन जाने पर बन्दीगृह के अधिकारी प्रसन्न होते हैं। किन्तु भगवान् चैतन्य ने केवल एक यज्ञ जिसे *सङ्कीर्तन-यज्ञ* कहते हैं, करने के लिए संस्तुति की है, और उसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग ले सकता है। इस तरह संकीर्तन यज्ञ अर्थात् हरे कृष्ण का कीर्तन से भक्त तथा सकाम कर्मी दोनों ही समान रूप से लाभ उठा हो सकते हैं।

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान्
शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अरक्ष्यमाणाः—अरक्षित; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उर्वि—पृथ्वी पर; बालान्—बच्चों को; शोचसि—आपको तरस आ रही है; अथो—इस तरह; पुरुष-आदैः—आदमियों के द्वारा; इव—सदृश; आर्तान्—दुखियारी; वाचम्—वाणी; देवीम्—देवी को; ब्रह्म-कुले—ब्राह्मण-कुल में; कुकर्मणि—धर्म के विरुद्ध कार्य करता है; अब्रह्मण्ये—ब्राह्मण-संस्कृति के विरोधी लोग; राज-कुले—प्रशासनिक वंश में; कुल-अछ्यान्—अधिकांश कुल (ब्राह्मण)।.

क्या आप को उन दुखियारी स्त्रियों तथा बच्चों पर दया आ रही है, जिन्हें चरित्रहीन पुरुषों द्वारा अकेले छोड़ दी गई हैं? अथवा आप इसलिए दुखी हैं कि ज्ञान की देवी अधर्म में रत ब्राह्मणों के हाथ में हैं? या यह आप देख कर दुखी हैं कि ब्राह्मणों ने उन राजकुलों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, जो ब्राह्मण संस्कृति का आदर नहीं करते?

तात्पर्य : कलियुग में ब्राह्मण तथा गायों के साथ स्त्रियाँ तथा बच्चे अत्यन्त उपेक्षित रहेंगे और अरक्षित छोड़ दिये जायेंगे। इस युग में स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध के कारण अनेक स्त्रियाँ तथा बच्चे अरक्षित हो जायेंगे। परिस्थितियों के चलते स्त्रियाँ, पुरुषों के संरक्षण से स्वतंत्र होना चाहेंगी और विवाह, पुरुष तथा स्त्री के मध्य औपचारिक समझौता मात्र बन कर रह जायेगा। अधिकतर बच्चों की ठीक से देख-रेख नहीं हो सकेगी। ब्राह्मण परम्परागत बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं, अतएव वे आधुनिक शिक्षा के शीर्ष तक पहुँच सकेंगे, किन्तु जहाँ तक चारित्रिक तथा धार्मिक नियमों का सम्बन्ध है, वे अत्यन्त गिरे हुए होंगे। शिक्षा तथा दुष्चरित्रता का कभी साथ नहीं होता, किन्तु ये दोनों साथ-साथ चलेंगे। प्रशासन के शीर्षस्थ लोग वैदिक वाङ्मय की नीतियों की भर्त्सना करेंगे और तथाकथित धर्म-निरपेक्ष राज्य का संचालन करेंगे और तथाकथित शिक्षित ब्राह्मण ऐसे चरित्रहीन लोगों द्वारा खरीद लिए जायेंगे। यहाँ तक कि दर्शनवेत्ता तथा धर्म पर अनेक पुस्तकें लिखनेवाला भी सरकार से उच्च पद स्वीकार करेगा जिसमें शास्त्रों की आचार-संहिता का तिरस्कार होता है। ब्राह्मणों को ऐसी नौकरी स्वीकार करने पर विशेष रूप से प्रतिबन्ध है। लेकिन इस युग में वे न केवल चाकरी स्वीकार करेंगे, अपितु यदि वह अति अधम प्रकार की नौकरी होगी, फिर भी वे ऐसा करेंगे। ये कलियुग के कुछ लक्षण हैं, जो मानव समाज के सामान्य कल्याण के लिए हानिकारक हैं।

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।

इतस्ततो वाशनपानवास:
स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; क्षत्र-बन्धून्—अयोग्य प्रशासक; कलिना—कलियुग के प्रभाव से; उपसृष्टान्—मोह-ग्रस्त; राष्ट्राणि—राज्य के मामले; वा—अथवा; तैः—उनके द्वारा; अवरोपितानि—अव्यवस्थित किया गया; इतः—इधर; ततः—उधर; वा—अथवा; अशन—भोजन ग्रहण करते हुए; पान—पेय; वासः—आवास; स्नान—स्नान; व्यवाय—संभोग; उन्मुख—प्रवृत्त; जीव-लोकम्—मानव-समाज।

अब तथाकथित प्रशासक इस कलियुग के प्रभाव से मोहग्रस्त हो गये हैं और इस तरह उन्होंने राज्य के सारे मामलों को अस्त-व्यस्त कर रखा है। क्या आप इस कुव्यवस्था के लिए शोक कर रही हैं? अब सामान्य जनता खाने, पीने, सोने तथा सहवास के विधि-विधानों का पालन नहीं कर रही है और वह सारे कार्य कहीं भी और कैसे भी करने के लिए सन्नद्ध रहती है। क्या आप इस कारण से अप्रसन्न हैं?

तात्पर्य : जीवन की कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं, जो पशुओं के समान ही हैं—यथा खाना, सोना, डरना तथा सहवास करना। ये शारीरिक आवश्यकताएँ मनुष्य तथा पशु दोनों के लिए हैं। लेकिन मनुष्य को इन इच्छाओं की पूर्ति पशुओं की तरह नहीं, अपितु मानव की भाँति करनी होती है। एक कुत्ता लोगों के समक्ष, बिना हिचक के, कुतिया के साथ संभोग कर सकता है, किन्तु यदि मनुष्य ऐसा करे तो इसे सामान्य रूप से अनाचार कहा जायेगा और उस व्यक्ति को अपराधी की भाँति दण्डित किया जायेगा। अतएव मनुष्य के लिए कुछ विधि-विधान हैं, जो सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी हैं। जब मानव-समाज कलियुग के प्रभाव से मोहग्रस्त हो जाता है, तो ऐसे विधि-विधानों की अनदेखी करता है। लोग इस युग में जीवन की ऐसी आवश्यकताओं में विधि-विधानों का पालन किये बिना लिप्त रहते हैं और सामाजिक तथा चारित्रिक नियमों में ऐसी गिरावट निश्चय ही शोचनीय है, क्योंकि ऐसे पाशविक आचरण के प्रभाव अत्यन्त हानिकारक होते हैं। इस युग में पिता तथा अभिभावक अपने-अपने रक्षितों के आचरण से प्रसन्न नहीं हैं। उन्हें जानना चाहिए कि कितने ही निर्दोष बालक, इस कलि के दुष्प्रभाव में आकर बुरी संगति के शिकार होते हैं। हमें *श्रीमद्भागवत* से पता चलता है कि अबोध ब्राह्मण-पुत्र, अजामिल, एक बार सड़क पर चल रहा था, तो उसने एक शूद्र दम्पत्ति को कामपीड़ित होकर एक दूसरे को आलिंगन करते देखा। इससे बालक आकृष्ट हो गया और

बाद में वह तमाम व्यसनों का शिकार बन गया। वह शुद्ध ब्राह्मण के पद से गिरकर एक अधम आवारा लुच्चा बन गया और यह सब कुसंगति के कारण हुआ। उस समाय अजामिल जैसा एक भुक्तभोगी था, किन्तु इस कलियुग में बेचारे अबोध विद्यार्थी नित्य सिनेमा के शिकार होते हैं, जिससे पुरुष केवल कामवासना की ओर प्रेरित होते हैं। तथाकथित प्रशासक सबके-सब *क्षत्रिय-कर्म* में प्रशिक्षित नहीं हैं। जिस तरह ब्राह्मण ज्ञान तथा मार्ग-दर्शन के लिए होते हैं, उसी तरह क्षत्रिय प्रशासन के लिए होते हैं। *क्षत्र-बन्धु* शब्द उन तथाकथित प्रशासकों या व्यक्तियों का सूचक है, जो संस्कृति तथा परम्परा-विषयक उचित प्रशिक्षण पाये बिना प्रशासक के पद पर बिठा दिये गये हैं। आजकल वे इन उच्च पदों पर उस जनता के मतों द्वारा पहुँच जाते हैं, जिसका स्वयं जीवन के विधि-विधानों में अधोपतन हुआ होता है। जिन लोगों का जीवन-स्तर इतना निम्न हो, वे भला किस तरह उचित व्यक्ति का चुनाव कर सकते हैं? अतएव, कलियुग के प्रभाव से सर्वत्र हर वस्तु—राजनीतिक, सामाजिक, अथवा धार्मिक—उलट-पुलट है, अतएव बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह चिन्ता की बात है।

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यद्वा—हो सकता है; अम्ब—हे माता; ते—आपका; भूरि—भारी; भर—बोझा; अवतार—बोझा घटाना; कृत—किया गया; अवतारस्य—अवतारी; हरेः—भगवान् श्रीकृष्ण का; धरित्रि—हे पृथ्वी; अन्तर्हितस्य—दृष्टि से ओझल भगवान् का; स्मरती—सोचते हुए; विसृष्टा—किया गया सब कुछ; कर्माणि—कर्म; निर्वाण—मोक्ष; विलम्बितानि—जो निहित हो।

हे माता पृथ्वी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि ने तुम्हारे भारी बोझ को उतारने के लिए ही श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं अवतार लिया। यहाँ के उनके सारे कार्य दिव्य हैं और वे मोक्ष-पथ को पक्का करनेवाले हैं। अब आप उनकी उपस्थिति से विहीन हो गई हैं। शायद अब आप उन्हीं कार्यों को सोच रही हैं और उनकी अनुपस्थिति में दुखी हो रही हैं।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यों में मोक्ष सम्मिलित है, किन्तु वे किसी निर्वाण या मोक्ष से प्राप्त होनेवाले आनन्द से अधिक आनन्ददायी हैं। श्रील जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के

मतानुसार, यहाँ पर प्रयुक्त शब्द *निर्वाण-विलम्बितानि* का अर्थ है, ''मोक्ष के महत्त्व को कम करनेवाला'' निर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कठोर तपस्या करनी होती है, लेकिन भगवान् इतने दयालु हैं कि वे पृथ्वी का भार कम करने के लिए अवतरित होते हैं। मनुष्य ऐसे कार्यों को केवल स्मरण करके निर्वाण से प्राप्त होनेवाले सुख को लात मार कर, भगवान् का सान्निध्य पाने और वहाँ उनकी आनन्दमयी सेवा में लगे रहने के लिए उनके दिव्य धाम में पहुँच सकता है।

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि ।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; मम—मुझको; आचक्ष्व—कृपया बताओ; तव—तुम्हारे; आधिमूलम्—आपके दुखों की जड़; वसुन्धरे—हे समस्त धन की खान; येन—जिससे; विकर्शिता असि—इतनी दुर्बल हो; कालेन—समय के प्रभाव से; वा—अथवा; ते—आपका; बलिनाम्—अत्यन्त शक्तिशाली से; बलीयसा—अधिक शक्तिशाली; सुर-अर्चितम्—देवताओं द्वारा वन्दनीय; किम्—क्या; हृतम्—छीन लिया; अम्ब—माता; सौभगम्—सौभाग्य।

हे माता, आप सारे धन की खान हैं। कृपया मुझे अपने उन कष्टों का मूल कारण बतायें, जिससे आप इस दुर्बल अवस्था को प्राप्त हुई हैं। मैं सोचता हूँ कि अत्यन्त बलवानों को भी जीतनेवाले प्रबल काल ने देवताओं द्वारा वन्दनीय आपके सारे सौभाग्य को छीन लिया है।

तात्पर्य : भगवान् की कृपा से प्रत्येक ग्रह पूर्णत: सुसज्जित रूप में सृजित होता है। अतएव यह पृथ्वी अपने निवासियों के पालन हेतु आवश्यक सम्पत्ति से पूर्ण रूप से सुसज्जित है और इतना ही नहीं, अपितु जब भगवान् इस धरा पर अवतरित होते हैं, तब सारी पृथ्वी सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से इतनी समृद्ध हो जाती है कि स्वर्ग के निवासी भी बड़े प्यार से इसकी पूजा करते हैं। लेकिन भगवान् की इच्छा से सारी पृथ्वी तुरन्त बदल सकती है। वे अपनी मृदुल इच्छानुसार इसे बना-बिगाड़ सकते हैं। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह आत्म-निर्भर है या भगवान् से स्वतंत्र है।

धरण्युवाच
भवान् हि वेद तत्सर्वं

यन्मां धर्मानुपृच्छसि ।
चतुर्भिर्वर्तसे येन
पादैर्लोकसुखावहै: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धरणी उवाच—माता पृथ्वी ने उत्तर दिया; भवान्—आप; हि—निश्चय ही; वेद—जानते हैं; तत् सर्वम्—वह सब, जिसे आप मुझसे पूछा है; यत्—जो; माम्—मुझसे; धर्म—हे धर्म-रूप पुरुष; अनुपृच्छसि—आप एक-एक करके पूछा; चतुर्भि:—चारों; वर्तसे—आप उपस्थित हो; येन—जिससे; पादै:—पाँवों से; लोक—प्रत्येक लोक में; सुख-आवहै:—सुख को बढ़ानेवाला।

(गाय के रूप में) पृथ्वी देवी ने (बैल-रूप में) धर्म-रूप पुरुष को इस प्रकार उत्तर दिया : हे धर्म, आपने मुझसे जो भी पूछा है, वह आपको ज्ञात हो जायेगा। मैं आपके उन सारे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करूँगी। कभी आप भी अपने चार पाँवों द्वारा पालित थे और आपने भगवान् की कृपा से सारे विश्व में सुख की वृद्धि की थी।

तात्पर्य : धर्म के नियमों की स्थापना भगवान् स्वयं करते हैं और ऐसे नियमों को कार्यान्वित करनेवाले हैं धर्मराज या यमराज। ऐसे नियम सत्ययुग में पूरी तरह काम करते हैं, त्रेतायुग में इनमें एक चौथाई कमी आ जाती है, द्वापरयुग में आधी कमी आती है और कलियुग में ये एक चौथाई रह जाते हैं और धीरे-धीरे घट कर शून्य पर आ जाते हैं; तब प्रलय हो जाती है। विश्व में सुख धार्मिक नियमों के पालन के अनुपात में मिलता है, चाहे वह व्यक्तिगत रूप से हो या सामूहिक रूप से। सर्वश्रेष्ठ शौर्य यही होगा कि सभी प्रकार की विषमताओं के होते हुए भी, धर्म को धारण किया जाय। इस तरह मनुष्य अपने जीवनकाल में सुखी हो सकता है और अन्तत: भगवद्धाम को लौट सकता है।

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्याग: सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तप: साम्यं तितिक्षोपरति: श्रुतम् ॥ २६ ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृति: ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ २७ ॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रय: शीलं सह ओजो बलं भग: ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृति: ॥ २८ ॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणा: ।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥ २९ ॥

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सच्चाई; शौचम्—स्वच्छता; दया—दूसरे के दुखों को न सह पाना; क्षान्तिः—क्रोध का कारण होते हुए भी आत्मसंयम; त्यागः—वैराग्य; सन्तोषः—आत्म-तुष्टि; आर्जवम्—स्पष्टता; शमः—मन की स्थिरता; दमः—इन्द्रियों का संयम; तपः—अपने उत्तरदायित्व के प्रति सच्चाई; साम्यम्—मित्र तथा शत्रु के बीच भेदभाव न करना; तितिक्षा—अन्यों के अपराधों के प्रति सहनशीलता; उपरतिः—लाभ-हानि के प्रति उदासीनता; श्रुतम्—शास्त्रों के आदेशों का पालन; ज्ञानम्—ज्ञान (आत्म-साक्षात्कार); विरक्तिः—इन्द्रियभोग से अनासक्ति; ऐश्वर्यम्—नायकत्व; शौर्यम्—बहादुरी; तेजः—प्रभाव, प्रताप; बलम्—असम्भव को सम्भव बनाना; स्मृतिः—समुचित कर्तव्य की खोज; स्वातन्त्र्यम्—अन्यों पर आश्रित न रहना; कौशलम्—सारी कार्यकुशलता; कान्तिः—सौन्दर्य; धैर्यम्—उपद्रव से मुक्ति; मार्दवम्—दयालुता; एव—इस प्रकार; च—भी; प्रागल्भ्यम्—उदारता; प्रश्रयः—विनय; शीलम्—शील; सहः—संकल्प; ओजः—पूर्ण ज्ञान; बलम्—उपयुक्त दक्षता; भगः—भोग का विषय; गाम्भीर्यम्—प्रसन्नता; स्थैर्यम्—स्थिरता; आस्तिक्यम्—आज्ञाकारिता; कीर्तिः—यश; मानः—पूजित होने के योग्य; अनहङ्कृतिः—निरभिमानता; एते—ये सब; च अन्ये—तथा अन्य अनेक; च—तथा; भगवन्—भगवान्; नित्याः—शाश्वत; यत्र—जहाँ; महा-गुणाः—बड़े-बड़े गुण; प्रार्थ्याः—रखने के योग्य; महत्त्वम्—महानता; इच्छद्भिः—इच्छा करनेवाले; न—कभी नहीं; वियन्ति—घटते हैं; स्म—सदैव; कर्हिचित्—किसी समय; तेन—उनके द्वारा; अहम्—मैं; गुण-पात्रेण—समस्त गुणों का आगार; श्री—भाग्य की देवी; निवासेन—रहने के स्थान द्वारा; साम्प्रतम्—हाल ही में; शोचामि—सोच रही हूँ; रहितम्—विहीन; लोकम्—ग्रह; पाप्मना—समस्त पापों के संग्रह से; कलिना—कलि द्वारा; ईक्षितम्—देखा जाता है।

उनमें निम्नलिखित गुण तथा अन्य अनेक दिव्य गुण पाये जाते हैं, जो शाश्वत रूप से विद्यमान रहते हैं और उनसे कभी विलग नहीं होते। ये हैं (१) सच्चाई (२) स्वच्छता (३) दूसरे के दुखों को सह न पाना, (४) क्रोध को नियंत्रित करने की शक्ति, (५) आत्मतुष्टि, (६) निष्कपटता, (७) मन की स्थिरता, (८) इन्द्रियों का संयम, (९) उत्तरदायित्व, (१०) समता, (११) सहनशीलता, (१२) समदर्शिता, (१३) आज्ञाकारिता, (१४) ज्ञान, (१५) इन्द्रिय भोग से अनासक्ति, (१६) नायकत्व, (१७) बहादुरी, (१८) प्रभाव, (१९) असम्भव को सम्भव बनाना, (२०) कर्तव्य पालन, (२१) पूर्ण स्वतंत्रता,(२२) कार्य कुशलता, (२३) सौन्दर्यमयता, (२४) धैर्य, (२५) दयालुता, (२६) उदारता, (२७) विनय, (२८) शील,(२९) संकल्प, (३०) ज्ञान की पूर्णता, (३१) उपयुक्त दक्षता, (३२) समस्त भोग विषयों का स्वामित्व, (३३) प्रसन्नता, (३४) स्थिरता, (३५) आज्ञाकारिता, (३६) यश, (३७) पूजा, (३८) निरभिमानता, (३९) अस्तित्व (भगवान् के रूप में), (४०) शाश्वतता। समस्त सत्त्व तथा सौन्दर्य के आगार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने इस धरा पर अपनी दिव्य लीलाएँ बन्द कर दी हैं। उनकी अनुपस्थिति में कलि ने सर्वत्र अपना प्रभाव फैला लिया है। अतएव मैं संसार की यह दशा देखकर अत्यन्त दुखी हूँ।

तात्पर्य : भले ही पृथ्वी को चूर्ण-चूर्ण करके इसके परमाणुओं को गिन लिया जाय, तो भी भगवान् के दिव्य गुणों का अनुमान लगाना दुष्कर होगा। कहा जाता है कि भगवान् अनन्तदेव ने अपनी अनन्त जिह्वाओं से परमेश्वर के दिव्य गुणों का गान करना चाहा, किन्तु भगवान् के गुणों का अनुमान लगा पाना अनन्त वर्षों तक सम्भव न हो पाया। भगवान् के गुणों के विषय में उपर्युक्त कथन उतनी ही दूर तक सही है जहाँ तक मनुष्य उन गुणों को देख पाता है। किन्तु यदि इतने ही गुण मान लिए जाँय, तो भी वे कई उपशीर्षकों में विभाजित किये जा सकते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, तीसरे गुण, अर्थात् दूसरे के दुखों को न सह पाना, के दो उपविभाग हो सकते हैं—(१) शरणागत जीवों की रक्षा तथा (२) भक्तों के लिए शुभकामनाएँ। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे चाहते हैं कि प्रत्येक जीव उन्हीं की शरण में आये और वे आश्वस्त करते हैं कि जो लोग ऐसा करेंगे, उनकी वे सारे पापों से रक्षा करेंगे। जो शरणागत नहीं हैं, वे भगवान् के भक्त नहीं हैं और इस प्रकार हर एक को विशेष सरंक्षण प्रदान नहीं किया जाता है। किन्तु भक्तों के साथ उनकी समस्त शुभकामनाएँ रहती हैं और जो लोग वास्तव में उनकी दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगे रहते हैं, भगवान् उन पर विशेष ध्यान देते हैं। वे ऐसे शुद्ध भक्तों का मार्गदर्शन करते हैं, जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भगवद्धाम लौटने में समर्थ हो सकें। समता (१०) से, भगवान् हर एक पर समान रूप से दयालु हैं, जिस तरह से सूर्य हर एक को समान रूप से अपनी किरणें वितरित करता है। फिर भी ऐसे अनेक लोग होते हैं, जो सूर्य की किरणों का लाभ नहीं उठा पाते। इसी प्रकार, भगवान् कहते हैं कि उनके शरणागत होना एक प्रकार से सुरक्षा की गारन्टी है, किन्तु जो अभागे हैं, वे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर पाते और इस प्रकार भौतिक कष्टों को भोगते रहते हैं। इस तरह यद्यपि भगवान् सबों के समान रूप से शुभचिन्तक हैं, तो भी अभागे जीव कुसंगति के कारण ही उनके उपदेशों को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते। इसके लिए भगवान् को कभी भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वे केवल भक्तों के शुभचिन्तक कहलाते हैं। वे अपने भक्तों के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह जीव पर निर्भर करता है कि वह भगवान् के समान व्यवहार को स्वीकार करे या ठुकरा दे।

भगवान् कभी अपने वचनों से मुकरते नहीं। जब वे सुरक्षा का आश्वासन दे देते हैं, तो चाहे जो भी हो, वे अपने वचनों को पूरा करते हैं। यह शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि भगवान् ने, या भगवान् के

प्रामाणिक प्रतिनिधि ने अर्थात् गुरु ने, उस पर जो भार सौंपा है, वह उसे पूरा करने के लिए दृढ़ रहे। शेष तो भगवान् अबाध रूप से पूरा करेंगे।

भगवान् का उत्तरदायित्व भी अद्वितीय है। भगवान् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, क्योंकि उनके सारे कार्य उनके द्वारा नियुक्त की गई विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। फिर भी वे अपनी दिव्य–लीलाओं का प्रदर्शन करते समय कुछ स्वैच्छिक जिम्मेदारियाँ निभाते हैं। बालक के रूप में वे ग्वाल–बाल की भूमिका निभा रहे थे। उन्होंने नन्द महाराज के पुत्र के रूप में अपनी जिम्मेदारी बहुत अच्छे से निभाई। इसी प्रकार जब वे महाराज वसुदेव के पुत्र–रूप में क्षत्रिय की भूमिका निभा रहे थे, तब उन्होंने शूरवीर क्षत्रिय की सम्पूर्ण निपुणता दिखलाई। प्राय: सदा ही, क्षत्रिय राजा को युद्ध जीतकर या अपहरण करके पत्नी प्राप्त करनी होती थी। इस तरह का आचरण क्षत्रिय के लिए प्रशंसनीय होता था, क्योंकि क्षत्रिय को अपनी होनेवाली पत्नी के समक्ष बहादुरी का प्रदर्शन करना होता था, जिससे क्षत्रिय पुत्री अपने होनेवाले पति के पराक्रम को देख सके। यहाँ तक कि भगवान् श्रीरामचन्द्र को भी अपने विवाह के समय ऐसे ही शौर्य का प्रदर्शन करना पड़ा। उन्होंने सबसे मजबूत धनुष, *हरधनुर्* को तोड़ा और समस्त ऐश्वर्य की जननी सीतादेवी को वरण किया। क्षत्रियत्व का प्रदर्शन विवाहोत्सव के समय ही होता है और ऐसे युद्ध में कोई दोष नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इस उत्तरदायित्व को भी पूरी तरह निभाया, क्योंकि यद्यपि उनकी सोलह हजार से अधिक पत्नियाँ थीं, किन्तु उन्होंने हर एक को पाने के लिए वीर क्षत्रिय की भाँति युद्ध किया था। सोलह हजार पत्नियों के लिए सोलह हजार बार युद्ध करना भगवान् के लिए ही सम्भव था। इसी प्रकार उन्होंने प्रत्येक लीला के प्रत्येक कार्य में पूरी जिम्मेदारी दिखाई।

चौदहवाँ गुण है, ज्ञान, जिसे पुन: पाँच उपविभागों में बाँटा जा सकता है, अर्थात्—(१) बुद्धि, (२) कृतज्ञता, (३) देश काल तथा वस्तु के अनुसार परिस्थितियों को समझने की शक्ति, (४) हर वस्तु का पूर्ण ज्ञान; तथा (५) आत्मज्ञान। जो मूर्ख होते हैं, वे ही अपने उपकारियों के प्रति कृतघ्न होते हैं। लेकिन भगवान् तो खुद के अतिरिक्त अन्य किसी से कोई लाभ नहीं चाहते, क्योंकि वे स्वयंसम्पूर्ण हैं; फिर भी वे अपने भक्तों की अनन्य सेवा से लाभान्वित अनुभव करते हैं। भगवान् अपने भक्तों के प्रति ऐसी सरल, अप्रतिबन्धित सेवा के लिए कृतज्ञता का अनुभव करते हैं और सेवा द्वारा प्रतिदान करते

हैं, यद्यपि भक्त के मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं रहती। भगवान् की दिव्य सेवा, भक्त के लिए अपने में ही दिव्य लाभ है, अतएव भक्त को भगवान् से किसी वस्तु की आशा नहीं होती। वैदिक नीति-वाक्य, *सर्वं खल्विदं ब्रह्म,* के आधार पर भगवान् अपने तेज की सर्वव्यापी किरणों के द्वारा, जिन्हें ब्रह्मज्योति कहते हैं, प्रत्येक वस्तु के भीतर या बाहर, सर्वव्यापी भौतिक आकाश की तरह, व्याप्त हैं और इस तरह वे सर्वज्ञ भी हैं।

जहाँ तक भगवान् के सौन्दर्य की बात है, उनमें कुछ विशिष्ट लक्षण पाये जाते हैं, जिनसे वे अन्य सारे जीवों से पृथक् हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त, उनके कतिपय विशिष्ट सुन्दर लक्षण अत्यन्त आकर्षक हैं, जिनसे परमेश्वर की सर्वसुन्दर कृति, राधारानी का मन भी आकृष्ट हो जाता है। अतएव वे मदनमोहन कहलाते हैं, अर्थात् वे जो कामदेव के मन को भी आकृष्ट करनेवाले हैं। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने भगवान् के अन्य दिव्य गुणों का भी विश्लेषण किया है और वे इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (परब्रह्म) हैं। वे अपनी अचिन्त्य शक्तियों के कारण सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के सर्वोपरि स्वामी हैं। योगेश्वर होने के कारण उनका शाश्वत स्वरूप आध्यात्मिक है—शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द का सम्मिश्रण है। अभक्तगण उनके ज्ञान की गतिशील प्रकृति को नहीं समझ सकते, क्योंकि वे उनके ज्ञान के शाश्वत रूप तक पहुँचकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। सारे महापुरुष उनके समान ज्ञानवान बनने की आकांक्षा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य सारा ज्ञान सदैव अपर्याप्त, लोचशील तथा माप्य है, किन्तु भगवान् का ज्ञान सदैव स्थिर तथा अगाध है। श्रील सूत गोस्वामी ने *भागवत* में इसकी पुष्टि की है कि यद्यपि द्वारका के निवासी नित्य ही भगवान् के दर्शन करते थे, तो भी वे उन्हें पुन: पुन: देखने के लिए उत्सुक रहते थे। जीव भगवान् के गुणों की सराहना अन्तिम लक्ष्य के रूप में तो कर सकते हैं, किन्तु वे कभी उनकी समता नहीं कर सकते। यह भौतिक जगत महत्-तत्त्व की उपज है, जो भगवान् की कारण सागर में *योगनिद्रा* की स्वप्नावस्था है; फिर भी यह सारी सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न प्रतीत होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् की स्वप्नावस्था भी वास्तविक अभिव्यक्ति है। अतएव वे हर वस्तु को अपने दिव्य नियंत्रण में ला सकते हैं। वे जब कभी और जहाँ कहीं भी प्रकट होते हैं, अपने पूर्ण रूप में प्रकट होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह सब होते हुए, भगवान् सृष्टि का व्यापार चालू रखते हैं और ऐसा करते हुए वे अपने उन शत्रुओं को भी मोक्ष प्रदान करते हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं मारा है। वे सर्वोपरि मुक्तात्मा के लिए भी आकर्षक हैं, अतएव वे सभी देवताओं में महान् ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भी पूज्य हैं। यहाँ तक कि अपने *पुरुष अवतार* में भी वे सृजन-शक्ति के स्वामी हैं। भौतिक सृजनशक्ति उनकी अध्यक्षता में कार्यशील रहती है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है। वे भौतिक शक्ति के नियंत्रक कुन्जी समान हैं और असंख्य ब्रह्माण्डों में भौतिक शक्ति के नियंत्रण हेतु वे समस्त ब्रह्माण्डों में असंख्य अवतारों के मूल कारण हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में अन्य अवतारों के अतिरिक्त, केवल एक ब्रह्माण्ड में मनु के पाँच लाख से अधिक अवतार होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत में, जो महत् तत्त्व के परे है, अवतारों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—लेकिन विभिन्न वैकुण्ठ-लोकों में भगवान् के पूर्ण अंश होते हैं। वैकुण्ठलोक में महत् तत्त्व के असंख्य ब्रह्माण्डों के भीतर पाये जानेवाले ग्रहों से तिगुनी संख्या में ग्रह हैं। और भगवान् के जितने भी नारायण-रूप हैं, वे सब उनके वासुदेव-स्वरूप के अंश हैं। इस तरह वे एक साथ वासुदेव, नारायण तथा कृष्ण हैं। वे *श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव हैं*—एक में सब। अतएव कोई चाहे कितना महान् क्यों न हो, भगवान् के गुणों की गणना नहीं कर सकता।

आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम् ।
देवान् पितृनृषीन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाश्रमान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; अनुशोचामि—शोक कर रही हूँ; भवन्तम्—आप; च—भी; अमर-उत्तमम्—देवताओं में श्रेष्ठ; देवान्—देवताओं के लिए; पितृन्—पितृलोक के निवासियों के लिए; ऋषीन्—ऋषियों के लिए; साधून्—भक्तों के लिए; सर्वान्—सभी; वर्णान्—जातियों के लिए; तथा—और; आश्रमान्—मानव समाज के चारों आश्रमों के लिए।

हे देवताओं में श्रेष्ठ, मैं अपने विषय में तथा आपके विषय में और उसी के साथ ही साथ सभी देवताओं, ऋषियों, पितृलोक के निवासियों, भगवद्भक्तों तथा वर्णाश्रम-धर्म के पालक सभी मनुष्यों के विषय में सोच रही हूँ।

तात्पर्य : मानव जीवन को पूर्ण बनाने में मनुष्यों, देवातओं, ऋषियों, पितृलोक के निवासियों, भगवद्भक्तों तथा वर्णाश्रम-धर्म की वैज्ञानिक पद्धति का योगदान रहता है। अतएव मानव जीवन तथा

पशुजीवन में जो अन्तर है, वह वर्णाश्रम की वैज्ञानिक प्रणाली से प्रारम्भ होता है जिसका मार्गदर्शन देवताओं के लिए ऋषियों के अनुभव द्वारा होता है और जो धीरे-धीरे उठता हुआ परम पूर्ण सत्य, पूर्ण परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नित्य सम्बन्ध की स्थापना तक पहुँचता है। जब ईश्वरकृत वर्णाश्रम धर्म, जो पशु-चेतना का मानव-चेतना में और मानव-चेतना का ईश्वरीय-चेतना में विकास के निमित्त होता है, मूर्खों की प्रगति के द्वारा छिन्न कर दिया जाता है, जिससे शान्तिपूर्ण प्रगतिशील जीवन का सारा ढाँचा चरमरा जाता है। कलियुग में, विषधर सर्प का पहला आक्रमण ईश्वरकृत वर्णाश्रम धर्म पर होता है। फलस्वरूप योग्य ब्राह्मण शूद्र कहलाने लगता है और शूद्र की योग्यता वाला ब्राह्मण बन जाता है। यह सब जन्म के झूठे अधिकार से होता है। जन्म के दावे से ब्राह्मण बनना प्रामाणिक नहीं है, भले ही इससे किसी एक शर्त की पूर्ति होती हो। ब्राह्मण की असली योग्यता तो मन तथा इन्द्रियों को वश में करना तथा धैर्य, सरलता, स्वच्छता, ज्ञान, सत्य, भक्ति तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति श्रद्धा करना इत्यादि है। आधुनिक युग में, आवश्यक योग्यता पर विचार नहीं किया जाता, यहाँ तक कि *रामचरितमानस* के अत्यन्त लोकप्रिय रचयिता द्वारा भी झूठे जन्म-अधिकार को समर्थन दिया जाता है।

यह सब कलियुग का प्रभाव है। अतएव गोरूप पृथ्वी माता दयनीय दशा पर शोक व्यक्त कर रही थीं।

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः ।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥ ३२ ॥
तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिं
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा जैसे देवता; बहु-तिथम्—अनेक दिनों तक; यत्—लक्ष्मी देवी का; अपाङ्ग-मोक्ष—कृपा-कटाक्ष; कामाः—कामना करनेवाला; तपः—तपस्या; समचरन्—सम्पन्न करते हुए; भगवत्—भगवान् की; प्रपन्नाः—शरणागत; सा—वे (लक्ष्मी); श्रीः—लक्ष्मीजी; स्व-वासम्—अपने धाम को; अरविन्द-वनम्—कमलों के वन को; विहाय—छोड़कर; यत्—

जिनका; पाद—पाँव; सौभगम्—कल्याणमय; अलम्—निःसंकोच भाव से; भजते—पूजती हैं; अनुरक्ता—आकृष्ट हुई; तस्य—उनका; अहम्—मैं; अब्ज—कमल पुष्प; कुलिश—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का अंकुश; केतु—झंडा; केतैः—चिह्न; श्रीमत्—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; पदैः—चरणों के तलवों से; भगवतः—भगवान् का; समलङ्कृत-अङ्गी—इस तरह से सज्जित देहवाले; त्रीन्—तीन; अति—एक से एक बढ़कर; अरोचे—सुन्दरतापूर्वक अलंकृत; उपलभ्य—प्राप्त करके; ततः—तत्पश्चात्; विभूतिम्—विशिष्ट शक्तियों को; लोकान्—लोकों को; सः—उन्होंने; माम्—मुझको; व्यसृजत्—त्याग दिया; उत्स्मयतीम्—गर्व का अनुभव करते हुए; तत्-अन्ते—अन्त में।

सौभाग्य की देवी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा-कटाक्ष के लिए ब्रह्मा जैसे देवता तरसा करते थे और जिनके लिए वे दिन में अनेक बार भगवान् के शरणागत होते थे, वे कमल-वन के अपने निवासस्थान को त्याग कर भी भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न हुई थीं। मुझे वे विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे मैं ध्वज, वज्र, अंकुश तथा कमल चिह्नों से, जो भगवान् के चरणकमलों के चिन्ह हैं, अलंकृत होकर तीनों लोकों की सम्पत्ति को परास्त कर सकती थी। लेकिन अन्त में, जब मैंने अनुभव किया कि मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ, तब भगवान् ने मुझे त्याग दिया।

तात्पर्य : संसार का सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य भगवान् की कृपा से ही बढ़ सकता है, किसी मानवकृत योजना से नहीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे, तब उनके चरणकमल के विशिष्ट चिह्न धूलि पर अंकित होते थे, जिस विशेष कृपा के कारण सारी पृथ्वी यथासम्भव भरी-पूरी रहती थी। दूसरे शब्दों में, नदियाँ, समुद्र, वन, पर्वत तथा खानें, जो मनुष्यों तथा पशुओं की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली हैं, अपने-अपने कर्तव्यों को भलीभाँति पूरा कर रही थीं। अतएव पृथ्वी की समृद्धि ब्रह्माण्ड के तीनों के अन्य सभी ग्रहों की समृद्धि से बढ़कर थी। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पृथ्वी पर भगवान् से सदैव कृपा बनाये रखने की याचना करे, जिससे हमें उनकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो और हमें जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त हों, जिससे हम सुखी रहें। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब पृथ्वी पर अपना कार्य पूर्ण हो जाने पर भगवान् पृथ्वी छोड़कर अपने धाम चले जाते हैं, तो फिर हम उन्हें किस तरह रोक सकते हैं? इसका उत्तर यह होगा कि भगवान् को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् सर्वव्यापी होने के कारण, हमारे बीच उपस्थित हो सकते हैं, यदि हम उन्हें चाहते हैं। यदि हम श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि द्वारा उनकी भक्ति में अनुरक्त रहें, तो वे सदैव हमारे साथ रह सकते हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं।

संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे भगवान् जुड़े हुए न हो। हमें चाहिए कि हम जुड़ने के इस सम्बन्ध को ढूँढ निकालें और अपराधरहित सेवा द्वारा उनसे जुड़ जाँय। हम उनके दिव्य शब्द उच्चारण द्वारा उनसे जुड़ सकते हैं। भगवान् का पवित्र नाम तथा स्वयं भगवान् एक ही हैं और जो कोई निरपराध भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, उसे तुरन्त अनुभूति होती है कि भगवान् उसके समक्ष उपस्थित हैं। यहाँ तक कि रेडियो-ध्वनि के स्पन्दन से हम ध्वनि की आंशिक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं और दिव्यता के ध्वनि को फिर से उच्चारित करके हम निश्चय ही भगवान् की उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं। इस युग में, जबकि प्रत्येक वस्तु कलि के कल्मष से दूषित है, शास्त्रों का आदेश है तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है कि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन से हम तत्काल कल्मष से रहित हो सकते हैं और क्रमश: दिव्य पद तक ऊपर उठकर भगवद्धाम वापस जा सकते हैं। भगवन्नाम का निरपराध रूप से कीर्तन करनेवाला भक्त साक्षात् भगवान् के समान शुभ होता है और संसार भर में भगवद्भक्तों के विचरण करने से संसार के सारे कष्ट दूर हो सकते हैं। केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार-प्रसार द्वारा ही हम कलियुग के दुष्प्रभावों से बच सकते हैं।

यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।
त्वां दु:स्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; मम—मेरा; अति-भरम्—अत्यन्त बोझिल; आसुर-वंश—नास्तिक; राज्ञाम्—राजाओं का; अक्षौहिणी—एक अक्षौहिणी (एक अक्षौहिणी में २१,८७० रथ, इतने ही हाथी, १,०९,३५० पैदल सैनिक तथा ६५,६१० अश्वारोही होते हैं); शतम्—ऐसी सैकड़ों अक्षौहिणी; अपानुदत्—नष्ट कर डाली; आत्म-तन्त्रः—आत्म-निर्भर; त्वाम्—तुमको; दु:स्थम्—कठिनाई में डालकर; ऊन-पदम्—खड़े होने की शक्ति से रहित; आत्मनि—आन्तरिक; पौरुषेण—शक्ति के बल पर; सम्पादयन्—सम्पन्न करने के लिए; यदुषु—यदुवंश में; रम्यम्—दिव्य रूप से सुन्दर; अबिभ्रत्—स्वीकार किया; अङ्गम्—शरीर को।.

हे धर्म-पुरुष, मैं नास्तिक राजाओं द्वारा नियोजित अत्यधिक सैन्य-समूह के भार से बोझिल हो उठी थी और अब भगवान् की कृपा से उससे उबर सकी हूँ। इसी प्रकार आप भी कष्टप्रद अवस्था में थे और खड़े भी नहीं हो सकते थे। इस तरह आपको भी उबारने के लिए यदुवंश में वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतरित हुए थे।

तात्पर्य : असुरगण दूसरे के सुख को लूटकर भी इन्द्रियतृप्ति का जीवन बिताना चाहते हैं। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए असुरगण, विशेषतया नास्तिक राजा या राज्य के प्रशासनिक अधिकारी, अपने को अत्यन्त घातक अस्त्रों से सज्जित करके शान्तिपूर्ण समाज में युद्ध कराना चाहते हैं। उन्हें आत्मश्लाघा के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई अभिलाषा नहीं रहती। इस प्रकार पृथ्वी माता, सैन्यशक्ति में अत्यधिक वृद्धि के कारण अत्यधिक बोझिल अनुभव करती है। असुरों की वृद्धि होने से धर्मात्मा लोग, विशेषतया भक्त या देवता, दुखी होते हैं।

ऐसी परिस्थिति में, भगवान् इन अवांछित असुरों को नष्ट करने तथा धर्म की पुन:स्थापना करने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यही उद्देश्य था और इसे उन्होंने पूरा किया।

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया: ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; वा—या तो; सहेत—सहन कर सकता है; विरहम्—वियोग; पुरुष-उत्तमस्य—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; प्रेम—प्रेममयी; अवलोक—चितवन; रुचिर-स्मित—मोहक हँसी; वल्गु-जल्पैः—हृदय को भानेवाली बोली; स्थैर्यम्—गम्भीरता; स-मानम्—प्रणय-सम्बन्धी क्रोध; अहरत्—जीता; मधु—प्रियतमा; मानिनीनाम्—सत्यभामा जैसी स्त्रियों का; रोम-उत्सवः—प्रसन्नता से रोमांच; मम—मेरा; यत्—जिसका; अङ्घ्रि—पाँव; विटङ्किताया:—से अंकित।

अतएव ऐसा कौन है, जो उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विरह की व्यथा को सह सकता है? वे अपनी प्रेमभरी मीठी मुस्कान, सुहावनी चितवन तथा मीठी-मीठी बातों से सत्यभामा जैसी प्रियतमाओं की गम्भीरता तथा प्रणय क्रोध (हाव-भाव) को जीतनेवाले थे। जब वे मेरी (पृथ्वी की) सतह पर चलते थे, तो मैं उनके चरणकमल की धूल में धँस जाती थी और फिर घास से आच्छादित हो जाती थी, जो हर्ष से उत्पन्न मेरे शरीर पर रोमांच जैसा था।

तात्पर्य : भगवान् तथा भगवान् की हजारों रानियों के मध्य, घर से जाने पर, वियोग की अनेक सम्भावनाएँ थीं, लेकिन जहाँ तक पृथ्वी का सम्बन्ध है, भगवान् के चरणकमलों को तो पृथ्वी पर पड़ना ही था, अतएव वियोग की कोई सम्भावना न थी। किन्तु जब भगवान् पृथ्वी को छोड़कर अपने दिव्य-धाम चले गये, तो पृथ्वी की वियोग-भावना अत्यन्त तीव्र हो गई।

तयोरेवं कथयतो: पृथिवीधर्मयोस्तदा ।
परीक्षिन्नाम राजर्षि: प्राप्त: प्राचीं सरस्वतीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके मध्य; एवम्—इस प्रकार; कथयतोः—वार्ता में संलग्न; पृथिवी—पृथ्वी; धर्मयोः—तथा धर्म दोनों; तदा—उस समय; परीक्षित्—राजा परीक्षित; नाम—नामक; राज-ऋषिः—राजाओं में ऋषि-तुल्य; प्राप्तः—आ गये; प्राचीम्—पूर्व-वाहिनी; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी के तट पर।

जब पृथ्वी तथा धर्म-पुरुष इस प्रकार बातों में संलग्न थे, तो राजर्षि परीक्षित पूर्व की ओर बहनेवाली सरस्वती नदी के तट पर पहुँच गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'परीक्षित ने कलियुग का सत्कार किस तरह किया' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

कलि को दण्ड तथा पुरस्कार

सूत उवाच
तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; तत्र—वहाँ; गो-मिथुनम्—गाय तथा बैल को; राजा—राजा; हन्यमानम्—मारे जाते हुए; अनाथ-वत्—अपने मालिक से विलग हुए प्रतीत होनेवाले; दण्ड-हस्तम्—हाथों में लट्ठ लिए; च—भी; वृषलम्—निम्न जाति के शूद्र को; ददृशे—देखा; नृप—राजा की तरह; लाञ्छनम्—वेश धारण किये।

सूत गोस्वामी ने कहा : उस स्थान पर पहुँचकर महाराज परीक्षित ने देखा कि एक नीच जाति का शूद्र, राजा का वेश बनाये, एक गाय तथा एक बैल को लट्ठ से पीट रहा था, मानो उनका कोई स्वामी न हो।

तात्पर्य : कलियुग का मुख्य लक्षण यह है कि निम्न जाति के शूद्र, अर्थात् ब्राह्मण संस्कृति तथा आध्यात्मिक दीक्षा से रहित मनुष्य प्रशासकों या राजाओं का वेश धारण करेंगे और ऐसे अ-क्षत्रिय शासकों का प्रमुख व्यवसाय होगा, निर्दोष पशुओं को, विशेष रूप से ऐसी गायों तथा बैलों को जान से

मारना, जो अपने स्वामियों अर्थात् प्रामाणिक वैश्यों द्वारा अरक्षित होंगी। *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है कि वैश्यों का कार्य कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार से सम्बन्धित है। कलियुग में पतित वैश्य गायों को कसाईघरों में पहुँचाने में लगे रहते हैं। क्षत्रियों का कार्य राज्य के नागरिकों की रक्षा करना है, जबकि वैश्य गायों तथा बैलों की रक्षा करने तथा उन्हें अन्न तथा दूध-उत्पादन में उपयोग करने के लिए होते हैं। गाय दूध देने तथा बैल अन्न उत्पादन करने के लिए होता है। लेकिन कलियुग में शूद्र जाति के लोग प्रशासक-पदों पर हैं और माता एवं पिता तुल्य गाएँ तथा बैल, वैश्यों के द्वारा सुरक्षित न होने के कारण, शूद्र प्रशासकों द्वारा संचालित कसाईघरों में भेज दिये जाते हैं।

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वृषम्—बैल को; **मृणाल-धवलम्**—श्वेत कमल के समान सफेद; **मेहन्तम्**—पेशाब करता; **इव**—मानो; **बिभ्यतम्**—अत्यधिक डरा हुआ; **वेपमानम्**—काँपता हुआ; **पदा एकेन**—एक ही पैर पर खड़ा; **सीदन्तम्**—डरा हुआ; **शूद्र-ताडितम्**—शूद्र द्वारा मारे जाने से।.

बैल इतना धवल था कि जैसे श्वेत कमल पुष्प हो। वह उस शूद्र से अत्यधिक भयभीत था, जो उसे मार रहा था। वह इतना डरा हुआ था कि एक ही पैर पर खड़ा थरथरा रहा था और पेशाब कर रहा था।

तात्पर्य : कलियुग का दूसरा लक्षण यह है कि धर्म के नियम, जो श्वेत-कमल के समान निष्कलुष तथा श्वेत हैं, उन पर इस युग के असंस्कृत शूद्र जनों का आक्रमण होगा। भले ही वे ब्राह्मण या क्षत्रिय पूर्वजों की सन्तानें हों, लेकिन समुचित शिक्षा तथा वैदिक वाङ्मय की संस्कृति के अभाव में, ऐसे शूद्र-तुल्य लोग धार्मिक नियमों की अवहेलना करेंगे और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति ऐसे लोगों से भयभीत रहेंगे। वे अपने को किसी भी धर्म के अनुयायी न होने की घोषणा करेंगे और कलियुग में धर्म-रूपी निर्मल बैल को ही मारने के लिए, अनेक 'वाद' तथा सम्प्रदाय उत्पन्न होंगे। राजसत्ता को धर्म-निरपेक्ष अर्थात् किसी विशेष धार्मिक सिद्धान्त से रहित घोषित किया जायेगा; फलस्वरूप धर्म के प्रति पूरी उपेक्षा बरती जाएगी। नागरिक मनमाना कर्म करने के लिए स्वतंत्र होंगे और वे साधु, शास्त्र तथा गुरु का सम्मान नहीं करेंगे। एक पाँव पर खड़ा बैल इस बात का संकेत है कि धर्म के नियम

क्रमशः विलुप्त हो रहे हैं। धार्मिक नियमों का आंशिक अस्तित्व भी अनेक अवरोधों से संशयपूर्ण रहेगा, मानो वह किसी समय लड़खड़ाकर गिरनेवाला है।

गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।
विवत्सामाश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गाम्—गाय को; च—भी; धर्म-दुघाम्—उससे धर्म निकालने के कारण उपयोगी; दीनाम्—अब दीन बनी हुई; भृशम्—दुखी; शूद्र—निम्न जाति; पद-आहताम्—पाँव पर प्रहार की गई; विवत्साम्—बछड़े से रहित; आश्रु-वदनाम्—आँखों से आँसू भरे; क्षामाम्—अत्यन्त कृश, कमजोर; यवसम्—घास को; इच्छतीम्—मानो खाने की इच्छा करती हुई।

यद्यपि गाय उपयोगी है, क्योंकि उससे धर्म प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अब वह दीन तथा बछड़े से रहित हो गई थी। उसके पाँवों पर शूद्र प्रहार कर रहा था। उसकी आँखों में आँसू थे और वह अत्यन्त दुखी तथा कमजोर थी। वह खेत की थोड़ी-सी घास के लिए लालायित थी।

तात्पर्य : कलि का अगला लक्षण है, गाय की दुखी अवस्था। गाय दुहने का अर्थ है, द्रव-रूप में धर्म प्राप्त करना। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि केवल दुग्धाहार करते थे। श्रील शुकदेव गोस्वामी गृहस्थ के यहाँ तब जाते, जब वह गाय दुहता होता और वे अपने निर्वाह भर के लिए उससे थोड़ा दूध लेते। यहाँ तक कि पचास वर्ष पहले तक, लोग साधु को एक गिलास दूध दिये बिना नहीं रहते थे। प्रत्येक गृहस्थ जल की तरह दूध देता था। सनातनधर्मी (वैदिक नियमों का अनुयायी) के लिए, यह प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि वह न केवल दूध प्राप्त करने के लिए, अपितु धार्मिक नियमों को प्राप्त करने के लिए गाएँ तथा बैल रखे। सनातनी लोग धार्मिक नियमों के आधार पर गाय की पूजा करते हैं और ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं। यज्ञ की अग्नि के लिए गो-दुग्ध की आवश्यकता होती है और यज्ञ करने से गृहस्थ सुखी रहता है। गाय का बछड़ा देखने में सुन्दर होता है और गाय को तुष्टि प्रदान करता है, जिससे वह अधिकाधिक दूध देती है। किन्तु कलियुग में, बछड़े को गाय से उन कारणों से जल्दी से जल्दी विलग कर दिया जाता है, जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के इन पृष्ठों में नही किया जा सकता है। गाय अपनी आँखों में आँसू भर कर खड़ी रहती है और शूद्र ग्वाला कृत्रिम रीति से गाय को दुह लेता है और जब गाय दूध देना बन्द कर देती है, तो उसे काटे जाने के लिए भेज दिया जाता है। आधुनिक समाज में फैले हुए सभी कष्टों के लिए ये अत्यन्त जघन्य कृत्य ही उत्तरदायी हैं। लोगों को

यही पता नहीं चल पाता कि आर्थिक विकास के नाम पर वे क्या कर रहे हैं? कलियुग का प्रभाव उन्हें अज्ञान के अंधकार में रखेगा। शान्ति तथा सम्पन्नता के समस्त प्रयासों के बावजूद, उन्हें चाहिए कि वे गायों तथा बैलों को सभी प्रकार से सुखी रखें। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि गायों तथा बैलों को सुखी रखकर स्वयं सुखी कैसे बना जाये, लेकिन यह तो प्रकृति के नियम के अनुसार हकीकत है। इसके लिए हमें *श्रीमद्भागवत* को प्रमाण मानना चाहिए और मानवता के पूर्ण सुख के लिए इन नियमों को अपनाना चाहिए।

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम् ।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; रथम्—रथ पर; आरूढः—आसीन; कार्तस्वर—सोने से; परिच्छदम्—जटित; मेघ—बादल; गम्भीरया—दोष-मुक्त कराते हुए; वाचा—वाणी; समारोपित—पूरी तरह सज्जित; कार्मुकः—धनुष-बाण।

धनुष-बाण से सज्जित तथा स्वर्ण-जटित रथ पर आसीन, महाराज परीक्षित उससे (शूद्र से) मेघ के समान गर्जना करनेवाली गम्भीर वाणी से बोले।

तात्पर्य : दुष्टों को दण्डित करने के लिए हथियारों से लैस, राजसी प्राधिकार से सम्पन्न, महाराज परीक्षित जैसा शासक या राजा ही कलियुग के एजन्यें को ललकार सकता है। तभी इस अधम युग का सामना कर पाना सम्भव हो पाएगा। ऐसे सशक्त प्रशासनाधिकारी के अभाव में, सदैव शान्ति भंग होती रहती है। चुने हुए दिखावटी प्रशासक, अधम जनता के प्रतिनिधि के रूप में, कभी भी महाराज परीक्षित जैसे बलवान राजा की समता नहीं कर सकते। राजवेष अथवा राजसी-शैली का कोई अर्थ नहीं होता। मनुष्य के कार्य ही हैं, जिनकी गिनती होती है।

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली ।
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाद्विजः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन हो; त्वम्—तुम; मत्—मेरी; शरणे—संरक्षण में; लोके—इस संसार में; बलात्—बलपूर्वक; हंसि—मार रहे हो; अबलान्—असहायों को; बली—यद्यपि बल से युक्त; नर-देवः—मनुष्य-रूप देवता; असि—प्रतीत होते हो; वेषेण—अपने वेश से; नट-वत्—अभिनेता जैसे; कर्मणा—कामों से; अद्वि-जः—जो द्विज न हो।

अरे, तुम हो कौन? तुम बलवान प्रतीत हो रहे हो, फिर भी तुम उन असहायों को मारने का साहस कर रहे हो, जो मेरे संरक्षण में हैं! वेष से तुम देवतुल्य पुरुष (राजा) बने हुए हो, किन्तु अपने कार्यों से तुम द्विज क्षत्रियों के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहे हो।

तात्पर्य : ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं, क्योंकि इनका पहला जन्म माता-पिता के संयोग से होता है और दूसरा जन्म प्रामाणिक आचार्य या गुरु द्वारा आध्यात्मिक दीक्षा से सांस्कृतिक संस्कार के फलस्वरूप होता है। इस तरह क्षत्रिय भी ब्राह्मण के समान द्विज होता है और उसका कर्तव्य यह होता है कि वह असहायों को संरक्षण दे। क्षत्रिय राजा असहायों को संरक्षण प्रदान करने तथा दुष्टों को दंड देने के लिए ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। जब-जब प्रशासकों द्वारा इस नैत्यिक कार्य में अनियमितता आती है, तब धर्म की पुन:स्थापना के लिए भगवान् का अवतार होता है। कलियुग में बेचारे असहाय पशु, विशेष रूप से गाएँ, जिन्हें प्रशासकों से सभी प्रकार का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए, वे अंधाधुंध मारी जाती हैं। इस तरह के प्रशासक, जिनकी नजरों के सामने ये घटनाएँ घटती रहती हैं, केवल नाम के ईश्वर-प्रतिनिधि हैं। ऐसे सशक्त प्रशासक वेश या पद के बल पर भले ही गरीब जनता के शासक बने रहें, लेकिन वास्तव में वे व्यर्थ के, निम्नजाति के द्विजो की सांस्कृतिक सम्पन्नता के गुणों से विहीन पुरुष हैं। निम्नजाति के एकजन्मा (असंस्कृत) व्यक्तियों से न्याय या समता की आशा करना व्यर्थ है। अतएव, राज्य के कुशासन के कारण कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति दुखी रहता है। आधुनिक मानव-समाज द्विज नहीं है। अतएव ऐसी प्रजा द्वारा प्रजा की सरकार, जो द्विज नहीं है, कलियुग की सरकार होगी जिसमें हर कोई दुखी होगा।

यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सहगाण्डीवधन्वना ।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जिससे; त्वम्—तुम दुष्ट; कृष्णे—कृष्ण के; गते—चले जाने से; दूरम्—आँख से ओझल; सह—साथ; गाण्डीव—गाण्डीव नामक धनुष; धन्वना—धारण करनेवाला अर्जुन; शोच्यः—अपराधी; असि—हो; अशोच्यान्—निर्दोष; रहसि—एकान्त स्थान में; प्रहरन्—मारते हुए; वधम्—मारे जाने के; अर्हसि—पात्र हो।

अरे धूर्त, क्या तुम इस निर्दोष गाय को मारने का दुस्साहस इसीलिए कर रहे हो कि भगवान् कृष्ण तथा गाण्डीवधारी अर्जुन दृष्टि से बाहर हैं? चूँकि तुम इस निर्दोष को एकान्त स्थान में मार रहे हो, अतएव तुम अपराधी हो और बध किये जाने के योग्य हो।

तात्पर्य : जिस सभ्यता में ईश्वर को देश निकाला दे दिया गया हो और जहाँ अर्जुन जैसा भक्त-योद्धा न हो, वहाँ कलियुग के संगी इस कानून-विहीन राज्य का लाभ उठाकर एकान्त कसाईघरों में गाय जैसे निर्दोष पशुओं का वध करने की व्यवस्था करते हैं। ऐसे पशु-हत्यारें महाराज परीक्षित जैसे पवित्र राजा द्वारा मृत्यु-दण्ड दिये जाने के पात्र हैं। जो अपराधी एकान्त स्थान में पशु का बध करता है, वह पवित्र राजा द्वारा उसी तरह मृत्यु-दण्ड पाने का भागी होता है, जिस तरह एकान्त में अबोध बालक का बध करनेवाला हत्यारा।

त्वं वा मृणालधवल: पादैर्न्यून: पदा चरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो न: परिखेदयन् ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वा—या तो; मृणाल-धवल:—कमल की तरह सफेद; पादै:—तीन पाँवों वाले; न्यून:—छीने जाने से; पदा—एक पाँव से; चरन्—चलते हुए; वृष—बैल; रूपेण—के रूप में; किम्—क्या; कश्चित्—कोई; देव:—देवता; न:—हमको; परिखेदयन्—क्लेश पहुँचा रहे हो।

तब उन्होंने (महाराज परीक्षित ने) बैल से पूछा: अरे, तुम कौन हो? तुम श्वेत कमल जैसे धवल बैल हो या कोई देवता हो? तुम अपने तीन पैर खो चुके हो और केवल एक पैर पर चल रहे हो। क्या तुम बैल के रूप में कोई देवता हो, जो हमें इस तरह क्लेश पहुँचा रहे हो?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक कोई गाय तथा बैल की दुर्दशा की कल्पना नहीं कर सकता था। अतएव ऐसा भयावह दृश्य देखकर महाराज परीक्षित आश्चर्यचकित थे। उन्होंने जानना चाहा कि वह बैल कहीं कोई देवता तो नहीं था, जिसने गाय तथा बैल के भविष्य को सूचित करने के लिए ऐसी दुर्दशा बना रखी हो।

न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते ।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुच: ॥ ८॥

शब्दार्थ

न—नहीं; जातु—किसी समय; कौरव-इन्द्राणाम्—कुरुवंश के राजाओं का; दोर्दण्ड—बाहुबल से; परिरम्भिते—सुरक्षित किया गया; भू-तले—पृथ्वी पर; अनुपतन्ति—शोक करते हुए; अस्मिन्—अब तक; विना—रहित; ते—तुम्हारे; प्राणिनाम्—जीव का; शुचः—आँखों से अश्रु।

कुरुवंश के राजाओं के बाहुबल से सुरक्षित राज्य में, आज मैं पहली बार तुम्हें आँखों में आँसू भरे शोक करते हुए देख रहा हूँ। आज तक किसी ने पृथ्वीतल पर राजा की उपेक्षा के कारण आँसू नहीं बहाए।

तात्पर्य : मनुष्यों तथा पशुओं के प्राणों की रक्षा सरकार का सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। किसी भी सरकार को ऐसे नियमों में भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। इस कलियुग में किसी शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति के लिए राज्य द्वारा इस प्रकार की प्राणीओं की सुनियोजित कला देखना भयावह है। महाराज परीक्षित बैल की आँखों में अश्रु देखकर शोकाकुल हो रहे थे और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि उनके उत्तम शासन में ऐसी अभूतपूर्व घटना घट रही है। जहाँ तक जीवन का सम्बन्ध है, मनुष्य तथा पशु समान रूप से संरक्षित थे। यही ईश्वर के राज्य की रीति है।

मा सौरभेयात्र शुचो व्येतु ते वृषलाद् भयम् ।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; सौरभेय—हे सुरभि पुत्र; अत्र—मेरे राज्य में; शुचः—शोक; व्येतु—होने दो; ते—तुम्हारा; वृषलात्—शूद्र द्वारा; भयम्—भय का कारण; मा—मत; रोदीः—रोओ; अम्ब—गो माता; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; खलानाम्—ईर्ष्यालुओं का; मयि—मेरे रहते; शास्तरि—शासक या दमनकर्ता।

हे सुरभि-पुत्र, अब तुम और शोक न करो। तुम्हें इस अधम जाति के शूद्र से डरने की आवश्यकता नहीं है। तथा, हे गो-माता, जब तक मैं शासक या खलों के दमनकर्ता के रूप में हूँ, तब तक तुम्हें रोने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारा सभी तरह से कल्याण होगा।

तात्पर्य : बैलों, गायों तथा अन्य समस्त पशुओं की सुरक्षा तभी हो सकती है, जब राज्य का शासन महाराज परीक्षित जैसे शासक द्वारा चलाया जाये। महाराज परीक्षित ने गाय को माता कहकर इसीलिए सम्बोधित किया, क्योंकि वे सभ्य द्विज क्षत्रिय राजा थे। *सुरभि* उन गायों को कहते हैं, जो वैकुण्ठ ग्रहों में रहती हैं और जिन्हें भगवान् कृष्ण स्वयं चराते हैं। जिस प्रकार सारे मनुष्य भगवान् के रूप-आकार

के अनुसार बनाये गये, उसी तरह सारी गाएँ वैकुण्ठ की सुरभि गायों जैसी बनायी गई हैं। भौतिक जगत में मानव-समाज मनुष्य को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करता है, किन्तु सुरभि की उन सन्तानों को, जो चमत्कारिक-पेय अर्थात् दूध देकर मनुष्य को संरक्षण प्रदान करती हैं, उनको सुरक्षा प्रदान करनेवाला कोई कानून नहीं है। लेकिन महाराज परीक्षित तथा सारे पाण्डव गाय तथा बैल की महत्ता से पूर्ण रूप से अवगत थे और वे गो-हत्यारे को सभी प्रकार के दण्ड देने के लिए तैयार रहते थे, जिसमें मृत्यु-दण्ड भी सम्मिलित था। कभी-कभी गो-रक्षा के लिए आन्दोलन होते रहे हैं, किन्तु धर्मात्मा शासकों तथा पर्याप्त कानूनों के अभाव में, गाय तथा बैल को सुरक्षा प्रदान नहीं की जा सकी। मानव-समाज को चाहिए कि गाय तथा बैल की महत्ता को समझे और महाराज परीक्षित की भाँति, इन्हें सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे। गाय तथा ब्राह्मण-संस्कृति की रक्षा करने पर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होंगे और हमें वास्तविक शान्ति प्रदान करेंगे, क्योंकि वे गाय तथा ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं (*गो-ब्राह्मण-हिताय*)।

यस्य राष्ट्रे प्रजा: सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभि: ।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गति: ॥ १० ॥
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रह: ।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; राष्ट्रे—राज्य में; प्रजा:—जीव; सर्वा:—सारे; त्रस्यन्ते—भयभीत रहते हैं; साध्वि—हे साध्वी; असाधुभि:—दुष्टों के द्वारा; तस्य—उस; मत्तस्य—मोह-ग्रस्त का; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं; कीर्ति:—यश; आयु:—आयु, उम्र; भग:—सम्पत्ति, धन; गति:—दूसरा जन्म; एष:—ये हैं; राज्ञाम्—राजाओं के; पर:—श्रेष्ठ; धर्म:—वृत्ति, धर्म; हि—निश्चय ही; आर्तानाम्—कष्ट भोगनेवालों के; आर्ति—कष्ट; निग्रह:—दमन; अत:—अतएव; एनम्—इस आदमी को; वधिष्यामि—मैं मार डालूँगा; भूत-द्रुहम्—जीवों की हिंसा करनेवाला; असत्-तमम्—अत्यन्त दुष्ट।

हे साध्वी, यदि राजा के राज्य में भी सभी प्रकार के जीव त्रस्त रहें, तो राजा की ख्याति, उसकी आयु तथा उसका उत्तम पुनर्जन्म (परलोक) नष्ट हो जाते हैं। यह राजा का प्रधान कर्तव्य है कि जो पीड़ित हों, सर्वप्रथम उनके कष्टों का शमन किया जाय। अतएव मैं इस अत्यन्त दुष्ट व्यक्ति को अवश्य मारूँगा, क्योंकि यह अन्य जीवों के प्रति हिंसक है।

तात्पर्य : जब किसी गाँव या नगर में जंगली पशु उत्पात मचाते हैं, तो पुलिस या दूसरे लोग उन्हें मारने की कार्यवाही करते हैं। इसी तरह, सरकार का कर्तव्य है कि वह समस्त असामाजिक तत्त्वों को, यथा चोरों, डकैतों तथा हत्यारों को तुरन्त मार डाले। वही दंड पशु-बधिकों को भी दिया जाना चाहिए, क्योंकि पशु भी राज्य की *प्रजा* हैं। *प्रजा* का अर्थ है, जिसने राज्य में जन्म लिया हो वह, और इसमें मनुष्य तथा पशु दोनों सम्मिलित हैं। जो भी जीव राज्य में जन्म लेता है, उसका मूल अधिकार है कि वह राजा के संरक्षण में रहे। जंगल के पशु भी राजा की प्रजा हैं, अतएव उन्हें भी जीने का अधिकार है। तो भला गाय तथा बैल जैसे घरेलू पशुओं के विषय में क्या कहा जा सकता है।

यदि कोई जीव किसी अन्य जीव को डराता है, तो वह अत्यन्त दुष्ट है और राजा को चाहिए कि वह तुरन्त ऐसे उत्पाती का वध कर दे। जिस प्रकार उत्पात मचानेवाले जंगली पशु को मार दिया जाता है, उसी तरह जो व्यक्ति जंगली पशुओं या अन्य पशुओं को वृथा ही मारता या त्रस्त करता है, उसे तुरन्त दण्डित किया जाना चाहिए। ईश्वरी विधान के अनुसार सारे जीव, चाहे वे जिस स्वरूप के हों, भगवान् की संतान हैं और किसी को अन्य पशु को मारने का कोई अधिकार नहीं है, जब तक ईश्वरी विधि-संहिता उसकी आज्ञा न दे। बाघ अपने जीवन-निर्वाह के लिए छोटे-छोटे पशुओं को मार सकता है, किन्तु मनुष्य अपने निर्वाह के लिए किसी पशु को नहीं मार सकता। यह उस ईश्वर का विधान है, जिन्होंने यह नियम बनाया है कि एक पशु दूसरे को खाकर जीता है। इसी तरह शाकाहारी भी अन्य जीवों को खाकर जीवित रहते हैं। अतएव नियम यह है कि ईश्वरी-विधान में जो भी निश्चित है, उसी के अनुसार विशेष जीवों को खाकर ही जीव को जीवित रहना चाहिए। *ईशोपनिषद्* का निर्देश है कि मनुष्य को भगवान् के निर्देशानुसार रहना चाहिए, अपनी इच्छा के अनुसार नहीं। मनुष्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त तरह-तरह के अन्नों, फलों तथा दूध से जीवन-यापन कर सकता है और कुछ मामलों को छोड़कर, उसे पशु-मांस खाने की आवश्यकता नहीं है।

कभी-कभी दार्शनिक तथा विद्वान कहा जाने वाला मोह-ग्रस्त राजा या प्रशासक भी अपने राज्य में कसाईघर चलाने की अनुमति यह जाने बिना दे देता है कि पशुओं के उत्पीड़न से ऐसा मूर्ख राजा या प्रशासक नरक को जाता है। प्रशासक को अपनी प्रजा-जिसमें मनुष्य तथा पशु दोनों आते हैं, उनकी सुरक्षा के प्रति सतर्क रहना चाहिए और पूछ-ताछ करते रहना चाहिए कि कहीं पर कोई जीव किसी

अन्य जीव को सता तो नहीं रहा। सतानेवाले जीव को तुरन्त ही पकड़ कर, मार डालना चाहिए जैसाकि महाराज परीक्षित ने संकेत दिया।

जनता की सरकार को या जनता द्वारा चलाई जानेवाली सरकार को, मूर्ख सरकारी लोगों की इच्छानुसार, निर्दोष पशुओं के वध की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए। उन्हें शास्त्रोक्त ईश्वर की संहिता को जानना चाहिए। महाराज परीक्षित यहाँ उद्धरण देते हैं कि ईश्वर की संहिता के अनुसार, लापरवाह राजा या प्रशासक अपनी ख्याति, आयु, बल तथा अन्त में उन्नतिमय जीवन तथा मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त करने के अवसर को खतरे में डाल देता है। ऐसे मूर्ख लोग अगले जीवन के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं करते।

इस श्लोक की टीका करते समय, हमारे समक्ष एक महान् आधुनिक राजनेता का वक्तव्य है, जिसकी हाल ही में मृत्यु हुई और जो अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त कर गया है, जिससे महाराज परीक्षित द्वारा व्यक्त की गई ईश्वरी संहिता के विषय में उसका अज्ञान प्रकट होता है। यह राजनेता ईश्वरी संहिता से इतना अनजान था कि उसने लिखा है, ''मैं ऐसे किन्हीं अनुष्ठानों में विश्वास नहीं करता और विधि के रूप में भी उनका पालन करना तो एक प्रकार का छलावा और अपने आपको तथा अन्यों को धोखा देना होगा...इस विषय में मेरी कोई धार्मिक भावना नहीं है।''

जब हम आधुनिक युग के महान् राजनेता के इस वक्तव्य एवं महाराज परीक्षित के वक्तव्य में अन्तर ढूँढते हैं, तो हमें जमीन-आसमान का अन्तर दिखता है। महाराज परीक्षित शास्त्रीय संहिता के अनुसार धर्मात्मा थे, जबकि आधुनिक राजनेता अपने निजी विश्वास तथा भावना के अनुसार चलता है। इस संसार का कोई भी महान् पुरुष आखिर बद्धजीव ही है। उसके हाथ-पैर भौतिक प्रकृति की रस्सी से बँधे हैं, फिर भी वह अपने मनमाने विचारों द्वारा कर्म करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज परीक्षित के काल में लोग सुखी थे और पशुओं को समुचित संरक्षण दिया जाता था, क्योंकि प्रशासक न तो मनमानी करता था, न ईश्वरी नियम से अनजान होता था। मूर्ख श्रद्धाविहीन प्राणी ही ईश्वर के अस्तित्व की उपेक्षा करने का प्रयत्न करते हैं और बहुमूल्य मानव-जीवन की बाजी लगाकर अपने आपको धर्म-निरपेक्ष होने का दावा करते रहते हैं। मानव-जीवन विशेष रूप से ईश्वर के विज्ञान को जानने के लिए मिलता है, लेकिन मूर्ख प्राणी, विशेषतया इस

कलियुग में, ईश्वर को यथार्थ रूप में जानने के बदले, धार्मिक विश्वास तथा ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रचार करते हैं, यद्यपि वे जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के लक्षणों द्वारा ईश्वरीय नियमों से जकड़े रहते हैं।

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद ।
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन है; अवृश्चत्—काट लिया; तव—तुम्हारे; पादान्—पाँवों को; त्रीन्—तीन; सौरभेय—हे सुरभि पुत्र; चतुः-पद—चौपाये हो; मा—कभी नहीं; भूवन्—ऐसा हुआ है; त्वादृशाः—जैसे कि तुम हो; राष्ट्रे—राज्य में; राज्ञाम्—राजाओं के; कृष्ण-अनुवर्तिनाम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशों का पालन करने वाले।.

उन्होंने (महाराज परीक्षित ने) बैल को बारम्बार सम्बोधित करते हुए इस तरह पूछा : हे सुरभि-पुत्र, तुम्हारे तीन पाँवों को किसने काट लिया है? उन राजाओं के राज्य में, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के नियमों के आज्ञाकारी हैं, तुम्हारे समान दुखी कोई नहीं है।

तात्पर्य : समस्त राज्यों के राजाओं या प्रशासकों को भगवान् कृष्ण की संहिताएँ (सामान्यतया *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*) जाननी चाहिए और उन्हीं के अनुसार मनुष्य को जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए, जिससे भौतिक जीवन के सारे कष्ट विनष्ट हो जाँय। जो मनुष्य भगवान् कृष्ण की संहिताओं को जानता है, उसे यह गति बिना कष्ट के मिल सकती है। *भगवद्गीता* में, संक्षेप में, हम ईश्वर की संहिताएँ समझ सकते हैं, और *श्रीमद्भागवत* में उनकी विस्तृत व्याख्या हुई है।

जिस राज्य में कृष्ण के आदेशों का पालन किया जाता है, वहाँ कोई दुखी नहीं रहता। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ प्रथम लक्षण यह है कि धर्म के प्रतिनिधि के तीन पाँव कट जाते हैं; फिर कष्टों की झड़ी लग जाती है। जब कृष्ण साक्षात् विद्यमान थे तो इन आदेशों का, निस्सन्देह, पालन होता था, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में ऐसे अन्धे लोगों के लिए, जो उच्चपद पर निहित हैं, *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में उन्हें अंकित कर दिया गया है।

आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम् ।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आख्याहि—मुझसे कहो; वृष—हे बैल; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; साधूनाम्—ईमानदारों का; अकृत-आगसाम्—अपराधहीनों का; आत्म-वैरूप्य—अपना रूप बिगाड़ना; कर्तारम्—कर्ता; पार्थानाम्—पृथा के पुत्रों का; कीर्ति-दूषणम्—यश को कलंकित करना।

हे बृषभ, तुम निरपराध हो और पूर्णतया ईमानदार हो, अतएव मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ। कृपया मुझे अंग-भंग करनेवाले दुष्ट के बारे में बताओ, जो पृथा के पुत्रों के यश को कलंकित कर रहा है।

तात्पर्य : महाराज रामचन्द्र तथा उनके पद-चिह्नों पर चलनेवाले राजा जैसे पाण्डवों तथा उनके वंशजों के यश को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उनके राज्य में निरपराध तथा ईमानदार जीव कभी कष्ट नहीं पाते थे। बैल तथा गाय अत्यन्त निरपराधी-जीवों के प्रतीक हैं, क्योंकि इनके मल तथा मूत्र को भी मानव-समाज उपयोग में लाता है। पृथा-पुत्रों के वंशज, यथा महाराज परीक्षित को भय था कि उनकी ख्याति विनष्ट होगी, किन्तु आजकल के नेता ऐसे निरपराध पशुओं का वध करने से भी डरते नहीं। यहीं वह अन्तर दिखता है, जो उन धर्मात्मा राजाओं के शासन में तथा ईश्वर के आदेशों के ज्ञान से शून्य गैर-जिम्मेदार शासकों द्वारा शासित आधुनिक राज्यों में होता है।

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम् ।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥ १४॥

शब्दार्थ

जने—जीवों में; अनागसि—निरपराध; अघम्—कष्ट; युञ्जन्—लगाकर; सर्वतः—सर्वत्र; अस्य—ऐसे अपराधियों का; च—तथा; मत्-भयम्—मेरा भय; साधूनाम्—ईमानदार व्यक्तियों का; भद्रम्—कल्याण; एव—निश्चय ही; स्यात्—होगा; असाधु—दुष्ट; दमने—दमन में; कृते—ऐसा किये जाने पर।

निरपराध जीवों को जो कोई भी कष्ट पहुँचाता है, उसे चाहिए कि विश्व में जहाँ कहीं भी हो, मुझसे डरे। दुष्टों का दमन करने से निरपराध व्यक्ति को स्वतः लाभ पहुँचता है।

तात्पर्य : बेईमान दुष्ट लोग राज्य के कायर तथा नपुंसक शासनाध्यक्षों के कारण फूलते-फलते हैं। किन्तु जब शासनाध्यक्ष, राज्य के किसी भी कोने के सभी प्रकार के बेईमान दुष्टों का दमन करने में समर्थ होते हैं, तो वे पनप नहीं पाते। जब दुष्टों को दृष्टान्त रूप से दण्डित किया जाता है, तो समस्त भद्रता स्वतः ही उसके पीछे पीछे आती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह राजा या प्रशासक का

मुख्य कर्तव्य है कि वह शान्त, निरपराध प्रजा को सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करे। भगवान् के भक्त स्वभाव से शान्त तथा निरपराध होते हैं, अतएव यह राज्य का मूल कर्तव्य है कि वह हर एक को भगवद्-भक्त बनने में सहायता करे। इस तरह स्वत: ही सारे नागरिक शान्त तथा निरपराध होंगे। तब राजा का एकमात्र कर्तव्य रह जायेगा बेईमान दुष्टों का दमन करना। इससे सारे मानव-समाज में शान्ति तथा एकता आयेगी।

अनाग:स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुश: ।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अनागःसु इह—निरपराध; भूतेषु—जीवों में; यः—जो व्यक्ति; आगः-कृत्—अपराध करता है; निरङ्कुशः—उच्छृङ्खल, उद्दंड; आहर्ता अस्मि—मैं काट लूँगा; भुजम्—बाँहें; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अमर्त्यस्य अपि—चाहे देवता क्यों न हो; स-अङ्गदम्—बाजू-बन्द तथा अन्य सजावट से युक्त।.

जो उद्दंड व्यक्ति निरपराधियों को सता कर अपराध करता है, वह मेरे द्वारा उखाड़ फेंका जायेगा, चाहे वह बाजूबंद तथा अन्य अलंकारों से युक्त स्वर्ग का निवासी ही क्यों न हो।

तात्पर्य : स्वर्ग के निवासी *अमर* कहलाते हैं, क्योंकि उनकी आयु मनुष्यों की अपेक्षा काफी लम्बी होती है। मनुष्य के लिए, जिसकी आयु अधिक से अधिक सौ वर्ष होती है, लाखों वर्ष की आयु निश्चय ही अमर लगेगी। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* से हमें पता चलता है कि ब्रह्मलोक का एक दिन ४३,००,००० × १,००० सौर वर्षों के तुल्य है। इसी प्रकार स्वर्ग के अन्य ग्रहों का एक दिन इस ग्रह के छह मास के तुल्य होता है और वहाँ के निवासियों की आयु वहाँ के एक करोड़ वर्ष की होती है। अत: स्वर्ग-लोकों में, चूँकि मनुष्य की अपेक्षा उन निवासियों की आयु काफी बड़ी होती है, अतएव कल्पना के आधार पर वहाँ के निवासी अमर कहलाते हैं, यद्यपि भौतिक ब्राह्माण्ड के भीतर अमर कोई भी नहीं है।

महाराज परीक्षित स्वर्ग के ऐसे निवासियों को भी ललकारते हैं, यदि वे निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य के शासनाध्यक्ष को महाराज परीक्षित के समान सशक्त होना चाहिए, जिससे वह सब से बलवान अपराधी को भी दंड दे सके। राज्य के शासनाध्यक्ष का यह सिद्धान्त होना चाहिए कि जो ईश्वर के आदेशों की अवमानना करने वाला अपराधी है, उसे सदैव दण्डित किया जाय।

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम् ।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञः—राजा का; हि—निश्चय ही; परमः—परम; धर्मः—वृत्तिपरक कर्तव्य; स्व-धर्म-स्थ—अपने नियत कर्म के प्रति आज्ञाकारी; अनुपालनम्—सदैव शरण देनेवाला; शासतः—शासन चलाते हुए; अन्यान्—अन्यों को; यथा—जिस तरह; शास्त्रम्—शास्त्रों के अनुसार; अनापदि—बिना खतरे के; उत्पथान्—पथ-भ्रष्ट व्यक्ति; इह—एक प्रकार से।

शासक का यह परम धर्म है कि कानून-पालन करने वाले व्यक्तियों को सभी प्रकार से संरक्षण प्रदान करे और जो सामान्य दिनों में, जब आपात्काल नहीं रहता, शास्त्रों के अध्यादेशों से विपथ हो जाते हैं, उन्हें दण्ड दे।

तात्पर्य : शास्त्रों में *आपद्-धर्म* का उल्लेख है, जिसका अर्थ होता है असामान्य घटनाओं के समय का कर्तव्य। कहा जाता है कि किसी असामान्य भयावह परिस्थिति में ऋषि विश्वामित्र को कुत्ते का मांस खाना पड़ा था। आपात्काल में मनुष्य को किसी भी पशु का मांस खाने की छूट दी जा सकती है, लेकिन इसका अर्थ यह भी तो नहीं है कि मांस खानेवालों के लिए नियमित कसाईघर चलाया जाय और राज्य द्वारा इस प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाय। केवल स्वाद के लिए, सामान्य समय में, किसी को भी मांस खाकर जीवित रहने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है, तो राजा या प्रशासक को चाहिए कि इस अशिष्ट भोग के लिए उसे दण्डित करे।

विभिन्न कर्मों में रत, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए, शास्त्रों के नियत आदेश हैं और जो उनका पालन करता है, वह *स्वधर्मस्थ* अर्थात् अपने संस्तुत कर्तव्यों का पालन करने वाला कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.४८) में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि अपने नियत कर्मों (स्वधर्म) को न छोड़े, भले ही वे सर्वथा त्रुटिहीन न हों। ऐसे स्वधर्म का आपात्काल में उल्लंघन किया जा सकता है, यदि परिस्थितियाँ उसे विवश करें, लेकिन सामान्य दिनों में उसका उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। शासनाध्यक्ष को चाहिए कि वह देखे कि ऐसा स्वधर्म, चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, उसके पालन करने वालो द्वारा बदला न जाय और उसे चाहिए कि स्वधर्म पालक को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे। उल्लंघन करनेवाले को शास्त्रों के अनुसार दण्ड देना चाहिए और राजा का धर्म है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति शास्त्रों में नियत स्वधर्म का कड़ाई से पालन करता है।

धर्म उवाच
एतद् वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः ।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः ॥ १७॥

शब्दार्थ

धर्मः उवाच—मूर्तिमंत धर्म ने कहा; एतत्—ये सारे; वः—आपके द्वारा; पाण्डवेयानाम्—पांडववंशियों का; युक्तम्—के उपयुक्त; आर्त—कष्ट भोगने वाला; अभयम्—समस्त भय से मुक्ति; वचः—शब्द; येषाम्—उन; गुण-गणैः—योग्यताओं से; कृष्णः—कृष्ण ने भी; दौत्य-आदौ—दूत कर्म इत्यादि.; भगवान्—भगवान्; कृतः—सम्पन्न किया।

धर्म ने कहा : अभी आपने जो शब्द कहे हैं, वे पाण्डववंशीय व्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। पाण्डवों के भक्तिपूर्ण गुणों से मोहित होकर ही, भगवान् कृष्ण ने दूत का कर्तव्य निभाया।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित द्वारा जो आश्वासन तथा वचन दिये गये, वे उनकी वास्तविक शक्ति की अतिरंजना करनेवाले न थे। महाराज ने कहा था कि धर्म का उल्लंघन करनेवाले, यदि स्वर्ग के निवासी हों, तो भी वे उनके कठोर शासन से बच नहीं सकते। वे मिथ्या ही गर्वित नहीं थे, क्योंकि भगवद्भक्त भगवान् के ही समान और कभी-कभी उनकी कृपा से उनसे भी बढ़कर शक्तिशाली होता है और यदि भक्त कोई वचन देता है, तो भले ही सामान्य रूप से उसका पूरा होना कठिन लगे, लेकिन भगवान् की कृपा से वह ठीक से पूरा हो जाता है। पाण्डवों ने अपनी अनन्य भक्ति तथा भगवान् के प्रति पूर्ण शरणागति द्वारा भगवान् का सारथी बनना या कभी-कभी पत्रवाहक बनना सम्भव हो पाया। भक्तों के लिए भगवान् द्वारा किये गये ऐसे कार्य उन्हें अत्यन्त भाते हैं, क्योंकि भगवान् उन अनन्य भक्तों की सेवा करना चाहते हैं, जिनके पास भगवान् की प्रेम पूर्ण सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं होता। भगवान् के विख्यात सखा-सेवक अर्जुन के पौत्र, महाराज परीक्षित अपने पितामह की ही भाँति शुद्ध भक्त थे। अतएव भगवान् सदैव उनके साथ थे—यहाँ तक कि जब वे माता के गर्भ में थे और उन पर अश्वत्थामा के ज्वलन्त ब्रह्मास्त्र का प्रहार हुआ था, तब भी वे उनके साथ थे। भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहता है, अतएव महाराज परीक्षित द्वारा दिया गया संरक्षण का आश्वासन निरर्थक नहीं हो सकता था। धर्म ने इस तथ्य को स्वीकार किया और राजा को अपनी उच्च प्रतिष्ठा के अनुकूल आश्वासन देने के लिए धन्यवाद दिया।

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; क्लेश-बीजानि—कष्टों के मूल कारण को; यतः—जहाँ से; स्युः—ऐसा होता है; पुरुष-ऋषभ—हे समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ; पुरुषम्—पुरुष को; तम्—उस; विजानीमः—जानो; वाक्य-भेद—मतभेद; विमोहिताः—मोहग्रस्त।

हे पुरुषश्रेष्ठ, यह निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन है कि किस दुष्ट ने हमें कष्ट पहुँचाया है, क्योंकि हम सैद्धान्तिक दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मतों से भ्रमित हैं।

तात्पर्य : संसार में ऐसे अनेक सैद्धान्तिक दार्शनिक हैं, जो कार्य-कारण सम्बन्धी, विशेष रूप से कष्टों के कारण तथा जीवों पर उनके प्रभावों के विषय में, अपना-अपना मत रखते हैं। सामान्यतया छः महान् दार्शनिक हैं—वैशेषिक दर्शन के लेखक कणाद, तर्कशास्त्र के लेखक गौतम, योग के लेखक पतंजलि, सांख्य-दर्शन के लेखक कपिल, कर्म-मीमांसा के लेखक जैमिनि तथा वेदान्त-दर्शन के लेखक व्यासदेव।

यद्यपि धर्म-रूप बैल तथा पृथ्वी-रूप गाय भलीभाँति जानते थे कि मूर्तिमंत कलि ही उनके क्लेशों का कारण है, फिर भी भगवद्भक्तों के रूप में, वे यह भी जानते थे कि भगवान् की अनुमति के बिना कोई उनको कष्ट नहीं पहुँचा सकता। *पद्मपुराण* के अनुसार, हमारे वर्तमान क्लेश पाप रूपी लता में फल लगने के कारण हैं, किन्तु शुद्ध भक्ति का आचरण करने से ये पाप के अंकुर भी धीरे-धीरे मुरझा जाते हैं। इस तरह उत्पात मचानेवालों को देखते हुए भी भक्त उन्हें कष्ट पहुँचाने का दोषी नहीं ठहराते। वे मान लेते हैं कि उत्पाती व्यक्ति किसी अप्रत्यक्ष कारण से ऐसा कर रहा है। अतएव वे कष्टों को ईश्वर द्वारा मात्र कम करके दिए गए समझकर सहन करते हैं, अन्यथा उनके क्लेश और भी भारी होते।

महाराज परीक्षित चाहते थे कि प्रत्यक्ष उत्पीड़क के विरुद्ध आरोप प्राप्त हो ले, किन्तु उन्होंने उपर्युक्त आधार पर ऐसा करने से इनकार कर दिया। फिर भी मनोधर्मी दार्शनिक भगवान् की स्वीकृति को मान्यता नहीं देते; वे अपने खुद के ढंग से क्लेशों का कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं, जैसाकि अगले श्लोकों में बताया जाएगा। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, ऐसे मनोधर्मी स्वयं भ्रमित रहते हैं, अतएव वे यह नहीं जान पाते कि समस्त कारणों के अन्तिम कारण परमेश्वर ही हैं।

केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः ।
दैवमन्येऽपरे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कोई; विकल्प-वसनाः—सभी प्रकार के द्वैत से इनकार करनेवाले; आहुः—घोषित करते हैं; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मनः—अपना; दैवम्—अतिमानव, दैवी; अन्ये—अन्य लोग; अपरे—और भी कोई; कर्म—कर्म; स्वभावम्—भौतिक प्रकृति; अपरे—अन्य कई; प्रभुम्—स्वामी।.

सभी प्रकार के द्वैत से इनकार करनेवाले कतिपय दार्शनिक यह घोषित करते हैं कि मनुष्य अपने सुख तथा दुख के लिए स्वयं ही उत्तरदायी हैं। अन्य लोग कहते हैं कि दैवी शक्तियाँ इसके लिए जिम्मेदार हैं, जबकि कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं कि इसके लिए कर्म जिम्मेदार है और जो निपट भौतिकतावादी हैं, वे मानते हैं कि प्रकृति ही इसका अन्तिम कारण है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जैमिनि तथा उनके अनुयायियों जैसे दार्शनिक स्थापित करते हैं कि सकाम कर्म ही सारे सुख तथा दुख का मूल कारण है और यदि कोई श्रेष्ठ अधिकारी, कोई अतिमानवीय शक्तिशाली भगवान् या देवता हैं, तो वे भी सकाम कर्म के प्रभाव के अधीन हैं, क्योंकि वे लोगों के कर्म के अनुसार ही फल देते हैं। उनका कहना है कि कर्म स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि कर्म किसी कर्ता द्वारा सम्पन्न होता है, अतएव कर्ता ही अपने सुख या दुख का कारण है। *भगवद्गीता* (६.५) में भी पुष्टि की गई है कि भौतिक राग से मुक्त मन के द्वारा मनुष्य संसार के कष्टों से अपना उद्धार कर सकता है। अतएव किसी को मन के भौतिक राग के कारण अपने आपको बन्धन में नहीं डालना चाहिए। इस तरह मनुष्य का मन ही उसके सुख तथा दुख में उसका मित्र या शत्रु है।

नास्तिक, भौतिकतावादी सांख्यवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भौतिक प्रकृति समस्त कारणों की कारण है। उनके मतानुसार, भौतिक तत्त्वों के संयोग ही भौतिक सुख-दुख के कारण हैं और पदार्थ का विघटन ही समस्त भौतिक तापों से मुक्त होने का कारण है। गौतम तथा कणाद परमाणुओं के संयोग को ही प्रत्येक वस्तु का कारण मानते हैं और अष्टावक्र जैसे निर्विशेषवादी यह पाते हैं कि ब्रह्म का आध्यात्मिक तेज ही समस्त कारणों का कारण है। किन्तु *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् घोषित करते हैं कि वे ही निराकार ब्रह्म के स्रोत हैं। अतएव वे अर्थात् भगवान् का व्यक्तित्व ही समस्त कारणों के परम कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् कृष्ण ही समस्त कारणों के अन्तिम कारण हैं।

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः ।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अप्रतर्क्यात्—तर्कशक्ति से परे; अनिर्देश्यात्—चिन्तन-शक्ति से परे; इति—इस प्रकार; केषु—कोई; अपि—भी; निश्चयः—निश्चित रूप से; अत्र—यहाँ पर; अनुरूपम्—उनमें से सही, उचित; राज-ऋषे—हे राजर्षि; विमृश—अपने आप निर्णय लो; स्व—अपनी; मनीषया—बुद्धि की शक्ति द्वारा।

कुछ ऐसे भी चिन्तक हैं, जिनका विश्वास है कि न तो तर्क द्वारा कष्ट का कारण निश्चित किया जा सकता है, न उसे कल्पना से जाना जा सकता है, न ही शब्दों द्वारा उसे व्यक्त किया जा सकता है। हे राजर्षि, आप अपनी बुद्धि से यह सब सोचकर अपने आप निर्णय करें।

तात्पर्य : वैष्णवमतावलम्बी अर्थात् भगवद्भक्तों का ऐसा विश्वास है, जैसाकि ऊपर कहा गया है, कि परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। वे ही परम निर्देशक हैं, क्योंकि वे *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि करते हैं कि सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में वे सबों के हृदय में वास करते हैं और सारे कर्मों पर निगरानी रखते हैं तथा सारे कर्मों के साक्षी हैं। यहाँ पर नास्तिकों के इस तर्क का खण्डन होता है कि जब तक किसी न्यायाधीश के समक्ष किसी का दुष्कर्म सिद्ध न हो ले, तब तक उसे दण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम निरन्तर साथ रहने वाले साक्षी तथा जीव के नित्य संगी को स्वीकार करते हैं। जीव ने पूर्वजन्म में या इसी जीवन में शरीर रूपी जो कुछ किया हो, उसे वह भूल सकता है, लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि भौतिक शरीर रूपी एक ही वृक्ष में जीव तथा परमात्मा दो पक्षियों के रूप में, बैठे हुए हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव उस वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उसके कार्यकलापों का साक्षी बना हुआ है। अतएव परमात्मा ही जीव के सारे कार्यकलापों के साक्षी हैं और उनके निर्देशानुसार जीव स्मरण रख सकता है या भूल सकता है कि उसने पूर्वजन्म में क्या किया। अतएव वे सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म तथा प्रत्येक के हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वह समस्त भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, उनसे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। भक्तगण इस सत्य को जानते हैं, अतएव वे फल की आकांक्षा न करके अपना कार्य निष्ठापूर्वक करते हैं। इसके अतिरिक्त, चिन्तन या पाण्डित्य के द्वारा भगवान् की प्रतिक्रियाओं का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। तो फिर वे क्यों कुछ को कष्ट में डालते हैं और कुछ को नहीं? वे

वैदिक ज्ञान के परम ज्ञाता हैं, और इस तरह वे वास्तविक वेदान्ती हैं। साथ ही, वे वेदान्त के संकलनकर्ता हैं। कोई भी उनसे स्वतंत्र नहीं है और हर कोई अलग-अलग ढंग से उनकी सेवा में लगा हुआ है। जीव को बद्ध अवस्था में ऐसी सेवाएँ प्रकृति की शक्ति के अधीन होकर करनी पड़ती है, जबकि मुक्त अवस्था में स्वेच्छा से भगवान् की सेवा के लिए आध्यात्मिक प्रकृति जीव की सहायता करती है। उनके कर्मों में किसी प्रकार असंगति या उन्माद नहीं होता। वे सब परम सत्य के पथ पर होते हैं। भीष्मेदव ने भगवान् के अचिन्त्य कर्मों का ठीक अनुमान लगाया था। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज परीक्षित के समक्ष, धर्म के प्रतिनिधि तथा पृथ्वी के प्रतिनिधि के सारे कष्टों को जानबूझ कर यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया था, क्योंकि वे भलीभाँति जानते थे कि आध्यात्मिक उन्नति के दो स्तम्भों—गाय (पृथ्वी) तथा ब्राह्मण (धर्म)—को किस तरह संरक्षण प्रदान करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह भगवान् के वश में है। वे जब किसी के द्वारा कोई काम कराना चाहते हैं, तो उनका कर्म सही होता है। इस प्रकार महाराज परीक्षित की महानता की परीक्षा ली गई। अब हमें देखना है कि वे अपने कुशाग्र मन से इसे कैसे हल करते हैं।

सूत उवाच
एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तमाः ।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; **एवम्**—इस तरह; **धर्मे**—साक्षात् धर्म; **प्रवदति**—इस तरह बोलकर; **सः**—वह; **सम्राट्**—राजा; **द्विज-सत्तमाः**—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; **समाहितेन**—ध्यानपूर्वक; **मनसा**—मन से; **विखेदः**—किसी त्रुटि के बिना; **पर्यचष्ट**—प्रत्युत्तर दिया; **तम्**—उसको।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, धर्म को इस तरह बोलते सुनकर, सम्राट परीक्षित अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बिना किसी त्रुटि या खेद के उन्होंने इस तरह उत्तर दिया।

तात्पर्य : धर्मरूप बैल का कथन दर्शन तथा ज्ञान से परिपूर्ण था और राजा इससे संतुष्ट हुआ, क्योंकि वह जान गया कि पीड़ित बैल कोई सामान्य जीव न था। जब तक कोई परमेश्वर के नियम से पूरी तरह अवगत न हो, तब तक वह ऐसी मार्मिक बातों का या दार्शनिक सत्य का भाषण नहीं कर

सकता। सम्राट भी समान रूप से कुशाग्र बुद्धिवाला था, अतएव उसने बिना किसी त्रुटि या संशय के उत्तर दिया।

राजोवाच
धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; धर्मम्—धर्म; ब्रवीषि—जैसा तुम कहते हो; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों को जाननेवाले; धर्मः—साक्षात् धर्म; असि—तुम हो; वृष-रूप-धृक्—बैल के वेश में; यत्—जो भी; अधर्म-कृतः—अधर्म करता है; स्थानम्—स्थान; सूचकस्य—पहचान करनेवाले का; अपि—भी; तत्—वह; भवेत्—हो जाता है।

राजा ने कहा : अहो! तुम तो बैल के रूप में हो। तुम तो धर्म के सत्य को जानते हो और तुम सिद्धान्त के अनुसार बोल रहे हो कि अधार्मिक कर्मों के अपराधी के लिए वांछित गन्तव्य (गति) वही है, जो उस अपराधी की पहचान करनेवाले की है। तुम साक्षात् धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो।

तात्पर्य : भक्त का निष्कर्ष यही है कि भगवान् की इच्छा के बिना, कोई उपकारी बनने या हानि पहुँचाने वाला बनने के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होता। अतएव भक्त किसी को ऐसे कर्म के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं मानता, किन्तु वह दोनों ही किस्सों में यह मान लेता है कि हानि या लाभ ईश्वर प्रदत्त हैं और इस तरह यह उनकी कृपा है। लाभ के विषय में, इससे कोई इनकार नहीं करेगा कि वह ईश्वर प्रदत्त होता है, लेकिन हानि या पराजय के विषय में मनुष्य संशय करता है कि भला भगवान् अपने भक्त पर इतना निष्ठुर क्यों होंगे कि उसे विपत्ति में डाले? ईसा मसीह को जब अज्ञानी लोगों ने क्रूस पर चढ़ा दिया, तो वे महान् विपत्ति में पड़े प्रतीत होते थे, लेकिन वे अपराधकर्ता के ऊपर कभी क्रुद्ध नहीं हुए। अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु को स्वीकार करने की यही विधि है। इस तरह भक्त के लिए अपराधी की बुराई करनेवाला अपराधकर्ता के ही समान पापी है। भगवत्कृपा से भक्त सभी प्रकार की विपत्तियाँ सहता है। महाराज परीक्षित ने इसे देखा, इसीलिये वे समझ सके कि यह बैल और कोई न होकर, साक्षात् धर्म है। दूसरे शब्दों में, भक्त को किसी तरह का कष्ट नहीं होता, क्योंकि तथाकथित कष्ट भी भक्त के लिए भगवान् की कृपा है, क्योंकि भक्त भगवान् को हर वस्तु में

देखता है। गाय तथा बैल ने कभी राजा से यह शिकायत नहीं की कि वे कलियुग द्वारा सताये जा रहे हैं, यद्यपि राज्याधिकारियों के समक्ष सभी लोग ऐसी शिकायतें पेश करते हैं। बैल के असाधारण आचरण से ही राजा ने निष्कर्ष निकाला कि बैल साक्षात् धर्म था, क्योंकि धर्म की बारीकियों को अन्य कोई भी इस तरह नहीं समझ सकता।

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।
चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चय: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथवा—या कि; देव—भगवान्; मायाया:—शक्तियाँ; नूनम्—अत्यन्त न्यून; गति:—चाल; अगोचरा—अचिन्त्य; चेतस:—या तो मन से; वचस:—वाणी से; च—अथवा; अपि—भी; भूतानाम्—सभी जीवों का; इति—इस प्रकार; निश्चय:—निष्कर्ष निकला।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। कोई न तो मानसिक चिन्तन द्वारा, न ही शब्द-चातुरी द्वारा उनका अनुमान लगा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि भक्त को कर्ता की पहचान करने से क्यों विरत होना चाहिए, जब वह यह निश्चित रूप से जानता है कि भगवान् ही सब वस्तुओं के कर्ता हैं। अन्तिम कर्ता को जानते हुए, मनुष्य को चाहिए कि वह वास्तविक सम्पन्नकर्ता से अनजान नहीं बना रहे। इस सन्देह का उत्तर यह है कि भगवान् भी प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होते, क्योंकि उनके द्वारा नियुक्त मायाशक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। माया सदैव भगवान् की परम सत्ता के विषय में सन्देह उत्पन्न करती रहती है। धर्म यह अच्छी तरह जानता था कि परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी सम्पन्न नहीं हो सकता, तो भी माया उसे संशय में डाल रही थी, जिससे वह परम कारण बताने से कतराता रहा। यह संशय, कलि तथा माया दोनों के कल्मष के कारण था। कलियुग का सारा वातावरण भ्रामक शक्ति के कारण विशाल रूप में दिखता है और इसकी माप अकथ्य है।

तप: शौचं दया सत्यमिति पादा: कृते कृता: ।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्ना: स्मयसङ्गमदैस्तव ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; शौचम्—पवित्रता; दया—दया; सत्यम्—सत्यता; इति—इस प्रकार; पादाः—पैर; कृते—सत्ययुग में; कृताः—स्थापित; अधर्म—अधर्म; अंशैः—अंशों द्वारा; त्रयः—तीनों मिलकर; भग्नाः—टूटे हुए; स्मय—अहंकार; सङ्ग—अत्यधिक स्त्री-प्रसंग; मदैः—नशे से; तव—तुम्हारा।

सत्ययुग में तुम्हारे चारों पैर तपस्या, पवित्रता, दया तथा सचाई के चार नियमों द्वारा स्थापित थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अहंकार, कामवासना तथा नशे के रूप में सर्वत्र व्याप्त अधर्म के कारण तुम्हारे तीन पाँव टूट चुके हैं।

तात्पर्य : भ्रामक शक्ति या भौतिक प्रकृति जीव पर उस अनुपात में अपना प्रभाव दिखाती है, जिस अनुपात में जीव माया के भ्रामक आकर्षण का शिकार होता है। पतिंगे प्रकाश की चमक से आकृष्ट होते हैं और इस तरह वे अग्नि के शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार, ठगिनी शक्ति माया सदैव बद्धजीवों को मोहित करके उन्हें मोह की अग्नि में झोंकती रहती है। वैदिक शास्त्र बद्धजीवों को आगाह करते हैं कि वे इस भ्रम के शिकार न बनें, अपितु इससे छुटकारा प्राप्त करें। वेद हमें आगाह करते हैं कि हम अज्ञान के अंधकार में न जाकर, प्रकाश के पथ पर अग्रसर हों। भगवान् स्वयं भी हमें आगाह करते हैं कि माया की ठगिनी शक्ति को जीतना अत्यन्त दुष्कर है, किन्तु पूरी तरह जो भगवान् की शरण में चला जाता है, वह सरलता से इसे जीत सकता है। लेकिन भगवान् के चरणकमलों के आश्रय में जाना आसान नहीं है। ऐसी शरण तो तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य से युक्त पुरुषों को ही मिल सकती है। उन्नत सभ्यता के ये चारों नियम सत्ययुग के उल्लेखनीय लक्षण थे। उस युग में, प्रत्येक मनुष्य एक तरह से उच्चकोटि का योग्य ब्राह्मण होता था और आश्रमों में सभी *परमहंस,* अर्थात् उच्चकोटि के संन्यासी होते थे। सांस्कृतिक आधार के कारण मनुष्यों को माया ठगती नहीं थी। ऐसे प्रबल चरित्रवान व्यक्ति अपने को माया के पाश से दूर रखने में सक्षम थे। लेकिन धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों ब्राह्मण संस्कृति के मूल सिद्धान्तों—तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य में अहंकार, कामवासना तथा नशे में आनुपातिक वृद्धि के कारण कटौती होती गई, त्यों-त्यों मोक्ष का मार्ग या तो दिव्य आनन्द का मार्ग मानव समाज से दूर और दूर होता चला गया। कलियुग की अवधि बढ़ते रहने से लोग अत्यन्त अहंकारी हो रहे हैं और वे स्त्रियों तथा नशे के प्रति आसक्त रहते हैं। कलियुग के प्रभाव से कंगाल को भी अपनी कौड़ी का अभिमान है; स्त्रियाँ पुरुषों के मन को हरने के लिए, एक से एक आकर्षक वस्त्र पहनती हैं और पुरुष को शराब पीने, धूम्रपान करने, चाय पीने तथा तम्बाखू चबाने की लत पड़ गई है। ये सारी आदतें, या सभ्यता की

तथाकथित प्रगति ही, सारे अधर्म की जड़ है और इसीलिए व्यभिचार, घूस तथा भाई-भतीजावाद व्याप्त हैं। मनुष्य इन बुराइयों को कानूनों तथा पुलिस द्वारा नहीं रोक सकता, लेकिन वह मन के रोग को सही दवा करके ठीक कर सकता है—यह दवा है, ब्राह्मण संस्कृति अर्थात् तप, पवित्रता, दया तथा सत्य के नियमों का पक्षधर बनना। आधुनिक सभ्यता तथा आर्थिक विकास से गरीबी तथा अभाव की नई स्थिति उत्पन्न हो रही है, जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की कालाबाजारी की जा रही है। यदि समाज में नेता तथा धन-सम्पन्न व्यक्ति अपनी संचित सम्पत्ति का आधा भाग इन पथभ्रष्ट लोगों पर खर्च करें और उन्हें ईश्वर चेतना अर्थात् *भागवत्* का ज्ञान प्रदान करें, तो निश्चय ही कलियुग इन बद्धजीवों को अपने जाल में फँसाने में असफल होगा। हमें यह निरन्तर स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्या अहंकार, अपने जीवन मूल्यों के उच्च अनुमान, स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति या उनकी संगति तथा नशे से मानवीय सभ्यता शन्ति के मार्ग से विपथ हो जायेगी, चाहे लोग विश्वशान्ति के लिए कितना ही हल्लागुल्ला क्यों न करें। *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश सारे मनुष्यों को स्वत: संयमी, भीतर-बाहर से स्वच्छ, दुखियों के प्रति दयालु तथा दैनिक आचरण में सच्चा बनायेगा। मानव समाज की बुराइयाँ, जो आज के समय में स्पष्ट रूप से देखने में आती हैं, उन्हें ठीक करने का यही उपाय है।

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यत: ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधित: कलि: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इदानीम्—इस समय; धर्म—हे धर्मरूप; पाद:—पाँव; ते—तुम्हारा; सत्यम्—सत्य; निर्वर्तयेत्—किसी तरह जीना; यत:—जिससे; तम्—उसको; जिघृक्षति—नष्ट करने का प्रयत्न करता है; अधर्म:—अधर्म रूप; अयम्—यह; अनृतेन—छल से, असत्य से; एधित:—बढ़ता हुआ; कलि:—साक्षात् कलि (कलह)।

अब तुम केवल एक पाँव पर खड़े हो, जो तुम्हारा सत्य है और तुम अब किसी न किसी तरह से जी रहे हो। किन्तु छल से फूलने-फलने वाला यह कलह-रूप कलि उस पाँव को भी नष्ट करना चाह रहा है।

तात्पर्य : धर्म के नियम किन्हीं रूढ़ियों या मानवकृत सूत्रों पर नहीं, अपितु चार मूल अनुष्ठानों पर टिके हुए हैं—ये हैं तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य। जन-साधारण को बचपन से ही इन सिद्धान्तों का अभ्यास करना सिखाना चाहिए। तपस्या का अर्थ है स्वेच्छा से ऐसी चीजें स्वीकार करना, जो भले ही

शरीर के लिए सुखकर न हों, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के लिए लाभप्रद हों—यथा उपवास करना। मास में दो या चार बार उपवास करना एक प्रकार का तप है, जिसे केवल आध्यात्मिक अनुभूति के लिए करना चाहिए, किसी अन्य कार्य के लिए नहीं—न राजनीतिक, न अन्य कोई। *भगवद्गीता* (१७.५-६) में आत्म-साक्षात्कार के बजाय अन्य कार्य के लिए किये गये उपवास की भर्त्सना की गई है। इसी प्रकार मन तथा शरीर दोनों के लिए स्वच्छता आवश्यक है। केवल शरीर की स्वच्छता कुछ हद तक सहायक हो सकती है, लेकिन मन की स्वच्छता आवश्यक है और यह भगवान् के यशोगान् से प्राप्त की जाती है। कोई भी व्यक्ति मन के मैल को भगवान् का गुणगान किये बिना साफ नहीं कर सकता। ईश्वरविहीन सभ्यता मन को स्वच्छ नहीं कर सकती, क्योंकि इसे ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं होता और यही एक सादा कारण है कि ऐसी सभ्यता में लोगों में उत्तम गुण नहीं आते, भले ही वे भौतिक दृष्टि से पूर्णतया सुसज्ज हों। हमें वस्तुओं को उनसे परिणाम-स्वरूप कर्म से देखना है। कलियुग में असन्तोष ही मानवीय सभ्यता का परिणाम-स्वरूप कर्मफल है, अतएव सभी मन की शान्ति चाहते रहते हैं। यह मन की शान्ति सत्ययुग में पूर्ण थी, कयोंकि मनुष्यों में उपर्युक्त गुण पाये जाते थे। धीरे-धीरे ये गुण घटकर त्रेतायुग में तीन-चौथाई हो गये, द्वापर में वे आधे हुए और इस कलियुग में केवल एक चौथाई रह गये हैं और जिस तरह असत्य का बोलबाला है, उससे इसमें भी कमी आ रही है। अहंकार, चाहे कृत्रिम हो या वास्तविक, तपस्या से प्राप्त फल को विनष्ट करनेवाला है; स्त्री संसर्ग के प्रति अधिक राग होने से स्वच्छता नष्ट होती है और अत्यधिक लत या नशे से दया विनष्ट होती है और अत्यधिक झूठे विज्ञापन से सत्य नष्ट होता है। भागवत धर्म के पुनरुद्धार से ही मानव सभ्यता सभी प्रकार के दोषों से बच सकती है।

इयं च भूमिर्भगवता न्यासितोरुभरा सती ।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

इयम्—यह; **च**—तथा; **भूमिः**—पृथ्वी की सतह; **भगवता**—भगवान् द्वारा; **न्यासित**—स्वयं तथा अन्यों के द्वारा सम्पन्न; **उरु**—भारी; **भरा**—बोझ; **सती**—ऐसा करने पर; **श्रीमद्भिः**—सर्व कल्याणकारी द्वारा; **तत्**—वह; **पद-न्यासैः**—पदचिह्न द्वारा; **सर्वतः**—चारों ओर; **कृत**—किया गया; **कौतुका**—सौभाग्य।

निश्चय ही, पृथ्वी का बोझ भगवान् द्वारा तथा अन्यों द्वारा भी कम किया गया था। जब वे अवतार के रूप में विद्यमान थे, तो उनके शुभ पदचिह्नों द्वारा समस्त कल्याण सम्पन्न होता था।

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिता सती ।
अब्रह्मण्या नृपव्याजा: शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ॥ २७॥

शब्दार्थ

शोचति—शोक करती है; अश्रु-कला—आँखों में अश्रु भर; साध्वी—सती; दुर्भगा—अत्यन्त अभागी; इव—सदृश; उज्झिता—त्यक्ता; सती—ऐसा किये जाने पर; अब्रह्मण्या:—ब्राह्मण संस्कृति से विहीन; नृप-व्याजा:—शासक के बहाने; शूद्रा:—निम्नजाति; भोक्ष्यन्ति—भोग करेंगे; माम्—मुझको; इति—इस प्रकार।

अब यह सती दुर्भाग्यवश भगवान् द्वारा परित्यक्त होने के कारण, अपने नेत्रों में अश्रु भरकर अपने भविष्य (भाग्य) के लिए शोक कर रही है, क्योंकि अब वह शासक के जैसा स्वाँग करने वाले निम्न जाति के पुरुषों द्वारा शासित तथा भोग्य है।

तात्पर्य : क्षत्रिय अर्थात् पीड़ितों की रक्षा करने के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति राज्य के शासन के निमित्त होता है। अप्रशिक्षित अथवा पीड़ितों की रक्षा करने की इच्छा से रहित निम्न वर्ग के लोगों को प्रशासक के आसन पर नहीं बैठाया जा सकता। दुर्भाग्यवश कलियुग में निम्न वर्ग के लोग प्रशिक्षण के बिना ही जनमत (वोटों) के बल पर शासक का पद ग्रहण किये हुए हैं और ऐसे लोग पीड़ितों की रक्षा करने के बजाय ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं, जो सबों के लिए असह्य होती है। ऐसे लोग जनता के सारे सुखों की परवाह न करके अपनी ही तृप्ति करते हैं और इस तरह सती धरती माता अपने पुत्रों की—मनुष्य तथा पशुओं दोनों की—दयनीय दशा देखकर प्रलाप करती है। कलियुग में संसार का भविष्य ऐसा ही होगा और तब अधर्म का बोलबाला होगा। अधार्मिक प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए उपयुक्त राजा न होने पर लोगों को *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाओं से विधिपूर्वक ज्ञात बनाकर अत्याचार, घूस, चोरबाजारी इत्यादि के मलिन वातावरण को निर्मल बनाया जा सकेगा।

इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथ: ।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥ २८॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; धर्मम्—धर्म को; महीम्—पृथ्वी को; च—भी; एव—जिस तरह; सान्त्वयित्वा—सान्त्वना देकर; महा-रथ:—हजारों से अकेले लड़ने-वाला सेनापति, महारथी; निशातम्—तेज; आददे—ले लिया; खड्गम्—तलवार; कलये—कलि को मारने के लिए; अधर्म—अधर्म के; हेतवे—मूल कारण।.

इस प्रकार, एक साथ हजार शत्रुओं से अकेले लड़ सकनेवाले महाराज परीक्षित ने धर्म तथा पृथ्वी को सान्त्वना दी। तब उन्होंने समस्त अधर्म के कारण साक्षात् कलि को मारने के लिए अपनी तेज तलवार निकाल ली।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, साक्षात् कलि वह है, जो जानबूझ कर शास्त्रों द्वारा वर्जित समस्त प्रकार के पापकर्मों को करता है। यह कलियुग निश्चित रूप से कलि के समस्त कार्यकलापों से भरा हुआ रहेगा, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज के सारे नेता, प्रशासक, विद्वान तथा बुद्धिमान व्यक्ति, या सबसे ऊपर भगवद्भक्त हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और कलियुग के सारे कार्यों के प्रति निश्चेष्ट हो जाँय। वर्षाऋतु में निश्चित रूप से प्रचुर वर्षा होती है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लोग वर्षा से बचने के लिए साधन न अपनायें। राज्य के कार्यकारी अध्यक्षों का तथा अन्यों का कर्तव्य है कि वे कलि के कार्यकलापों के विरुद्ध या कलि द्वारा प्रभावित पुरुषों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करें। महाराज परीक्षित राज्य के आदर्श कार्यकारी अध्यक्ष हैं, क्योंकि वे अपनी तेज तलवार से कलि को मारने के लिए तुरन्त तैयार हो गये। प्रशासकों को चाहिए कि वे केवल भ्रष्टाचार-विरोधी प्रस्ताव पारित न करें, अपितु उन्हें चाहिए कि भ्रष्टाचार फैलानेवाले पुरुषों को प्रमाणित शास्त्रों की दृष्टि से पैनी तलवार लेकर मारने के लिए उद्यत रहें। शराब की दुकानों को अनुमति देकर प्रशासक लोग भ्रष्टाचारी गतिविधियों को नहीं रोक सकते। उन्हें चाहिए कि मादक औषधियों तथा शराब की सारी दुकानें अविलम्ब बन्द करा दें और जिन लोगों को नशे की लत हो, उन्हें मृत्यु-दण्ड तक देने से न हिचकें। कलि के कार्यकलापों को बन्द करने का यही उपाय है, जैसाकि यहाँ पर महारथी महाराज परीक्षित ने प्रदर्शित किया है।

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; जिघांसुम्—मारने के लिए इच्छुक; अभिप्रेत्य—ठीक से जानते हुए; विहाय—छोड़कर; नृप-लाञ्छनम्—राजा के वेश को; तत्-पाद-मूलम्—उसके चरणों पर; शिरसा—सिर के बल; समगात्—पूर्ण रूप से शरणागत; भय-विह्वलः—भयभीत।

जब कलि ने समझ लिया कि राजा उसको मार डालना चाह रहा है, तो उसने तुरन्त राजा का वेश त्याग दिया और भयभीत होकर अपना सिर झुका कर पूर्णरूप से उनके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

तात्पर्य : कलि का राजवेश नकली था। राजा या क्षत्रिय के लिए राजवेश उपयुक्त होता है, किन्तु जब निम्नजाति का मनुष्य राजा का बनावटी वेश धारण कर लेता है, तो महाराज परीक्षित जैसे प्रामाणिक क्षत्रिय की ललकार से उसकी असली पहचान प्रकट हो जाती है। असली क्षत्रिय कभी आत्म-समर्पण नहीं करता। वह अपने प्रतिद्वंद्वी क्षत्रिय की ललकार को स्वीकार करता है और या तो मरते दम तक लड़ता है या जीतता है। सच्चा क्षत्रिय आत्म-समर्पण करना तो जानता ही नहीं। कलियुग में न जाने कितने ऐसे छद्मवेश धारण करनेवाले हैं, जो प्रशासकों का स्वाँग करते हैं, किन्तु उनका भेद तब खुल जाता है, जब असली क्षत्रिय उन्हें ललकारता है। अतएव जब छद्मवेशधारी कलि ने देखा कि महाराज परीक्षित से युद्ध करना उसके बूते के बाहर है, तो उसने अधीनस्थ के समान अपना सिर झुका दिया और अपना राजवेश उतार दिया।

पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः ।
शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतितम्—गिरा हुआ; पादयोः—पैरों पर; वीरः—वीर; कृपया—कृपावश; दीन-वत्सलः—दान के प्रति दयालु; शरण्यः—जो शरण स्वीकार करने में योग्य है, शरणागत का रक्षक; न—नहीं; अवधीत्—बध किया; श्लोक्यः—जो गायन किये जाने योग्य है; आह—कहा; च—भी; इदम्—यह; हसन्—मुसकाते हुए; इव—सदृश।

शरणागत के रक्षक तथा इतिहास में प्रशंसनीय महाराज परीक्षित ने उस दीन शरणागत तथा पतित कलि को मारा नहीं, अपितु वे दयापूर्वक हँसने लगे, क्योंकि वे दीनवत्सल जो हैं।

तात्पर्य : जब एक सामान्य क्षत्रिय भी शरणागत व्यक्ति को नहीं मारता, तो महाराज परीक्षित के लिए क्या कहा जाय, जो स्वभाव से दयालु तथा गरीबों पर सदय हैं। वे हँस रहे थे, क्योंकि

छद्मवेशधारी कलि ने निम्नजाति के व्यक्ति के रूप में अपनी पहचान प्रकट कर दी थी और वे सोच रहे थे कि यह कितनी विडम्बना है कि जिस पैनी तलवार से वे जिस किसी का वध कर देते थे, उससे यह दीन निम्न जातिवाला कलि सामयिक आत्मसमर्पण के कारण बचा जा रहा है। इसीलिए इतिहास में महाराज परीक्षित के यश तथा सदयता का गुणगान किया जाता है। वे सदय तथा कृपालु सम्राट थे और अपने शत्रु को भी शरण में लेनेवाले थे। इस तरह दैवी इच्छा से कलि बच गया।

राजोवाच
न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित् ।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; न—नहीं; ते—तुम्हारा; गुडाकेश—अर्जुन; यशः-धराणाम्—यश पाने वालों का; बद्ध-अञ्जलेः—हाथ जोड़कर; वै—निश्चय ही; भयम्—भय; अस्ति—है; किञ्चित्—तनिक भी; न—न तो; वर्तितव्यम्—रहने के लिए अनुमति दी जा सकती है; भवता—तुम्हारे द्वारा; कथञ्चन—सभी तरह से; क्षेत्रे—पृथ्वी पर; मदीये—मेरे राज्य में; त्वम्—तुम; अधर्म-बन्धुः—अधर्म के मित्र।

राजा ने इस प्रकार कहा : हम अर्जुन के यश के उत्तराधिकारी हैं और चूँकि तुम हाथ जोड़कर मेरी शरण में आये हो, अतएव तुम्हें अपने प्राणों का भय नहीं होना चाहिए। लेकिन तुम मेरे राज्य में रह नहीं सकते, क्योंकि तुम अधर्म के मित्र हो।

तात्पर्य : सभी प्रकार के अधर्मों के मित्र कलि को क्षमा किया जा सकता है यदि वह आत्म-समर्पण करता है, लेकिन उसे किसी भी दशा में उसे कल्याण-राज्य के किसी भी कोने में नागरिक के रूप में रहने नहीं दिया जा सकता। पाँचों पाण्डव भगवान् कृष्ण के विश्वासपात्र प्रतिनिधि थे, जिनके कारण ही वास्तविक रूप से कुरुक्षेत्र का युद्ध अस्तित्व में आया, लेकिन यह उनके किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं था। वे चाहते थे कि संसार में महाराज युधिष्ठिर तथा उनके वंशज महाराज परीक्षित, जैसे आदर्श राजा राज्य करें, अतएव महाराज परीक्षित जैसे उत्तरदायी राजा, अपने राज्य में अधर्म के मित्र को पाण्डवों की कीर्ति का मूल्य चुकाकर, फूलने-फलने की अनुमति नहीं दे सकते थे। राज्य से

भ्रष्टाचार-उन्मूलन करने का यही एकमात्र उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। अधर्म के मित्रों को देश से निकाल दिया जाना चाहिए, इससे राज्य भ्रष्टाचार से बच सकेगा।

त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; वर्तमानम्—उपस्थित; नर-देव—हे नर-देवता या राजा; देहेषु—की देह में; अनुप्रवृत्तः—सर्वत्र घटित होकर; अयम्—ये सारे; अधर्म—अधर्म; पूगः—जनमसूह में; लोभः—लोभ; अनृतम्—असत्य; चौर्यम्—डकैती; अनार्यम्—अशिष्टता; अंहः—विश्वासघात; ज्येष्ठा—दुर्भाग्य; च—तथा; माया—छल; कलहः—झगड़ा; च—तथा; दम्भः—घमंड।

यदि कलि रूपी अधर्म को नर-देवता अर्थात् किसी कार्यकारी प्रशासक के रूप में कर्म करने दिया जाता है, तो निश्चय ही लोभ, असत्य, डकैती, अशिष्टता, विश्वासघात, दुर्भाग्य, कपट, कलह तथा दम्भ जैसे अधर्म का बोलबाला हो जायेगा।

तात्पर्य : किसी भी मत के अनुयायीगण धर्म के सिद्धान्तों जैसे—*तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य* का पालन कर सकते हैं, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। इसके लिए हिन्दू से मुसलमान या ईसाई या अन्य कोई मतावलम्बी बनने की आवश्यकता नहीं है, जिससे की स्वधर्मत्यागी बनकर धर्म के सिद्धान्तों का पालन न करना पड़े। *भागवतधर्म, धर्म के सिद्धान्तों* का पालन करने के लिए कहता है। धर्म के सिद्धान्त न तो रूढ़ियाँ हैं, न ही किसी मत के नियामक सिद्धान्त हैं। ऐसे नियामक सिद्धान्त सम्बन्धित देश तथा काल के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। मनुष्य को इतना ही देखना है कि धर्म का उद्देश्य पूरा होता है या नहीं। वास्तविक सिद्धान्तों तक पहुँचे बिना रूढ़ियों तथा सूत्रों में चिपके रहना ठीक नहीं है। धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी भी विशेष मत के प्रति निष्पक्ष रह सकता है, किन्तु राज्य उपर्युक्त धर्म के सिद्धान्तों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। लेकिन कलियुग में राजसत्ता के कार्यकारी अध्यक्ष ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति उदासीन होंगे, अतएव उनके संरक्षण में धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी यथा लालच, असत्य, छल तथा चोरी स्वाभाविक रूप से पनपेंगे और ऐसे में राज्य में भ्रष्टाचार रोकने के लिए विज्ञापनबाजी के हो-हल्ले का कोई अर्थ नहीं होगा।

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये ।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वर्तितव्यम्—बने रहने के योग्य; तत्—अतएव; अधर्म—अधर्म; बन्धो—मित्र; धर्मेण—धर्म से; सत्येन—सत्य से; च—भी; वर्तितव्ये—स्थित होकर; ब्रह्म-आवर्ते—वह स्थान जहाँ यज्ञ सम्पन्न हो; यत्र—जहाँ; यजन्ति—ठीक से करते हैं; यज्ञैः—यज्ञ या भक्ति से; यज्ञ-ईश्वरम्—भगवान् को; यज्ञ—यज्ञ; वितान—फैलते हुए; विज्ञाः—पटु लोग।

अतएव, हे अधर्म के मित्र, तुम ऐसे स्थान में रहने के योग्य नहीं हो जहाँ पर बड़े-बड़े पण्डित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सत्य तथा धार्मिक नियमों के अनुसार यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : *यज्ञेश्वर* या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठानों के भोक्ता हैं। ऐसे यज्ञ-अनुष्ठान विभिन्न युगों के लिए शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रूप से बताये गये हैं। दूसरे शब्दों में, *यज्ञ* का अर्थ है भगवान् की श्रेष्ठता का स्वीकार करना और इसके लिए ऐसे कर्म करना, जिनसे भगवान् सभी प्रकार से सन्तुष्ट हों। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और वे भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कोई यज्ञ नहीं करते। कोई भी स्थान या देश जहाँ भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार की जाय तथा यज्ञ सम्पन्न होता हो, वह *ब्रह्मावर्त* कहलाता है। विश्व के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न देश हैं और इनमें से प्रत्येक देश में परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ हो सकते हैं, लेकिन उन्हें प्रसन्न करने का मुख्य उद्देश्य *भागवत* में दिया गया है और यह है सत्य। धर्म का मूल सिद्धान्त सत्य है और सभी धर्मों का चरम लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। इस कलियुग में यज्ञ का सबसे महान् सामान्य सूत्र *सङ्कीर्तन यज्ञ* है। यह मत उन पण्डितों का है, जो यज्ञ विधि का प्रचार करना जानते हैं। भगवान् चैतन्य ने यज्ञ की इस विधि का प्रचार किया और इस श्लोक से यह जाना जा सकता है कि संकीर्तन यज्ञ को कहीं भी कलि को भगाने के लिए तथा मानव समाज को कलि के प्रभाव का शिकार बनने से बचाने के लिए सम्पन्न किया जा सकता है।

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
इज्यात्ममूर्तिर्यजतां शं तनोति ।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—ऐसे यज्ञोत्सवों में; हरिः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; इज्यमानः—पूजित होकर; इज्य-आत्म—समस्त पूज्य देवों के आत्मा; मूर्तिः—रूपों में; यजताम्—पूजा करनेवाले; शम्—कल्याण; तनोति—फैलाता है; कामान्—इच्छाएँ; अमोघान्—अचूक; स्थिर-जङ्गमानाम्—समस्त चरों तथा अचरों का; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; वायुः—वायु; इव—सदृश; एषः—सबों का; आत्मा—आत्मा।.

समस्त यज्ञोत्सवों में यद्यपि कभी-कभी कोई देवता की पूजा की जाती है, लेकिन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को इसलिए पूजा जाता है, क्योंकि वे प्रत्येक के अन्तरात्मा हैं और वायु के समान भीतर तथा बाहर विद्यमान रहते हैं। इस तरह केवल वे ही हैं, जो पूजा करने वाले का समग्र कल्याण करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी देखा जाता है कि इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवताओं की भी पूजा की जाती है और उन्हें यज्ञ-फल प्रदान किये जाते हैं; फिर भी ऐसे समस्त यज्ञों का फल पूजा करने वालों को परमेश्वर द्वारा ही प्रदान किया जाता है और केवल भगवान् ही पूजा करनेवाले का ऐसा कल्याण कर सकते हैं। यद्यपि देवताओं की पूजा की जाती है, किन्तु वे भगवान् की अनुमती के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान् चर तथा अचर सबों के परमात्मा हैं।

भगवद्गीता (९.२३) में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि इस प्रकार की है :

येऽप्यन्य देवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

"हे कुन्ती पुत्र, मनुष्य अन्य देवों को जो भी अर्पित करता है, वह वास्तव में मेरे निमित्त ही होता है, किन्तु यह यथार्थ को समझे बिना अर्पित किया जाता है।"

तथ्य यह है कि परमेश्वर अद्वितीय हैं। भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है। इस प्रकार भगवान् इस भौतिक सृष्टि से सदैव परे रहते हैं। लेकिन ऐसे बहुत से लोग हैं, जो सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र जैसे देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु ये तो परमेश्वर के भौतिक प्रतिनिधि मात्र हैं। ये तो परमेश्वर का अप्रत्यक्ष गुणात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु एक विद्वान या भक्त जानता है कि कौन क्या है।

अतएव वह सीधे परमेश्वर की पूजा करता है और गुणात्मक भौतिक प्रतिनिधियों के कारण इधर-उधर चित्त नहीं भटकने देता। जो इतने बुद्धिमान नहीं हैं, वे इन गुणात्मक भौतिक प्रतिनिधियों को पूजते हैं, लेकिन उनकी पूजा अनियमित होने के कारण नियम के विपरीत है।

सूत उवाच
परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; एवम्—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिये जाने पर; सः—वह; कलिः—साक्षात् कलि; जात—हुआ; वेपथुः—कम्पन; तम्—उसको; उद्यत—उठी हुई; असिम्—तलवार; आह—कहा; इदम्—यह; दण्ड-पाणिम्—यमराज, मृत्युरूप को; इव—सदृश; उद्यतम्—प्रायः तैयार।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार महाराज परीक्षित द्वारा आदेश दिये जाने पर कलि भय के मारे थरथराने लगा। राजा को अपने समक्ष यमराज के समान मारने के लिए उद्यत देखकर कलि ने राजा से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : राजा कलि को तुरन्त मारने के लिए तैयार थे, यदि वह उनकी आज्ञा का पालन न करता; अन्यथा राजा को उसको जीवन दान देने में कोई आपत्ति न थी। कलि ने भी, विभिन्न प्रकार से दण्ड से बचने का उपाय लगाकर, अन्त में निश्चय किया कि अब वह राजा की शरण में जाय, अतः वह जीवन के भय से काँपने लगा। राजा या शासक को इतना प्रबल होना चाहिए कि वह कलि जैसे व्यक्ति के समक्ष काल पुरुष यमराज की भाँति खड़ा रह सके। राजा के आदेश का पालन होना चाहिए, अन्यथा अपराधी का जीवन संकट में रहता है। इसी विधि से राज्य के नागरिकों के सामान्य जीवन में उत्पात करनेवाले कलि पुरुषों के ऊपर शासन जमाया जाता है।

कलिरुवाच
यत्र क्व वाथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया ।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कलिः उवाच—कलि ने कहा; यत्र—जहाँ कहीं; क्व—तथा कहीं भी; वा—अथवा; अथ—फलस्वरूप; वत्स्यामि—वास करूँगा; सार्व-भौम—हे पृथ्वी के स्वामी (सम्राट); तव—तुम्हारे; आज्ञया—आदेश से; लक्षये—देखता हूँ; तत्र तत्र—वहाँ-वहाँ; अपि—भी; त्वाम्—आपको; आत्त—लिये; इषु—बाण; शरासनम्—धनुष।

हे राजा, मैं आपकी आज्ञा से चाहे जहाँ कहीं भी रहूँ और जहाँ कहीं भी देखूँ, वहाँ केवल आपको ही धनुष-बाण लिए देखूँगा।

तात्पर्य : कलि देख रहा था कि महाराज परीक्षित सारे विश्व के सम्राट थे, अतएव वह चाहे जहाँ कहीं भी रहेगा, उसे राजा उसी मुद्रा में दिखेंगे। कलि उपद्रव के निमित्त था और महाराज परीक्षित कलि जैसे उपद्रवकारियों के दमन हेतु थे। अतएव कलि के लिए तो यही श्रेयस्कर था कि राजा उसे अन्यत्र न मारकर वहीं मार डालते। अब तो वह राजा के समक्ष शरणागत के रूप में था और अब जो कुछ करना था, वह राजा के हाथों में था।

तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मेरा; धर्म-भृताम्—धर्म के समस्त रक्षकों में से; श्रेष्ठ—हे प्रमुख; स्थानम्—स्थान; निर्देष्टुम्—निश्चित करने के लिए; अर्हसि—आप समर्थ हैं; यत्र—जहाँ; एव—निश्चय ही; नियतः—सदैव; वत्स्ये—रह सकूँ; आतिष्ठन्—स्थायी रूप से स्थित; ते—आपका; अनुशासनम्—आपके शासन में।

अतएव हे धर्मरक्षकों में श्रेष्ठ, कृपा करके मेरे लिए कोई स्थान निश्चित कर दें, जहाँ मैं आपके शासन के संरक्षण में स्थायी रूप से रह सकूँ।

तात्पर्य : कलि ने महाराज परीक्षित को धर्मरक्षकों में श्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया, क्योंकि राजा उस व्यक्ति को मारने से रुक गये, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली थी। किसी शरणागत जीव को समस्त सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए, भले ही वह शत्रु क्यों न हो। यही धर्म का नियम है। अतएव हम कल्पना कर सकते हैं कि भगवान् अपने शरणागत व्यक्ति को किस तरह का संरक्षण प्रदान करते होंगे, जो उनकी शरण में शत्रुरूप में नहीं, बल्कि सेवक के रूप में आया हो। भगवान् शरणागत की समस्त पापों तथा पापकर्मों के फलों से रक्षा करते हैं। (*भगवद्गीता* १८.६६)

सूत उवाच
अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अभ्यर्थितः—इस प्रकार से निवेदित; तदा—उस समय; तस्मै—उसको; स्थानानि—स्थानों को; कलये—कलि को; ददौ—अनुमति प्रदान की; द्यूतम्—जुआ खेलना; पानम्—मद्यपान; स्त्रियः—स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध; सूना—पशु बध; यत्र—जहाँ भी; अधर्मः—पाप कर्म; चतुः-विधः—चार प्रकार के।

सूत गोस्वामी ने कहा : कलियुग द्वारा इस प्रकार याचना किये जाने पर महाराज परीक्षित ने उसे ऐसे स्थानों में रहने की अनुमति दे दी, जहाँ जुआ खेलना, शराब पीना, वेश्यावृत्ति तथा पशु-वध होते हों।

तात्पर्य : अधर्म के मूल लक्षण यथा अहंकार, वेश्यावृत्ति, मादक द्रव्य-सेवन तथा असत्य भाषण धर्म के चार सिद्धान्तों—तपस्या, स्वच्छता, दया तथा सत्य—के विपरीतार्थी हैं। कलि को जिन चार स्थानों में रहने के लिए राजा ने विशेष रूप से अनुमति दी, वे हैं—द्यूतक्रीड़ा का स्थान, वेश्यालय, मदिरालय तथा कसाईघर।

श्रील जीव गोस्वामी निर्देश देते हैं कि शास्त्रों के सिद्धान्तों विरुद्ध मद्यपान यथा *सौत्रामणी यज्ञ,* बिना विवाह के स्त्रियों की संगति तथा शास्त्रों के आदेश के विरुद्ध पशुवध, ये अधार्मिक कृत्य हैं। वेदों में, *प्रवृत्तों* अर्थात् जो भौतिक भोग में लगे हैं तथा *निवृत्तो* अर्थात् जो भवबन्धन से मुक्त हैं उनके लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के आदेश हैं। *प्रवृत्तों* के लिए वैदिक आदेश यह है कि वे धीरे-धीरे अपने कर्मों को मोक्षमार्ग की ओर नियमित करें। अतएव जो लोग निपट अज्ञानी हैं और सुरा, सुन्दरी तथा मांस के आदी हैं, उन्हें *सौत्रामणी यज्ञ* करके सुरापान करने, विवाह करके स्त्री का संसर्ग करने तथा यज्ञों द्वारा मांस खाने की कभी कभी अनुमति प्रदान की जाती है। वैदिक साहित्य की ऐसी संस्तुतियाँ एक वर्ग विशेष के लिए हैं, सर्वसाधारण के लिए नहीं। लेकिन चूँकि ये विशिष्ट व्यक्तियों के लिए वैदिक आदेश हैं, अतएव *प्रवृत्तों* द्वारा किये जानेवाले ऐसे कार्य अधर्म नहीं माने जाते। किसी एक का भोजन दूसरे के लिए विष हो सकता है, इसी तरह जो तमोगुणियों के लिए संस्तुत है, सतोगुणियों के लिए विष बन सकता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी प्रभु पुष्टि करते हैं कि किसी वर्ग विशेष के लोगों के लिए शास्त्रों की संस्तुतियों को कभी अधर्म नहीं मानना चाहिए। लेकिन वस्तुतः ऐसे कार्य अधर्म हैं और

उन्हें कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। शास्त्रों की संस्तुतियाँ ऐसे अधर्म को बढ़ावा देने के लिए नहीं हैं, अपितु क्रमशः अधर्म को धर्म के पथ की ओर अग्रसर कराने के निमित्त हैं।

महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए, राज्यों के समस्त कार्यकारी प्रमुखों का यह कर्तव्य है कि वे अपने राज्यों में धर्म के सिद्धान्तों—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य—की स्थापना करें और सभी प्रकार से अधर्म को—अहंकार, अवैध स्त्री-संसर्ग या वेश्यावृत्ति, मादक द्रव्य सेवन तथा असत्य को—रोकें। और अच्छा तो यही होगा कि कलि को द्यूत, सुरापान, वेश्यावृत्ति तथा पशु वध होनेवाले स्थानों में भेज दिया जाय, यदि ऐसे स्थान विद्यमान हों। जो लोग इन अधार्मिक आदतों से ग्रस्त हैं, उन्हें शास्त्रों के आदेशों से सुपथ पर लाया जाय। किसी भी परिस्थिति में उन्हें किसी भी राजसत्ता से प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राज्यसत्ता को द्यूतक्रीड़ा, सुरापान, वेश्यावृत्ति तथा असत्य को पूर्णरूपेण बंद करा देना चाहिए। जो राज्य बहुमत द्वारा भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना चाहता है, उसे निम्नलिखित विधि से धर्म का प्रवर्तन करना चाहिए—

१. एक मास में यदि अधिक नहीं, तो कम से कम दो दिन अनिवार्य उपवास (तपस्या)। आर्थिक दृष्टि से भी, ऐसे दो दिन के उपवास से राज्य में लाखों टन खाद्यान्न की बचत होगी और इससे नागरिकों के स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

२. तरुण बालकों तथा बालिकाओं की आयु जब क्रमशः चौबीस वर्ष तथा सोलह वर्ष की हो जाय, उनका अनिर्वायतः विवाह होना चाहिए। यदि लड़कों तथा लड़कियों का वैध विवाह हो चुका हो, तो स्कूलों तथा कालेजों में सह-शिक्षा देने में कोई हानि नहीं है। यदि लड़कों तथा लड़कियों में घनिष्ठता हो भी जाय, तो अवैध सम्बन्ध होने के पूर्व उनका समुचित रीति से विवाह कर दिया जाय। तलाक ऐक्ट से वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, अतएव इसको मिटा दिया जाय।

३. राज्य के नागरिक राज्य में या समाज में आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए अपनी-अपनी आय का पचास प्रतिशत तक दान में दें। वे *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश (१) *कर्मयोग* द्वारा अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ही प्रत्येक काम करके, (२) प्रामाणिक पुरुषों या मुक्तात्माओं से *श्रीमद्भागवत* का नियमित श्रवण करके, (३) घर पर या पूजा स्थलों पर सामूहिक रूप से भगवान् की महिमा का कीर्तन करके, (४) *श्रीमद्भागवत* के उपदेश में लगे *भागवतों* की सभी प्रकार से सेवा

करके, तथा (५) ईश्वर चेतना से पूरित वातावरण वाले स्थान में रहकर करें। यदि राज्य उपर्युक्त विधि से संचालित हो, तो सहज ही सर्वत्र ईश्वर-चेतना होगी।

सभी प्रकार का जुआ (द्यूत), यहाँ तक कि सट्टेबाजी भी, पतन की ओर ले जानेवाली है और जब राज्य में जुआ खेलने को प्रोत्साहन मिलता है, तो सत्य का सर्वथा लोप हो जाता है। उपर्युक्त आयु से अधिक काल तक, तरुणों तथा तरुणियों को अविवाहित रहने की अनुमति तथा सभी तरह के कसाईघरों को लाइसेंस का, निषेध होना चाहिए। मांसाहारियों को शास्त्रानुमोदित विधि से मांस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सभी प्रकार का नशा, यहाँ तक कि सिगेरट पीना, तम्बाकू चबाना तथा चाय पीना भी, निषिद्ध होना चाहिए।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—भी; याचमानाय—भिक्षुक को; जात-रूपम्—सोना; अदात्—दिया; प्रभुः—राजा ने; ततः—जिससे; अनृतम्—असत्य; मदम्—नशा; कामम्—विषयवासना; रजः—रजोगुण के कारण; वैरम्—शत्रुता; च—तथा; पञ्चमम्—पाँचवाँ।

कलि ने जब कुछ और याचना की, तो राजा ने उसे उस स्थान में रहने की अनुमति प्रदान की जहाँ सोना उपलब्ध हो, क्योंकि जहाँ-जहाँ स्वर्ण होता है, वहीं-वहीं असत्य, मद, काम, ईर्ष्या तथा वैमनस्य रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि को रहने के लिए चार स्थानों में रहने की अनुमति दे दी, किन्तु उनके राज्य में ऐसे स्थानों को ढूँढ़ पाना कठिन था, क्योंकि महाराज परीक्षित के शासनकाल में ऐसे स्थान कहीं भी न थे। अतएव कलि ने राजा से कुछ ऐसा देने के लिए याचना की जो व्यावहारिक हो और उसके कपट-कार्यों के काम आ सके। इस प्रकार महाराज परीक्षित ने उसे उस स्थान में रहने की अनुमति दे दी, जहाँ सोना रहता है, क्योंकि जहाँ सोना होता है, वहाँ उपर्युक्त चारों वस्तुएँ तो पाई ही जाती हैं; उनके अतिरिक्त वैर (वैमनस्य) भी रहता है। इस तरह कलि स्वर्ण-मानकीकृत हो गया। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार सोना असत्य भाषण, मादक द्रव्य सेवन, वेश्यावृत्ति, ईर्ष्या तथा शत्रुता को प्रोत्साहन देता है। यहाँ तक कि स्वर्ण-मानक विनिमय तथा मुद्रा भी बुरे होते हैं।

स्वर्ण–मानक मुद्रा भी असत्य पर आधारित है, क्योंकि मुद्रा सुरक्षित सोने के समकक्ष नहीं होती। इसका मूल सिद्धान्त झूठा है, क्योंकि मुद्रा नोटों को वास्तविक सुरक्षित स्वर्ण से अधिक मात्रा में जारी किया जाता है। अधिकारियों की इस कृत्रिम मुद्रा–स्फीति से राज्य की अर्थ–व्यवस्था का दुरुपयोग होता है। बुरे धन या कृत्रिम मुद्रानोटों के कारण वस्तुओं के दाम कृत्रिम रूप से बढ़ जाते हैं। बुरा धन अच्छे धन को बाहर निकाल फेंकता है। अतएव कागजमुद्रा के स्थान पर, असली सोने के सिक्के विनिमय हेतु, प्रयुक्त होने चाहिए। इससे सोने का दुरुपयोग बन्द हो जाएगा। स्त्रियों के स्वर्णाभूषण गुण के अनुसार नहीं, अपितु भार के अनुसार, कण्ट्रोल पर बेचे जाँय। इससे काम, ईर्ष्या तथा शत्रुता को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। जब सिक्कों के रूप में वास्तविक स्वर्णमुद्रा होगी तो असत्य, वेश्यावृत्ति इत्यादि को जन्म देने में सोने का प्रभाव स्वतः रुक जाएगा। फिर भ्रष्टाचार विरोधी मंत्रालय की जरूरत नहीं रह जाएगी, जो वेश्यावृत्ति तथा असत्य का ही दूसरा नाम है।

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अमूनि—ये सब; पञ्च—पाँच; स्थानानि—स्थान; हि—निश्चय ही; अधर्म—अधर्म को; प्रभवः—प्रोत्साहन देनेवाले; कलिः—कलियुग; औत्तरेयेण—उत्तरा के पुत्र द्वारा; दत्तानि—दिये गये; न्यवसत्—रहने लगा; तत्—उसके द्वारा; निदेश-कृत्—आदेश पाकर।

इस प्रकार उत्तरा के पुत्र, महाराज परीक्षित के निर्देश से कलि को उन पाँच स्थानों में रहने की अनुमति मिल गई।

तात्पर्य : इस प्रकार कलियुग का समारम्भ स्वर्ण के मानकीकरण से हुआ, अतएव विश्वभर में असत्य, नशा, पशुवध तथा वेश्यावृत्ति का बोलबाला है और बुद्धिमान लोग भ्रष्टाचार को भगाने के लिए इच्छुक हैं। ऊपर, इनसे बचाव की विधि बताई गई है और हर एक व्यक्ति इस सुझाव से लाभ उठा सकता है।

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित् ।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; एतानि—इन सबों को; न—कभी नहीं; सेवेत—सम्पर्क में आए; बुभूषुः—भलाई चाहनेवाले; पुरुषः—पुरुष; क्वचित्—किसी भी दशा में; विशेषतः—विशेष रूप से; धर्म-शीलः—मुक्ति पथ पर अग्रसर होनेवाले; राजा—राजा; लोक-पतिः—जननेता; गुरुः—ब्राह्मण तथा संन्यासी-गण।

अतएव जो कोई भी, विशेष रूप से जो राजा, धर्मोपदेशक, जननेता, ब्राह्मण तथा संन्यासी जो अपनी भलाई चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त चार अधार्मिक कार्यों के सम्पर्क में कभी नहीं आना चाहिए।

तात्पर्य : ब्राह्मण अन्य सभी वर्णों के धर्मोपदेशक होते हैं और संन्यासी सभी वर्णों तथा आश्रमों के गुरु होते हैं। उसी प्रकार राजा तथा जननेता भी समस्त लोगों के भौतिक कल्याण के लिए उत्तरदायी होते हैं। अतएव उन्नति के इच्छुक धर्मवेत्ता तथा उत्तरदायी लोगों को अथवा उन्हें जो अपना अमूल्य मनुष्य जीवन बर्बाद नहीं करना चाहते, अधर्म के सिद्धान्तों से, विशेष रूप से स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध से बचना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण सत्यवादी नहीं है, तो ब्राह्मण होने के उसके सारे अधिकार तत्काल व्यर्थ एवं निर्मूल हो जाते हैं। यदि संन्यासी का किसी स्त्री से अवैध सम्बन्ध हो जाता है, तो तभी से उसका संन्यासी कहलाने का अधिकार झूठा हो जाता है। इसी प्रकार यदि राजा तथा जननेता अनावश्यक रूप से अहंकारी है या उसे मद्यपान तथा धूम्रपान की लत है, तो वह लोक-कल्याण के कार्य करने के लिए अयोग्य ठहरता है। सत्य (सचाई) सभी धर्मों का मूल सिद्धान्त है। मानव समाज के चार प्रकार के अग्रणी अर्थात् संन्यासी, ब्राह्मण, राजा तथा जननेता की परीक्षा उनके चरित्र तथा गुणों के आधार पर की जानी चाहिए। किसी को गुरु या समाज का स्वामी स्वीकार करने के पूर्व, उसे चरित्र की उपुर्यक्त कसौटियों में परखना चाहिए। ऐसे जननेता भले ही शैक्षिक योग्यता में कम हों, लेकिन उन्हें चार अयोग्यताओं, अर्थात् जुआ, मद, वेश्यावृत्ति तथा पशुवध के दूषणों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति ।
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीं च समवर्धयत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

वृषस्य—(धर्मरूप) बैल का; नष्टान्—विनष्ट; त्रीन्—तीन; पादान्—पाँवों को; तपः—तपस्या; शौचम्—स्वच्छता; दयाम्—दया; इति—इस प्रकार; प्रतिसन्दधे—पुनः स्थापित किया; आश्वास्य—आश्वासन देकर; महीम्—पृथ्वी को; च—तथा; समवर्धयत्—सुधार किया।

तत्पश्चात् राजा ने धर्म-रूप बैल के विनष्ट पैरों को पुनःस्थापित किया और आश्वासन देनेवाले कार्यों से पृथ्वी की दशा में काफी सुधार किये।

तात्पर्य : कलि के लिए विशेष स्थान नियत करके, महाराज परीक्षित ने उसे एक तरह से छला। कलि, धर्मरूप बैल तथा गायरूप पृथ्वी की उपस्थिति में, वे अपने राज्य की सामान्य स्थिति का आकलन कर सके। अतएव उन्होंने बैल के तीन पाँवों को पुन: स्थापित करने की तुरन्त व्यवस्था की। ये पाँव थे—तप, स्वच्छता तथा दया। और विश्वभर के लोगों के सामान्य लाभ के लिए उन्होंने स्वर्ण-भण्डार को समाज में स्थायित्व लाने के लिए प्रयुक्त किया। सोना निश्चित रूप से असत्य, मद, वेश्यावृत्ति, शत्रुता तथा हिंसा को जन्म देने वाला है, किन्तु सुयोग्य राजा या जननेता अथवा ब्राह्मण या संन्यासी के मार्गदर्शन में वही सोना धर्मरूप बैल के लुप्त पाँवों को फिर से स्थापित करने में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अतएव महाराज परीक्षित ने अपने पितामह अर्जुन की भाँति, कलि की तुष्टि के लिए रखे सारे अवैध सोने को एकत्र किया और *श्रीमद्भागवत* के उपदेशानुसार उसे संकीर्तन-यज्ञ में प्रयुक्त किया। जैसाकि हमने पहले सुझाव दिया है, संचित धन के वितरण के लिए इसके तीन भाग करने चाहिए—पचास प्रतिशत भगवान् की सेवा के लिए, पचीस प्रतिशत परिवारजनों के लिए तथा पचीस प्रतिशत निजी आवश्यकताओं के लिए। आय का पचास प्रतिशत भगवान् की सेवा के लिए या संकीर्तन यज्ञ के माध्यम से समाज में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार हेतु व्यय करना सर्वोच्च मानवीय करुणा का प्रदर्शन होगा। सामान्यतया विश्व के लोग आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में, विशेष रूप से भगवद्भक्ति के विषय में, अंधकार में रहते हैं। अतएव भक्तिमय सेवा के क्रमबद्ध दिव्य ज्ञान का प्रसार करना सबसे बड़ी दया है, जो विश्व के प्रति प्रदर्शित की जा सकती है। जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने संचित सोने का पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् की सेवा में अर्पित करने के लिए शिक्षी दी जाएगी, तो निश्चय ही तप, स्वच्छता तथा दया स्वत: पीछे पीछे आएँगे और इस तरह धर्म के खोये हुए तीनों पाँव स्वत: स्थापित हो जाएँगे।

जब पर्याप्त तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य होगा तो पृथ्वी माता पूर्णतः तुष्ट होंगी और कलि को मानव समाज के ढाँचे में घुसपैठ करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा।

स एष एतर्ह्यध्यास्त आसनं पार्थिवोचितम् ।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ॥ ४३ ॥
आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् ।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; एतर्हि—इस समय; अध्यास्ते—शासन कर रहा है; आसनम्—सिंहासन; पार्थिव-उचितम्—राजा के लिए योग्य; पितामहेन—पितामह द्वारा; उपन्यस्तम्—हस्तान्तरित होकर; राज्ञा—राजा द्वारा; अरण्यम्—वन; विविक्षता—इच्छुक; आस्ते—है; अधुना—इस समय; सः—वह; राज-ऋषिः—राजर्षि; कौरव-इन्द्र—कुरु राजाओं में प्रमुख; श्रिया—यश; उल्लसन्—फैलते हुए; गजाह्वये—हस्तिनापुर में; महा-भागः—सर्वाधिक भाग्यशाली; चक्रवर्ती—सम्राट; बृहत्-श्रवाः—अत्यन्त विख्यात।

वे ही सर्वाधिक भाग्यशाली सम्राट महाराज परीक्षित, जिन्हें महाराज युधिष्ठिर ने वन जाते समय हस्तिनापुर का राज्य सौंपा था, अब कुरुवंशी राजाओं के कार्यों से ख्याति प्राप्त करके अत्यन्त सफलतापूर्वक संसार पर शासन कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के ऋषियों ने महाराज परीक्षित की मृत्यु के कुछ समय बाद ही, दीर्घकालीन् यज्ञोत्सव प्रारम्भ किया था। इस यज्ञ को एक हजार वर्ष तक चलना था और ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण के बड़े भाई बलदेव के कुछ समकालीन व्यक्ति यज्ञस्थल पर गये थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार वर्तमानकाल का प्रयोग भूतकाल की तुलना में समय की छोटी अवधि को प्रदर्शित करने के लिए भी होता है। उसी अर्थ में यहाँ पर महाराज परीक्षित के शासन के लिए वर्तमान काल का प्रयोग हुआ है। सतत तथ्य के लिए भी वर्तमान काल का प्रयोग किया जा सकता है। महाराज परीक्षित के सिद्धान्तों को अब भी लागु किया जा सकता है और यदि अधिकारियों में संकल्प हो, तो मानव समाज को अब भी सुधारा जा सकता है। अब भी, यदि हम महाराज परीक्षित की भाँति कार्यवाही करने में दृढ़ हो लें, तो कलि द्वारा प्रचारित समस्त अनैतिक कार्यकलापों को समाज से हटा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान निश्चित कर दिये थे, किन्तु कलि को संसार भर में ऐसे स्थान नहीं मिल पाये, क्योंकि महाराज परीक्षित इतने सावधान थे कि जुआ खेलने, मद्यपान करने,

वेश्यावृति तथा पशुवध के लिए कोई स्थान ही न रहे। आधुनिक प्रशासक राज्य से भ्रष्टाचार समाप्त करना चाहते हैं, लेकिन वे निपट मूर्ख होने के कारण यह भी नहीं जानते कि इसे कैसे किया जाय। वे जुआ खेलने के अड्डे, मदिरा तथा अन्य नशीली औषधियों के लिए स्थान, वेश्यालय, होटल की वेश्यावृत्ति तथा सिनेमा-घर खोलने तथा हर काम में झूठ के लिए लाइसेंस देते हैं और साथ ही राज्य से भ्रष्टाचार भगाना चाहते हैं। वे ईश्वर-चेतना के बिना ईश्वर का राज्य चाहते हैं। भला दो विरोधी बातें एकसाथ कैसे सम्भव हो सकती हैं? यदि हम राज्य से भष्टाचार दूर करना चाहते हैं, तो हमें सर्वप्रथम समाज को इस तरह संगठित करना होगा कि वह धार्मिक सिद्धान्तों को—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य को—ग्रहण करे और हमें परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए, जुआ, शराब, वेश्या तथा असत्य के सारे स्थानों को बन्द कर देना पड़ेगा। ये कुछ व्यावहारिक शिक्षाएँ हैं, जो हमें *श्रीमद्भागवत* से प्राप्त होती हैं।

इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः ।
यस्य पालयतः क्षौणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-भूत—इस प्रकार हुआ; अनुभावः—अनुभव; अयम्—इसका; अभिमन्यु-सुतः—अभिमन्यु का पुत्र; नृपः—राजा; यस्य—जिसका; पालयतः—अपने शासन के कारण; क्षौणीम्—पृथ्वी पर; यूयम्—तुम सब; सत्राय—यज्ञ सम्पन्न करने के लिए; दीक्षिताः—दीक्षित हुए।

अभिमन्यु पुत्र, महाराज परीक्षित, इतने अनुभवी हैं कि उनके पटु शासन तथा संरक्षकत्व के बल पर तुम सब इस प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कर रहे हो।

तात्पर्य : ब्राह्मण तथा संन्यासी समाज के आध्यात्मिक उन्नयन में अत्यन्त दक्ष होते हैं, जबकि क्षत्रिय या प्रशासक मानव समाज में भौतिक शान्ति तथा सम्पन्नता लाने में दक्ष होते हैं। दोनों ही सुख के स्तम्भ समान हैं, अतएव वे जन-कल्याण में पूर्ण सहयोग के निमित्त होते हैं। महाराज परीक्षित कलि को अपने कार्यक्षेत्र से भगाने में अत्यन्त अनुभवी थे, जिससे राज्य में आध्यात्मिक प्रबुद्धता के लिए स्थान मिल सका। यदि सामान्य लोग ग्रहणशील न हों, तो आध्यात्मिक प्रबुद्धता की आवश्यकता पर बल दे पाना कठिन होता है। तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य—ये धर्म के मूल सिद्धान्त हैं। इनसे आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने की भूमिका तैयार होती है और महाराज परीक्षित ने इसके लिए

अनुकूल परिस्थिति बना ली थी। इस तरह नैमिषारण्य के ऋषि एक हजार वर्षों का यज्ञ करने में सक्षम बने। दूसरे शब्दों में, राज्य की सहायता के बिना, दर्शन का कोई मत या धर्म निरन्तर प्रगति नहीं कर सकता। सभी के लिए कल्याणकारी इस अच्छे कार्य के लिए ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच पूरा सहयोग होना चाहिए। महाराज अशोक के समय तक भी यह भावना बनी रही। राजा अशोक ने भगवान् बुद्ध को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया, जिससे उनका सम्प्रदाय सारे विश्व में फैल गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'कलि को दण्ड तथा पुरस्कार' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप

सूत उवाच
यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः ।
अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; यः—जो; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा; विप्लुष्टः—जलाया गया; न—कभी नहीं; मातुः—माता के; उदरे—गर्भ में; मृतः—मरा हुआ; अनुग्रहात्—कृपा से; भगवतः—भगवान्; कृष्णस्य—कृष्ण की; अद्भुत-कर्मणः—जो अद्भुत कार्य करते हैं।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण अद्भुत कार्य करनेवाले हैं। उनकी कृपा से महाराज परीक्षित द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा अपनी माता के गर्भ में ही प्रहार किये जाने पर भी जलाये नहीं जा सके।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के सारे ऋषि महाराज परीक्षित के अद्भुत शासन के विषय में, विशेष रूप से कलि को दण्डित करने तथा अपने राज्य में उसे कोई भी हानि न पहुँचाने के लिए पूर्ण रूप से अक्षम बनाने के प्रसंगों से आश्चर्यचकित रह गये। सूत गोस्वामी भी महाराज परीक्षित के अद्भुत जन्म तथा मृत्यु का वर्णन करने के लिए कम आतुर न थे और यह श्लोक नैमिषारण्य के ऋषियों की उत्कंठा बढ़ाने के लिए सूत गोस्वामी ने कह सुनाया।

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् ।
न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशय: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-कोप—ब्राह्मण के क्रोध से; उत्थितात्—उत्पन्न; य:—जो था; तु—लेकिन; तक्षकात्—तक्षक सर्प द्वारा; प्राण-विप्लवात्—जीवन-क्षय से; न—कभी नहीं; सम्मुमोह—अभिभूत थे; उरु-भयात्—घोर भय; भगवति—भगवान् में; अर्पित—शरणागत; आशय:—चेतना।

इसके अतिरिक्त, महाराज परीक्षित स्वेच्छा से सदैव भगवान् के शरणागत रहते थे, अतएव वे उड़ने वाले सर्प के भय से, जो उन्हें ब्राह्मण बालक के कोपभाजन बनने के कारण काटनेवाला था, न तो भयभीत थे, न अभिभूत थे।

तात्पर्य : भगवान् का आत्म-शरणागत भक्त *नारायण-परायण* कहलाता है। ऐसा व्यक्ति किसी स्थान या व्यक्ति से, यहाँ तक कि मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। उसके लिए परमेश्वर से बढ़कर कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इस तरह वह स्वर्ग या नरक को एक समान ही महत्त्व देता है। वह अच्छी तरह जानता है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों ही भगवान् की सृष्टियाँ हैं और इसी तरह जीवन तथा मृत्यु भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई जीवन की विभिन्न दशाएँ हैं। किन्तु सभी दशाओं में तथा सभी परिस्थितियों में नारायण का स्मरण आवश्यक है। जो *नारायण-परायण* है, वह इसका निरन्तर अभ्यास करता है। महाराज परीक्षित ऐसे ही शुद्ध भक्त थे। उन्हें एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक ने त्रुटिवश शाप दे दिया था, क्योंकि वह कलि के वशीभूत था, और महाराज परीक्षित ने इस शाप को नारायण द्वारा प्रेषित समझा। वे जानते थे कि जब वे माता के गर्भ में जलाये गये थे, तो नारायण (कृष्ण) ने ही उन्हें बचाया था और यदि उन्हें साँप के काटने से मरना है, तो यह भी भगवान् की कृपा से होगा। भक्त कभी भी भगवान् की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाता; भगवान् द्वारा भेजी गई कोई भी वस्तु भक्त के लिए वरदान होती है। अतएव महाराज परीक्षित ऐसी बातों से न तो भयभीत थे, न ही मोह-ग्रस्त थे। यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है।

उत्सृज्य सर्वत: सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थिति: ।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्सृज्य—छोड़कर; सर्वत:—चारों ओर; सङ्गम्—साथ, संग; विज्ञात—समझते हुए; अजित—जो कभी जीते न जा सके (भगवान्); संस्थिति:—वास्तविक स्थिति; वैयासके:—व्यास के पुत्र को; जहौ—त्याग दिया; शिष्य:—शिष्य के रूप में; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; स्वम्—अपने; कलेवरम्—भौतिक शरीर को।.

तत्पश्चात्, अपने समस्त संगियों को छोड़कर, राजा ने शिष्य-रूप में व्यास के पुत्र (शुकेदव गोस्वामी) की शरण ग्रहण की और इस प्रकार वे भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ सके।

तात्पर्य : यहाँ पर *अजित* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण *अजित* अर्थात् न जीते जा सकनेवाले कहलाते हैं और वे हर प्रकार से अजित हैं। कोई उनकी वास्तविक स्थिति को नहीं जान सकता। वे ज्ञान द्वारा भी अजित हैं। हमने उनके धाम, गोलोक वृन्दावन के विषय में सुना है, लेकिन ऐसे अनेक पंडित हैं, जो इस धाम की कई तरह से व्याख्या करते हैं। किन्तु शुकेदव गोस्वामी जैसे गुरु की कृपा से, जिनकी शरण राजा ने अत्यन्त विनीत शिष्य-रूप में ग्रहण की, मनुष्य भगवान् की वास्तविक स्थिति, उनके सनातन धाम तथा उस धाम की दिव्य साज-सामग्री को समझ सकता है। भगवान् की दिव्य स्थिति को जानते हुए तथा उस दिव्य विधि से, जिससे उस दिव्य धाम तक पहुँचा जा सकता है, राजा अपने चरम गन्तव्य के विषय में आश्वस्त थे और इसे जान लेने के कारण वे प्रत्येक भौतिक वस्तु को, यहाँ तक कि अपने भौतिक शरीर को भी किसी आसक्ति के बिना छोड़ सकते थे। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—परम अर्थात् वस्तुओं के श्रेष्ठ गुण को देख लेने पर मनुष्य सारी भौतिक आसक्ति छोड़ सकता है। *भगवद्गीता* से हम उन भगवान् की शक्ति के गुण को समझते हैं, जो भौतिक शक्ति के गुण से श्रेष्ठ है और शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु की कृपा से भगवान् की इस उच्चतर शक्ति के प्रत्येक पक्ष को जाना जा सकता है, जिससे भगवान् अपने शाश्वत नाम गुण, लीलाओं, साज-सामग्री तथा विविधता को प्रकट करते हैं। भगवान् की इस उच्चतर शक्ति को समझे बिना, कोई कितना ही परम सत्य के वास्तविक स्वभाव के विषय में सैद्धान्तिक चिन्तन क्यों न करे, भौतिक शक्ति को छोड़ नहीं पाता। भगवान् कृष्ण की कृपा से, महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुष की अनुकंपा प्राप्त हुइ थी, अतएव वे अजित भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ पाये थे। वैदिक साहित्य से भगवान् को खोज निकालना अत्यन्त कठिन है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त की कृपा से उन्हें समझ पाना अत्यन्त सरल है।

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उत्तम-श्लोक—भगवान्, जिनका गायन वैदिक स्तोत्रों से किया जाता है; वार्तानाम्—उन पर जीवित रहनेवालों का; जुषताम्—लगे रहनेवालों का; तत्—उसकी; कथा-अमृतम्—उनकी दिव्य कथाएँ; स्यात्—ऐसा होगा; सम्भ्रमः—भ्रान्ति; अन्त—अन्त; काले—समय में; अपि—भी; स्मरताम्—स्मरण करते हुए; तत्—उसका; पद-अम्बुजम्—चरणकमलों को।

ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि जिन्होंने वैदिक स्तोत्रों से स्तुति किये जानेवाले भगवान् की दिव्य कथाओं के लिए ही अपना जीवन अर्पित कर रखा है और जो निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करने में लगे हुए हैं, उन्हें अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में भी किसी प्रकार की भ्रान्ति होने का डर नहीं रहता।

तात्पर्य : जीवन के अन्तिम क्षण में भगवान् की दिव्य प्रकृति को स्मरण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जाती है। जीवन की यह सिद्धि उसे ही मिल पाती है, जिसने शुकेदव गोस्वामी जैसे मुक्तात्मा द्वारा गाये जानेवाले वैदिक स्तोत्रों से या उन्हीं की गुरु-शिष्य परम्परा के किसी व्यक्ति से भगवान् की वास्तविक दिव्य प्रकृति के विषय में जाना है। वैदिक स्तोत्रों को किसी मनोधर्मी से सुनने से कोई लाभ नहीं होता। किन्तु जब उन्हें किसी वास्तविक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से सुना जाता है और सेवा तथा विनयपूर्वक उसे ठीक से समझा जाता है, तब हर बात पारदर्शी रूप से स्पष्ट हो जाती है। इस तरह विनीत शिष्य जीवन के अन्त तक दिव्य स्तर पर रह सकता है। वैज्ञानिक अनुकूलन द्वारा मनुष्य भगवान् को जीवन के अन्त समय तक स्मरण रख सकता है, जब शरीर के जर्जर होने से स्मरण शक्ति ढीली पड़ जाती है। सामान्य व्यक्ति के लिए जीवन के अन्त समय वस्तुओं को यथारूप में स्मरण रख पाना कठिन है, लेकिन भगवान् तथा उनके प्रामाणिक भक्तों या गुरुओं की कृपा से मनुष्य को यह अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है। और महाराज परीक्षित के साथ ऐसा ही हुआ।

तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः ।
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; कलिः—कलि-रूप; न—नहीं; प्रभवेत्—बढ़ सकता है; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अपि—भी; इह—यहाँ; सर्वतः—सर्वत्र; यावत्—जब तक; ईशः—प्रभु; महान्—महान्; उर्व्याम्—शक्तिशाली; आभिमन्यवः—अभिमन्यु का पुत्र; एक-राट्—अकेला सम्राट।

जब तक अभिमन्यु का महान्-शक्तिशाली पुत्र संसार का सम्राट बना हुआ है, तब तक कलि के पनपने की कोई गुंजाइश नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, कलि ने इस पृथ्वी में बहुत पहले प्रवेश पा लिया था और वह सारे संसार में अपना प्रभाव फैलाने की ताक में था। किन्तु महाराज परीक्षित की उपस्थिति के कारण वह ऐसा नहीं कर पा रहा था। यही अच्छे प्रशासन का ढंग है। कलि जैसे उपद्रवी तत्त्व सदा ही अपने निन्द्य कृत्यों को फैलाना चाहेंगे, लेकिन सक्षम राज्य का कर्तव्य है कि सभी प्रकार से इन्हें रोके। यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि के लिए कुछ स्थान नियत कर दिये थे, किन्तु उसी के साथ-साथ उन्होंने प्रजा को इसका अवसर नहीं दिया कि वे कलि के प्रभाव में बह जाँय।

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; अहनि—दिन में; यर्हि एव—जिस क्षण में; भगवान्—भगवान् ने; उत्ससर्ज—त्याग दिया; गाम्—पृथ्वी को; तदा—उस समय; एव—निश्चय ही; इह—इस संसार में; अनुवृत्तः—पीछे आ गया; असौ—वह; अधर्म—अधर्म; प्रभवः—तीव्र करते हुए; कलिः—कलि-रूप।

जिस दिन तथा जिस क्षण भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी को छोड़ा, उसी समय, समस्त अधार्मिक कृत्यों को बढ़ावा देनेवाला कलि इस संसार में आ गया।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके नाम, यश, गुण सभी अभिन्न हैं। भगवान् की उपस्थिति के कारण कलि पृथ्वी की सीमा में प्रवेश नहीं कर पा रहा था। इसी प्रकार यदि भगवान् के पवित्र नाम, गुणों आदि के सतत कीर्तन का प्रबन्ध हो, तो कलि के प्रवेश के लिए जरा भी अवसर नहीं मिल पायेगा। संसार से कलि को भगाने की यही युक्ति है। आधुनिक मानव-समाज में भौतिक विज्ञान के कारण बड़े-बड़े विकास हुए हैं, और लोगों ने वायु में ध्वनि का विस्तार करने के लिए रेडियो की खोज कर ली है। अतएव इन्द्रिय भोग के लिए किसी भद्दे स्वर को प्रसारित न करके, यदि राज्य भगवान् के

पवित्र नाम, यश तथा उनके गुणों की दिव्य वाणी को, जिस तरह से वे *भगवद्गीता* या *भागवत* में प्राप्त हैं, प्रसारित करने की व्यवस्था करे, तो उचित वातावरण उत्पन्न होगा, संसार में धर्म की पुन: स्थापना होगी और इस प्रकार प्रशासक लोग, जो संसार से भ्रष्टाचार के उन्मूलन को लेकर इतने उत्सुक हैं, सफल होंगे। कोई भी वस्तु बुरी नहीं है, यदि उसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाय।

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुद्वेष्टि—ईर्ष्यालु; कलिम्—कलि को; सम्राट्—सम्राट; सारम्-ग—मधुमक्खियों की भाँति यथार्थवादी; इव—सदृश; सार-भुक्—सार को ग्रहण करनेवाला; कुशलानि—शुभ वस्तुएँ; आशु—शीघ्र; सिद्ध्यन्ति—सफल होते हैं; न—कभी नहीं; इतराणि—अशुभ; कृतानि—किये जाने पर; यत्—जितना ।.

महाराज परीक्षित मधुमक्खियों की तरह यथार्थवादी थे, जो केवल (पुष्प के) सार को ग्रहण करती हैं। वे यह भलीभाँति जानते थे कि इस कलियुग में कल्याणकारी वस्तुएँ तुरन्त ही अपना शुभ प्रभाव डालती हैं, जबकि अशुभ कर्मों को वास्तविक रूप में सम्पन्न करना पड़ता है (जिससे प्रभाव जमा सकें)। अतएव उन्होंने कभी भी कलि से ईर्ष्या नहीं की।

तात्पर्य : कलियुग अधम युग कहलाता है। इस अधम युग में सारे जीव विचित्र स्थिति में रहते हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। अत: भगवान् की कृपा से, जब तक जीव किसी पाप-पूर्ण कार्य को वास्तव में करता नहीं है, तब तक वह उस कर्म का भागी नहीं होता। अन्य युगों में पाप-पूर्ण कर्म का विचार करने से ही मनुष्य कर्म-फल का भागी बन जाता था। इसके विपरीत, इस युग में जीव को शुभ कर्म के चिन्तन मात्र से ही उसका फल प्राप्त हो जाता है। अतएव, अत्यन्त विद्वान एवं अनुभवी राजा होने के कारण, महाराज परीक्षित कलि से कोई अनावश्यक द्वेष नहीं रखते थे, क्योंकि वे उसे कोई पाप-कर्म करने का अवसर ही नहीं देना चाहते थे। उन्होंने अपनी प्रजा को कलियुग के पाप-कर्मों में पड़ने से बचाया और साथ ही उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान नियत करके उसे भी पूरी सुविधा प्रदान की। *श्रीमद्भागवत* के अन्त में कहा गया है कि यद्यपि कलि के निन्द्य कृत्य विद्यमान हैं, तो भी कलियुग में बड़े-बड़े लाभ भी हैं। मनुष्य मात्र भगवन्नाम के जप-कीर्तन द्वारा मोक्ष-लाभ प्राप्त कर सकता है। अतएव महाराज परीक्षित ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार

हेतु संगठित प्रयास किया और उन्होंने जनता को कलि के पाश से बचा लिया। इसी लाभ के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े मुनि कलियुग की जय मनाते हैं। वेदों में भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण की लीलाओं की चर्चा से मनुष्य कलियुग की सारी बुराइयों से छुटकारा पा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में यह भी कहा गया है कि *श्रीमद्भागवत* के पाठ से परमेश्वर मनुष्य के हृदय में स्थापित हो जाते हैं। ये कलियुग के कुछ लाभ हैं और महाराज परीक्षित ने इन सशक्त लाभों को ग्रहण किया और असली वैष्णव होने के नाते, उन्होंने कलियुग का बुरा नहीं सोचा।

किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—हो सकता है; बालेषु—अल्पज्ञों में से; शूरेण—शक्तिमान; कलिना—कलि द्वारा; धीर—आत्म-संयमी; भीरुणा—डरपोक के द्वारा; अप्रमत्तः—सतर्क; प्रमत्तेषु—लापरवाहों में; यः—जो; वृकः—बाघ; नृषु—मनुष्यों में; वर्तते—विद्यमान है।

महाराज परीक्षित ने विचार किया कि अल्पज्ञ मनुष्य कलि को अत्यन्त शक्तिशाली मान सकते हैं, किन्तु जो आत्मसंयमी हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। राजा बाघ के समान शक्तिमान थे और मूर्ख, लापरवाह मनुष्यों की रखवाली करते थे।

तात्पर्य : जो भगवान् के भक्त नहीं हैं, वे लापरवाह तथा मन्दर्बद्धि होते हैं। जब तक कोई पूरी तरह बुद्धिमान न हो, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं हैं, वे कलि के कार्यों के शिकार बन जाते हैं। जब तक हम महाराज परीक्षित द्वारा अपनाई गई कार्य-पद्धति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो जाते, तब तक समाज में श्रेष्ठतर परिस्थिति ला पाना सम्भव नहीं है। और यह कार्य-पद्धति है, भगवान् की भक्तिमय सेवा का प्रचार करना।

उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया ।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपवर्णितम्—प्राय: हर बात का वर्णन हो चुका है; एतत्—ये सब; व:—तुमको; पुण्यम्—पवित्र; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित के विषय में; मया—मेरे द्वारा; वासुदेव—भगवान् कृष्ण की; कथा—कथाएँ; उपेतम्—के प्रसंग में; आख्यानम्—कथन; यत्—जो; अपृच्छत—तुमने मुझसे पूछा।

हे मुनियों, जैसा आपने मुझ से पूछा था, अब मैंने पवित्र राजा परीक्षित के इतिहास से सम्बन्धित भगवान् कृष्ण की कथाओं की लगभग सब बाते सुनाइ हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भगवान् के कार्यकलापों का इतिहास है। और भगवान् के कार्य-कलाप भगवद्-भक्तों को साथ लेकर ही सम्पन्न होते हैं। अतएव भक्तों का इतिहास भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों के इतिहास से भिन्न नहीं है। भगवद्-भक्त भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के कार्यकलापों को एक-सा ही समझता है, क्योंकि ये सभी दिव्य होते हैं।

या या: कथा भगवत: कथनीयोरुकर्मण: ।
गुणकर्माश्रया: पुम्भि: संसेव्यास्ता बुभूषुभि: ॥ १० ॥

शब्दार्थ

या: या:—जो जो; कथा:—कथाएँ; भगवत:—भगवान् के विषय में; कथनीय—मुझे कहनी थीं; उरु-कर्मण:—अद्भुत कर्म करनेवाले की; गुण—दिव्य गुण; कर्म—असामान्य कृत्य; आश्रया:—निहित; पुम्भि:—मनुष्यों द्वारा; संसेव्या:—सुनी जानी चाहिए; ता:—वे सब; बुभूषुभि:—अपना कल्याण चाहनेवालों द्वारा।

जो लोग जीवन में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् के दिव्य कार्यकलापों तथा गुणों से सम्बन्धित सारी कथाएँ अत्यन्त विनीत भाव से श्रवण करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य कार्यकलापों, गुणों तथा नामों का नियमपूर्वक श्रवण करने से मनुष्य शाश्वत जीवन की ओर अग्रसर होता है। नियमपूर्वक श्रवण करने का अर्थ होता है, उन्हें धीरे-धीरे सही और वास्तविक रूप में जानना और उन्हें इस तरह जानने का अर्थ है, शाश्वत जीवन प्राप्त करना, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे दिव्य यशस्वी कार्यकलाप जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के उपचार करने के लिए संस्तुत औषधि हैं, जिन्हें बद्धजीव भौतिक पुरस्कार समझता है। इस प्रकार जीवन की सिद्ध अवस्था की परिणति मानव-जीवन का लक्ष्य है और दिव्य आनन्द की उपलब्धि है।

ऋषय ऊचुः
सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः ।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; सूत—हे सूत गोस्वामी; जीव—जीवित रहो; समाः—अनेक वर्षों तक; सौम्य—गम्भीर; शाश्वतीः—शाश्वत; विशदम्—विशेष रूप से; यशः—यश में; यः त्वम्—क्योंकि आप; शंससि—सुन्दर ढंग से कहते हो; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण की; मर्त्यानाम्—मर्त्य प्राणियों की; अमृतम्—जीवन की शाश्वतता, अक्षरता; हि—निश्चय ही; नः—हमारा।

श्रेष्ठ मुनियों ने कहा : हे सौम्य सूत गोस्वामी! आप अनेक वर्षों तक जिएँ तथा शाश्वत यश प्राप्त करें, क्योंकि आप भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में उत्तम ढंग से बता रहे हैं। हम जैसे मर्त्य प्राणियों के लिए यह अमृत के समान है।

तात्पर्य : जब हम परमेश्वर के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, तो हमें सदा *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् ने खुद ने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका स्मरण करना चाहिए। उनके सारे कार्य, यहाँ तक कि जब वे मानव-समाज में कार्य करते हैं, तब भी दिव्य ही होते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अभिप्रेरित होते हैं, जो उनकी भौतिक शक्ति से भिन्न है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ऐसे कार्य *दिव्यम्* कहलाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य जीवों की भाँति, भौतिक शक्ति के वश में रहकर कार्य नहीं करते हैं, और जन्म नहीं लेते हैं। न ही उनका शरीर सामान्य जीवों के शरीर की भाँति भौतिक होता है, न ही परिवर्तनशील होता है। चाहे भगवान् से या किसी प्रामाणिक स्रोत से जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ लेता है, वह इस वर्तमान शरीर को त्यागने के बाद पुनः जन्म नहीं लेता। ऐसे प्रबुद्ध जीव को भगवद्धाम में प्रविष्ट होने दिया जाता है, जहाँ वह भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लग जाता है। अतएव जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के दिव्य कार्यकलाप उद्धृत हैं, उनके विषय में हम जितना ही श्रवण करते हैं, उतना ही हम उनकी दिव्य प्रकृति के विषय में जान पाते हैं और उतना ही भगवद्धाम के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सम्पन्न करने में; अस्मिन्—इस; अनाश्वासे—निश्चित रूप से नहीं; धूम—धुआँ; धूम्र-आत्मनाम्—कलुषित शरीर तथा मन; भवान्—आप; आपाययति—अत्यन्त प्रसन्न बना रहे हैं; गोविन्द—भगवान् के; पाद—पाँव; पद्म-आसवम्—कमल पुष्पों का अर्क; मधु—शहद।

हमने अभी-अभी इस सकाम कृत्य, यज्ञ की अग्नि को सम्पन्न करना प्रारम्भ किया है और हमारे कार्य में अनेक अपूर्णताएँ होने के कारण इसके फल की कोई निश्चितता नहीं है। हमारे शरीर धुएँ से काले हो चुके हैं, लेकिन हम भगवान् गोविन्द के चरणकमलों के अमृत रूपी उस मधु से सचमुच तृप्त हैं, जिसे आप हम सबको वितरित कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने जो यज्ञाग्नि जलाई थी, वह निश्चय ही धुएँ तथा संशयों से पूर्ण थी, क्योंकि उसमें अनेक दोष थे। पहली कमी यह थी कि इस कलियुग में ऐसा यज्ञ-कार्य सम्पन्न करानेवाले पटु ब्राह्मणों का नितान्त अभाव है। ऐसे यज्ञों में यदि कोई दोष रह जाता है, तो पूरा खेल बिगड़ जाता है और फल भी अनिश्चित रहता है, जैसाकि कृषि-उद्यम में होता है। धान के खेत को जोतने से अच्छा फल तभी मिलता है, जब अच्छी वर्षा हो, अन्यथा फल अनिश्चित है। इसी प्रकार से इस कलियुग में भी किसी भी प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कराना अनिश्चित रहता है। कलियुग के निर्लज्ज लोभी ब्राह्मण अबोध जनता को ऐसे अनिश्चित यज्ञों का दिखावा करने के लिए फुसलाते हैं और उन्हें यह शास्त्रीय आदेश नहीं बताते कि कलियुग में कोई भी सकाम यज्ञोत्सव सम्भव नहीं, किन्तु इस युग में केवल एक ही यज्ञ सम्भव है और वह है भगवन्नाम का सामूहिक कीर्तन। सूत गोस्वामी एकत्र हुए मुनियों के समक्ष भगवान् के दिव्य कार्यकलाप सुना रहे थे और वे सब इन दिव्य कार्यकलापों के सुनने के फल का अनुभव कर रहे थे। कोई भी इसे व्यावहारिक रूप से उसी तरह अनुभव कर सकता है, जिस प्रकार भोजन करके उसके फल का अनुभव किया जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति इसी प्रकार कार्य करती है।

नैमिषारण्य के मुनि यज्ञ की अग्नि से उठनेवाले धुएँ से कष्ट पा रहे थे और फल के विषय में भी संशयपूर्ण थे, किन्तु सूत गोस्वामी जैसे अनुभूत व्यक्ति से सुनने के कारण वे पूरी तरह से संतुष्ट हुए थे। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में विष्णु शिवजी से कहते हैं कि कलियुग में लोग विविध प्रकार की चिन्ताओं से घिरे

होने के कारण सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन में व्यर्थ ही श्रम करेंगे, किन्तु यदि वे भक्तिमय सेवा में लगें तो परिणाम अधिक निश्चित होगा और शक्ति का भी क्षय नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना, आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए या तो भौतिक लाभ के लिए जो कुछ भी किया जायेगा, वह फलदायी नहीं हो सकता।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तुलयाम—के साथ तुलना करना; लवेन—क्षण मात्र से; अपि—भी; न—कभी नहीं; स्वर्गम्—स्वर्गलोक; न—न तो; अपुनः-भवम्—पदार्थ से मोक्ष; भगवत्-सङ्गि—भगवद्भक्त; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; किम्—क्या रखा है; उत—कहने में; आशिषः—सांसारिक आशीर्वाद, वर।

भगवद्भक्त के साथ क्षण भर की संगति के महत्त्व की तुलना न तो स्वर्गलोक की प्राप्ति से, न भौतिक-मुक्ति की प्राप्ति से की जा सकती है। तो फिर उन सांसारिक वरदानों के विषय में क्या कहा जाय, जो भौतिक सम्पन्नता के रूप में होते हैं और मर्त्यों के लिए हैं?

तात्पर्य : एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से तभी की जा सकती है, जब दोनों में कुछ समान बातें होती हैं। हम शुद्ध भक्त की संगति की तुलना किसी भौतिक वस्तु से नहीं कर सकते। जो लोग भौतिक सुख के आदि बन गये हैं, वे चन्द्र, शुक्र तथा इन्द्रलोक जैसे स्वर्गीय ग्रहों की कामना करते हैं, और जो भौतिक दार्शनिक चिन्तन में उन्नत होते हैं, वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हैं। जब मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक उन्नति से हताश हो उठता है, तो वह विपरीत प्रकार के मोक्ष की कामना करता है, जो *अपुनर्भव* या पुनर्जन्म न होना कहलाता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त स्वर्गलोक में मिलनेवाले सुख की कामना नहीं करते, न ही वे भवबन्धन से मोक्ष चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए स्वर्गलोक में प्राप्य भौतिक सुख मायाजाल के समान होता है और चूँकि वे सुख-दुख की भौतिक धारणाओं से पहले से मुक्त रहते हैं, अतएव वे यथार्थ रूप में भौतिक जगत से भी मुक्त होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के शुद्ध भक्त इस जगत तथा आध्यात्मिक जगत, दोनों ही में, दिव्य स्थिति में, अर्थात् भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। जिस प्रकार सरकारी नौकर सदा नौकर रहता है, चाहे वह घर में हो या आफिस में या किसी अन्य स्थान में, उसी प्रकार भक्त को किसी

भी भौतिक वस्तु से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि वह अनन्य भाव से भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। चूँकि उसे किसी भौतिक वस्तु से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव उसे भौतिक वरदानों से क्या मिलनेवाला है—चाहे वह राजपद हो या इससे भी बड़ा कोई अन्य पद, जो ये शरीर के नष्ट होते ही समाप्त हो जाते हैं? भक्तिमय सेवा शाश्वत है, इसका कोई अन्त नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक होती है। अत:, चूँकि शुद्ध भक्त की निधियाँ भौतिक निधियों से भिन्न होती हैं, अतएव दोनों की कोई तुलना नहीं है। सूत गोस्वामी भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के साथ उनकी संगति अद्वितीय है। भौतिक जगत में निपट भौतिकतावादी की संगति गर्हित समझी जाती है। भौतिकतावादी को *योषित् सङ्गी* कहा जाता है, क्योंकि उसकी आसक्ति भौतिक मायाजाल, अर्थात् स्त्रियों तथा अन्य साज-सामान से होती है। ऐसी आसक्ति आबद्ध है, क्योंकि इससे जीवन के वरदान तथा सम्पन्नता दोनों दूर चले जाते हैं। इसका बिल्कुल उलट है *भागवत सङ्गी* जो सदैव भगवान् के नाम, यश, गुण आदि की संगति में रहता है। ऐसी संगति सदैव वांछनीय है, पूजनीय है, प्रशंसनीय है और इसे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना जा सकता है।

को नाम तृप्येद् रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्या: ॥ १४॥

शब्दार्थ

क:—कौन है, वह; नाम—विशेष रूप से; तृप्येत्—पूरा सन्तोष प्राप्त कर ले; रस-वित्—अमृत-रस का आस्वाद करने में पटु; कथायाम्—कथाओं में; महत्-तम—जीवों में सबसे महान्; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त; गुणानाम्—गुणों का; अगुणस्य—दिव्य का; जग्मु:—निश्चित कर सके; योग-ईश्वरा:—योग-शक्ति के स्वामी; ये—जो; भव—शिवजी; पाद्म—ब्रह्माजी; मुख्या:—प्रमुख।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (गोविन्द) समस्त महान् जीवों के एकमात्र आश्रय हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे यौगिक शक्तियों के स्वामीयों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। तो भला जो रसास्वादन में पटु है, वह क्या कभी उनकी कथाओं के श्रवण द्वारा पूरी तरह तृप्त हो सकता है?

तात्पर्य : शिवजी तथा ब्रह्माजी दो प्रधान देवता हैं। वे योगशक्ति से परिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, शिवजी ने उस विष का सागर पी लिया, जिसकी एक बूँद ही सामान्य जीव को मारने के लिए पर्याप्त थी। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने, शिवजीसमेत, अनेक देवताओं की सृष्टि की। अतएव ये दोनों ईश्वर अथवा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। किन्तु वे परम शक्तिमान नहीं हैं। परम शक्तिमान तो गोविन्द अथवा श्रीकृष्ण हैं। वे दिव्य हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली ईश्वरों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। अतएव भगवान् कृष्ण बड़े से बड़े जीव के एकमात्र आश्रय हैं। ब्रह्मा की गिनती जीवों में की जाती है, किन्तु वे हम सबों से महानतम हैं। तो फिर महानतम जीव भगवान् कृष्ण की दिव्य कथाओं के प्रति इतना आसक्त क्यों है? इसलिए कि वे समस्त आनन्द के आगार हैं। हर व्यक्ति हर वस्तु का कुछ न कुछ आस्वाद लेना चाहता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह उसी में असीम आनन्द प्राप्त करता है। भगवान् असीम हैं और उनके नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद, विविधता आदि अनन्त हैं और जो इनका आस्वाद करते हैं, वे असीम रूप से ऐसा करते हुए भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते। इस तथ्य की पुष्टि *पद्मपुराण* से होती है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।

इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

''योगीजन परम सत्य से असीम दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं, इसीलिए परम सत्य भगवान् राम भी कहलाते हैं।''

ऐसी दिव्य वार्ताओं का कोई अन्त नहीं है। संसारी मामलों में तृप्ति का नियम होता है, लेकिन अध्यात्म में ऐसी तृप्ति नहीं है। सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के समक्ष भगवान् कृष्ण की कथा को चालू रखना चाह रहे थे और ऋषियों ने भी उनसे लगातार सुनते रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की। चूँकि भगवान् दिव्य हैं और उनके गुण दिव्य हैं, अतएव ऐसी वार्ताएँ शुद्ध श्रोताओं के ग्राही भाव को बढ़ाती हैं।

तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।

हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हम सबका; भवान्—आप; वै—निश्चय ही; भगवत्—भगवान् से सम्बन्धित; प्रधानः—मुख्यतः; महत्-तम—सबसे बड़े; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; हरेः—भगवान् का; उदारम्—निष्पक्ष; चरितम्—कार्यकलाप; विशुद्धम्—दिव्य; शुश्रूषताम्—सुनने के इच्छुक हैं; नः—हम; वितनोतु—कृपा करके वर्णन करें; विद्वन्—हे विद्वान।.

हे सूत गोस्वामी, आप विद्वान हैं तथा भगवान् के शुद्ध भक्त हैं, क्योंकि आपकी सेवा का प्रमुख उद्देश्य भगवान् हैं। अतएव आप कृपया हमें भगवान् की लीलाएँ कह सुनायें, जो समस्त भौतिक विचारधारा से ऊपर हैं, क्योंकि हम ऐसा संदेश प्राप्त करने के लिए आतुर हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वक्ता का एक ही लक्ष्य होना चाहिए और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की पूजा तथा सेवा। और ऐसी कथाओं के श्रोताओं को इन्हें सुनने के लिए आतुर होना चाहिए। जब ऐसा संयोग संभव हो जाता है अर्थात् जब योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता का संयोग हो जाता है, तभी दिव्य के विषय में अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वार्ता हो पाती है। व्यावसायिक वक्ता तथा भौतिकता में लिप्त श्रोता ऐसी वार्ताओं से कभी वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। व्यावसायिक वक्ता (वाचक) अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए *भागवत* सप्ताह का दिखावा करते हैं और भौतिकताग्रस्त श्रोता *भागवत सप्ताह* की इन वार्ताओं को किसी न किसी भौतिक लाभ यथा धार्मिकता, सम्पत्ति, इन्द्रिय-तुष्टि या मोक्ष के लिए सुनते हैं— *भागवत* की ऐसी वार्ताएँ भौतिक गुणों के कल्मष से शुद्ध नहीं रहतीं। लेकिन नैमिषारण्य के मुनियों तथा श्रील सूत गोस्वामी के मध्य चल रही वार्ताएँ दिव्य स्तर पर थीं। इनमें भौतिक लाभ का कोई उद्देश्य नहीं था। ऐसी वार्ताओं में श्रोता तथा वक्ता दोनों को असीम दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। अतएव वे ऐसी वार्ताओं को हजारों वर्षों तक चालू रख सकते हैं। अब तो *भागवत* सप्ताह केवल सात दिनों तक रखा जाता है और खेल खतम करने के बाद, श्रोता तथा वक्ता दोनों पहले की तरह भौतिक कार्यों में लग जाते हैं। वे ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वक्ता *भागवत-प्रधान* नहीं है और श्रोता भी *शुश्रूषताम्* नहीं है, जैसाकि ऊपर कहा गया है।

स वै महाभागवतः परीक्षिद्
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।

ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; महा-भागवतः—उच्चकोटि का भक्त; परीक्षित्—राजा; येन—जिससे; अपवर्ग-आख्यम्—मोक्ष नाम से; अदभ्र—स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैयासकि—व्यास पुत्र; शब्दितेन—द्वारा उच्चारित; भेजे—ले जाया गया; खग-इन्द्र—पक्षियों का राजा, गरुड़; ध्वज—पताका, झंडा; पाद-मूलम्—पैरों के तलवे।

हे सूत गोस्वामी, कृपा करके भगवान् की उन्हीं कथाओं का वर्णन करें, जिनसे महाराज परीक्षित, जिनकी बुद्धि मोक्ष पर केन्द्रित थी, उन भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त कर सके, जो पक्षिराज गरुड़ के आश्रय हैं। इन्हीं कथाओं का उच्चारण व्यास-पुत्र (श्रील शुकेदव) द्वारा हुआ था।

तात्पर्य : मोक्ष के मार्ग को लेकर जिज्ञासुओं में कुछ मतभेद है। ऐसे दिव्य जिज्ञासु निर्विशेषवादी तथा भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवद्भक्त भगवान् के दिव्य रूप की पूजा करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी चमचमाते तेज या भगवान् की शारीरिक किरणों का ध्यान धरते हैं, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि महाराज परीक्षित को भगवान् के चरणकमलों की प्राप्ति व्यासदेव के पुत्र श्रील शुकदेव गोस्वामी के उपदेशों से हुई। श्रील शुकदेव गोस्वामी भी प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, जैसाकि *भागवत* (२.१.९) में उनकी स्वयं की उक्ति है किन्तु बाद में वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति आकृष्ट हुए और भक्त बन गये। ऐसे पूर्ण ज्ञान से युक्त भक्त *महाभागवत* या प्रथम कोटि के भक्त कहलाते हैं। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—*प्राकृत, मध्यम तथा महाभागवत।* प्राकृत अथवा तृतीय श्रेणी के भक्तों को भगवान् तथा उनके भक्तों का कोई विशेष ज्ञान नहीं होता, वे मन्दिर में पूजा करने वाले होते हैं। मध्यम अर्थात् द्वितीय श्रेणी के भक्त भगवान् को, भगवान् के भक्तों को, नवदीक्षितों तथा अभक्तों को भी भलीभाँति जानते हैं। लेकिन महाभागवत या प्रथम श्रेणी के भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित और हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति को देखते हैं। अतएव महाभागवत एक भक्त तथा अभक्त में कोई अन्तर नहीं मानता। महाराज परीक्षित ऐसे ही महाभागवत भक्त थे, क्योंकि उनको एक महाभागवत भक्त शुकेदव गोस्वामी से दीक्षा प्राप्त हुई थी। वे सबों पर समान रूप से दयालु थे, यहाँ तक कि कलि पर भी, तो अन्यों के विषय में क्या कहा जाय।

इस प्रकार संसार के दिव्य इतिहास में ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हुए हैं, जो बाद में भक्त बन गये हैं। लेकिन एक भक्त कभी भी निर्विशेषवादी नहीं बना है। यह एक तथ्य सिद्ध करता है कि दिव्य सीढ़ियों में जिस सीढ़ी पर भक्त बैठा है, वह उस सीढ़ी से ऊपर है, जिस पर निर्विशेषवादी स्थित है। *भगवद्गीता* (१२.५) में भी कहा गया है कि निराकार की सीढ़ी पर चिपका हुआ व्यक्ति लाभ की अपेक्षा कष्ट अधिक भोगता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को प्रदत्त ज्ञान ने उन्हें भगवद्भक्ति प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई। सिद्धि की यह अवस्था *अपवर्ग* या मोक्ष की अवस्था कहलाती है। मोक्ष सम्बन्धी सरल ज्ञान भौतिक ज्ञान है। भौतिक बन्धन से वास्तविक रूप से छूट जाना मुक्ति कहलाती है, लेकिन भगवान् की दिव्य सेवा की उपलब्धि मोक्ष की पूर्ण अवस्था कहलाती है। ऐसी अवस्था ज्ञान तथा वैराग्य से ही प्राप्त हो पाती है, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं (*भागवत* १.२.१२) और श्रील शुकेदव गोस्वामी द्वारा जिस तरह का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया जाता है, उससे भगवान् की दिव्य सेवा की प्राप्ति होती है।

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हमें; परम्—परम; पुण्यम्—पवित्र करनेवाला; असंवृत-अर्थम्—यथारूप; आख्यानम्—वार्ता; अति—अत्यन्त; अद्भुत—आश्चर्यजनक; योग-निष्ठम्—भक्तियोग में दृढ़; आख्याहि—कहिये; अनन्त—अनन्त; आचरित—कार्यकलाप; उपपन्नम्—पूर्ण; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित से कहे गये; भागवत—शुद्ध भक्तों के; अभिरामम्—विशेषतया अत्यन्त प्रिय।

अतः कृपा करके हमें अनन्त की कथाएँ सुनाएँ, क्योंकि वे पवित्र करनेवाली तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्हें ही महाराज परीक्षित को सुनाया गया था और वे भक्तियोग से परिपूर्ण होने के कारण शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को जो सुनाया गया था और जो शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय है, वह *श्रीमद्भागवत* है। *श्रीमद्भागवत* मुख्यतः परम अनन्त के कार्यकलापों की कथाओं से पूर्ण है, अतएव यह भक्तियोग अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा का विज्ञान है। इस प्रकार यह *पर* अर्थात् सर्वोपरि है,

क्योंकि समस्त ज्ञान तथा धर्म से समृद्ध होने पर भी, यह भगवान् की भक्तिमय सेवा में विशेष रूप से समृद्ध है।

सूत उवाच
अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रील सूत गोस्वामी ने कहा; अहो—कैसे; वयम्—हम; जन्म-भृतः—जन्म को प्राप्त; अद्य—आज; ह—स्पष्टतया; आस्म—हो चुके हैं; वृद्ध-अनुवृत्त्या—ज्ञान में बढ़े-चढ़े मनुष्यों की सेवा करने से; अपि—यद्यपि; विलोम-जाताः—मिश्र जाति में जन्मे; दौष्कुल्यम्—जन्मजात अयोग्यता; आधिम्—कष्ट; विधुनोति—शुद्ध करती है; शीघ्रम्—तुरन्त; महत्-तमानाम्—महानों का; अभिधान—वार्ता; योगः—सम्बन्ध।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : हे ईश्वर, यद्यपि हम मिश्र (संकर) जाति में उत्पन्न हैं, फिर भी हमें ज्ञान में उन्नत उन महापुरुषों की सेवा करने तथा उनका अनुगमन करने से ही जन्म अधिकार प्राप्त हो गया। ऐसे महापुरुषों से बातचीत करने से ही मनुष्य निम्नकुल में जन्म होने के कारण उत्पन्न अवगुणों से तुरन्त ही निर्मल हो जाता है।

तात्पर्य : सूत गोस्वामी का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं हुआ था। वे एक मिश्र जाति के परिवार *(विलोमज)* में या असंस्कृत निम्नकुल में जन्मे थे। किन्तु महापुरुषों की संगति से यथा श्री शुकेदव गोस्वामी तथा नैमिषारण्य के महर्षियों की संगति से, निम्नकुल में जन्म होने की उनकी अयोग्यता मिट चुकी थी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु वैदिक प्रथाओं का पालन करने में इसी सिद्धान्त का पालन करते थे और अपनी दिव्य संगति से उन्होंने अनेक निम्नकुल में जन्मे या जन्म अथवा कर्म से अयोग्य ठहराये गये व्यक्तियों को भक्ति का पद दिलाया और उन्हें आचार्य या अधिकारी पद पर स्थापित किया। वे स्पष्ट कहते थे कि कोई भी मनुष्य, चाहे वह जन्म से ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि वह कृष्ण के विज्ञान में पारंगत है, तो उसे आचार्य या गुरु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

सूत गोस्वामी ने शुकदेव तथा व्यासदेव जैसे महर्षियों तथा महापुरुषों से कृष्ण का विज्ञान सीखा था और वे इतने सुयोग्य थे कि नैमिषारण्य के मुनि भी उनसे *श्रीमद्भागवत* के रूप में कृष्ण का विज्ञान

उत्सुकता से सुनना चाह रहे थे। इस प्रकार श्रवण करने तथा उपदेश देने द्वारा उन्हें महापुरुषों की दोहरी संगति प्राप्त हुइ थी। दिव्य विज्ञान या कृष्ण का विज्ञान अधिकारियों से सीखना पड़ता है और जब कोई इस विज्ञान का उपदेश देता है, तो वह और भी योग्य बनता जाता है। इस प्रकार सूत गोस्वामी को दोनों लाभ प्राप्त थे, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने के समस्त अवगुणों तथा मानसिक क्लेशों से वे पूर्ण रूप से मुक्त थे। यह श्लोक निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि श्रील शुकेदव गोस्वामी ने, न तो सूत गोस्वामी को निम्नकुल में जन्म लेने से अध्यात्म विज्ञान की शिक्षा देने से इनकार किया, न ही नैमिषारण्य के मुनियों ने उनके उपदेश सुनने से इनकार किया। इसका अर्थ यह होता है कि हजारों वर्ष पूर्व, निम्नकुल में जन्म होने से किसी को अध्यात्म विज्ञान सीखने या उपदेश देने पर कोई प्रतिबन्ध न था। हिन्दू समाज में तथाकथित जाति प्रथा की कट्टरता पिछले सौ वर्षों में प्रमुख बनी है, जब द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चजाति के कुल में जन्मे अयोग्य मनुष्यों की संख्या बढ़ गई। भगवान् श्री चैतन्य ने मूल वैदिक पद्धति को फिर से जीवित किया और उन्होंने ठाकुर हरिदास को *नामाचार्य* अर्थात् 'भगवान् के पवित्र नाम के महिमा का प्रचार करने वाले अधिकारी' का पद प्रदान किया, यद्यपि श्रील हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था।

भगवान् के शुद्ध भक्तों का ऐसा प्रताप होता है। गंगाजल को शुद्ध माना जाता है और जो कोई गंगा के जल में स्नान करता है, वह शुद्ध हो जाता है। किन्तु जहाँ तक भगवान् के महान् भक्तों का सम्बन्ध है, वे तो निम्नकुल में उत्पन्न अधम लोगों को अपने दर्शन से ही शुद्ध कर सकते हैं, तो फिर उनका संग करने के बारे में तो कहना ही क्या! भगवान् चैतन्य महाप्रभु संसार के दूषित वातावरण को संसार भर में योग्य प्रचारकों को भेज कर शुद्ध बनाना चाहते थे और अब यह भारतीयों का कर्तव्य है कि इस कार्य को वैज्ञानिक ढंग से हाथों में लें और सर्वोत्तम मानव कल्याण का कार्य करें। आधुनिक पीढ़ी के मानसिक रोग शारीरिक रोगों से अधिक गम्भीर हैं, अतएव यह उपयुक्त समय है कि देर लगाये बिना संसार भर में *श्रीमद्भागवत* के प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय। *महत्तमानाम् अभिधान* का अर्थ है महान् भक्तों का शब्दकोश या महान् भक्तों की वाणी से युक्त पुस्तक। महान् भक्तों की तथा भगवान् की वाणी का ऐसा कोश, वेद तथा अन्य सम्बद्ध ग्रंथ, विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में है।

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुतः—क्या कहें; पुनः—फिर; गृणतः—कीर्तन करनेवाला; नाम—पवित्र नाम; तस्य—उनका; महत्-तम—महान् भक्त; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—जिसका आश्रय लिया जाय; यः—वह जो; अनन्त—अनन्त है; शक्तिः—शक्ति; भगवान्—भगवान्; अनन्तः—असंख्य; महत्—महान्; गुणत्वात्—ऐसे गुणों के कारण; यम्—जिनको; अनन्तम्—अनन्त नाम से; आहुः—पुकारा जाता है।

और उनके विषय में क्या कहा जाय, जो महान् भक्तों के निर्देशन में अनन्त के पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं, जिनकी असीम शक्ति है? भगवान्, जो शक्ति में असीम तथा गुणों में दिव्य हैं, वे अनन्त कहलाते हैं।

तात्पर्य : द्विजबन्धु या अल्पज्ञ, जो उच्च जातियों में उत्पन्न असंस्कृत व्यक्ति हैं, इस जीवन में निम्नजाति के लोगों के ब्राह्मण बनने के विरुद्ध अनेक दलीलें देते हैं। उनकी दलील है कि शूद्र या शूद्र से भी निम्न परिवार में जन्म पूर्व जन्म में किये गये पापकर्मों के कारण होता है। अतएव उसे इस कमी की पूर्ति निम्न-जाति में जन्म लेकर करनी होती है। किन्तु इन मिथ्या तर्क करनेवालों को उत्तर देने के लिए *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि जो मनुष्य शुद्ध भक्त के निर्देशन में भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है, वह तुरन्त ही निम्न-जाति में जन्म लेने के दोष से छूट जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए कोई अपराध नहीं करता। भगवान् के नाम-जप करने में दस प्रकार के अपराध होते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त के निर्देशन में किया गया जप अपराधरहित होता है और भगवान् का अपराधरहित जप दिव्य होता है, अतएव ऐसा जप पूर्वजन्म के समस्त पापों के प्रभाव को तुरन्त दूर कर सकता है। ऐसा अपराधरहित जप यह संकेत देता है कि मनुष्य ने पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति को ठीक से समझ लिया है और इस प्रकार भगवान् की शरण ले ली है। आध्यात्मिक रूप से, भगवान् का नाम तथा स्वयं भगवान् परम अवस्था में होने के कारण एक हैं। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् के ही तुल्य शक्तिमान है। भगवान् सर्वशक्तिमान ईश्वरीय व्यक्तित्व हैं और उनके अनन्त नाम हैं, जो उनसे अभिन्न हैं और उन्हीं के समान शक्तिमान भी हैं। *भगवद्गीता* के अन्त में भगवान् बल देकर कहते हैं कि जो भी उनकी शरण में पूर्ण रूप से आता है, उसकी समस्त पापों से रक्षा की जाती है।

चूँकि वे तथा उनके नाम एक हैं, अतएव भगवान् का पवित्र नाम भक्तों को पापों के समस्त प्रभावों से बचा सकता है। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन नि:सन्देह मनुष्य को निम्न कुल में जन्म लेने के दोष से उबार सकता है। भगवान् की असीम शक्ति भक्तों तथा अवतारों के असीम विस्तार से बढ़ती ही जाती है और इस प्रकार प्रत्येक भगवद्भक्त तथा सारे अवतार भी भगवान् की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। चूँकि भगवान् का भक्त भगवान् की शक्ति से ओतप्रोत हो जाता है, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने का किंचित् मात्र भी दोष उसके रास्ते में बाधक नहीं बन सकता।

एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एतावता—इतनी दूर तक; अलम्—अनावश्यक; ननु—यदि तनिक भी हो तो; सूचितेन—वर्णन से; गुणैः—गुणों से; असाम्य—अमाप्य; अनति-शायनस्य—जिसकी बराबरी न हो सके उसका; हित्वा—छोड़कर; इतरान्—अन्य; प्रार्थयतः—याचना करनेवालों का; विभूतिः—लक्ष्मी की कृपा; यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पैर; रेणुम्—धूल; जुषते—सेवा करता है; अनभीप्सोः—अनिच्छित का।

अब यह निश्चित हो गया कि वे (भगवान्) अनन्त हैं और उनके तुल्य कोई भी नहीं है। फलस्वरूप उनके विषय में कोई भी पर्याप्त रूप से कह नहीं सकता। बड़े-बड़े देवता भी स्तुतियों के द्वारा जिस लक्ष्मी देवी की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते, वही देवी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् ऐसी सेवा के लिए अनिच्छुक रहते हैं।

तात्पर्य : *श्रुतियों* के अनुसार, भगवान् या परमेश्वर परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना होता। उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है, न ही उनसे कोई बढ़कर है। उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं और उनका हर कार्य अपने सहज तथा सम्यक् रूप में नियमानुसार होता रहता है। इस प्रकार भगवान् अपने आप में परिपूर्ण हैं और उन्हें अन्य किसी से कुछ भी लेना नहीं होता, यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं से भी नहीं। अन्य लोग जिन लक्ष्मी देवी की कृपादृष्टि के लिए लालायित रहते हैं और अनेक प्रार्थनाओं के बाद भी, वे उन पर कृपा नहीं करतीं, वे भी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि उन्हें लक्ष्मीजी से कुछ भी लेना नहीं होता। परमेश्वर अपने गर्भोदकशायी विष्णु रूप में ब्रह्मा को अपनी नाभि से निकले

कलम से भौतिक संसार के प्रथम जीव के रूप में जन्म देते हैं, लक्ष्मीदेवी के गर्भ से नहीं, जो उनकी सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं। उनकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा परिपूर्णता के ये कुछ उदाहरण हैं। उन्हें कुछ करना नहीं होता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वे निराकार हैं। वे दिव्य रूप से अचिन्त्य शक्तियों से इतने परिपूर्ण हैं कि केवल उनके इच्छा करने मात्र से सब कुछ हो जाता है। उन्हें कोई शारीरिक या निजी प्रयास नहीं करना होता। इसीलिए वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी कहलाते हैं।

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अपि—निश्चय ही; यत्—जिनके; पाद-नख—पाँव के नाखून; अवसृष्टम्—निकलते हुए; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; विरिञ्च—ब्रह्माजी; उपहृत—एकत्र किया; अर्हण—पूजा; अम्भः—जल; स—सहित; ईशम्—शिवजी; पुनाति—शुद्ध करता है; अन्यतमः—और कौन; मुकुन्दात्—भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त; कः—कौन; नाम—नाम; लोके—संसार में; भगवत्—परमेश्वर; पद—पद, स्थित; अर्थः—योग्य।

भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो परमेश्वर कहलाने के योग्य हो? ब्रह्माजी ने उनके पाँव के नाखूनों से निकलनेवाले जल को भगवान् शिवजी को मस्तक पर ग्रहण करने के निमित्त एकत्र किया। यही जल (गंगानदी) शिवजी समेत सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध बना रहा है।

तात्पर्य : अज्ञानियों द्वारा वैदिक साहित्य में अनेक देवों की अवधारणा सर्वथा भ्रान्त है। भगवान् एक एवं अद्वितीय हैं, लेकिन वे अनेक प्रकार से अपना विस्तार करते हैं और इसकी पुष्टि वेदों में होती है। भगवान् के ऐसे विस्तार असंख्य हैं, लेकिन उनमें से कुछ जीव भी हैं। जीव भगवान् के पूर्ण अंशों के समान शक्तिशाली नहीं होते, अतएव दो प्रकार के विस्तार (अंश) होते हैं। ब्रह्माजी सामान्यतया जीवों में से एक हैं और शिवजी भगवान् तथा जीवों के बीच माध्यम स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी तथा शिवजी भी, जो देवताओं में अग्रणी हैं, भगवान् विष्णु के तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हैं। लक्ष्मी देवी तथा ब्रह्मा एवं शिव जैसे शक्तिमान देवता, विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण की आराधना में लगे

रहते हैं। अतएव मुकुन्द (भगवान् कृष्ण) के अतिरिक्त और कौन अधिक शक्तिशाली हो सकता है, जो यथार्थ रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कहला सके? लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी तथा शिवजी स्वतंत्र रूप से शक्तिमान नहीं हैं; वे परमेश्वर के विस्तार रूप में ही शक्तिमान हैं। वे सभी भगवान् की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगे रहते हैं और उन्हीं की तरह सारे जीव भी। भगवान् के पूजक भक्तों के चार सम्प्रदाय हैं, जिनमें से ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय तथा श्री-सम्प्रदाय प्रमुख हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मी से प्रत्यक्ष आते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त, एक चौथा सम्प्रदाय कुमार-सम्प्रदाय है, जो सनत्कुमार से आता है। ये चारों मूल आज भी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे हुए हैं और ये सभी घोषित करते हैं कि भगवान् कृष्ण या मुकुन्द ही पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और अन्य कोई व्यक्ति न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है।

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिनके प्रति; अनुरक्ताः—दृढ़ता से आसक्त; सहसा—एकाएक; एव—निश्चय ही; धीराः—आत्मसंयमी; व्यपोह्य—एक ओर छोड़कर; देह—स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन; आदिषु—से सम्बन्धित; सङ्गम्—आसक्ति; ऊढम्—लगे हुए; व्रजन्ति—जाते हैं; तत्—वह; पारम-हंस्यम्—सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था; अन्त्यम्—तथा उसके परे; यस्मिन्—जिसमें; अहिंसा—अहिंसा; उपशमः—तथा वैराग्य; स्व-धर्मः—परिणामी वृत्ति।

परम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त आत्म-संयमी पुरुष, स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन सहित, एकाएक भौतिक आसक्ति से ओतप्रोत संसार को त्याग सकते हैं और जीवन के संन्यास आश्रम की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के लिए बाहर चले जाते हैं, जिसके फलस्वरूप अहिंसा तथा वैराग्य उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : केवल आत्म-संयमी व्यक्ति ही धीरे-धीरे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति अनुरक्त हो सकता है। आत्म-संयमी का अर्थ है, जो आवश्यकता से अधिक इन्द्रियभोग में लिप्त न हो। और जो लोग आत्म-संयमी नहीं हैं, वे इन्द्रियभोग में लिप्त हो जाते हैं। शुष्क दार्शनिक चिन्तन मन का सूक्ष्म इन्द्रियभोग है। इन्द्रियभोग मनुष्य को अंधकार के मार्ग की ओर ले जाता है। जो लोग आत्म-संयमी हैं,

वे भौतिक अस्तित्व के बद्ध जीवन से मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को अंधकार के मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, अपितु प्रकाश के मार्ग अथवा मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। आत्म-संयम इन्द्रियों को कृत्रिम ढंग से भौतिक भोग से रोकने से नहीं आता, अपितु अपनी शुद्ध इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाकर परमेश्वर में वास्तविक रूप से अनुरक्त होने से आता है। इन्द्रियों को बलपूर्वक दमित नहीं किया जा सकता, अपितु उन्हें उचित कार्य में लगाया जा सकता है। अतएव शुद्ध इन्द्रियाँ सदैव भगवान् की दिव्य सेवा में लगी रहती हैं। इन्द्रियों को संलग्न रखने की यह सिद्धावस्था भक्तियोग कहलाती है। अतएव जो लोग भक्तियोग के साधनों में अनुरक्त हैं, वे वास्तव में आत्म-संयमी हैं और वे भगवान् की सेवा करने के लिए अपना घरेलू या शारीरिक मोह सहसा छोड़ सकते हैं। यह परमहंस अवस्था कहलाती है। हंस दूध तथा पानी के मिश्रण में से केवल दूध ग्रहण करता है। इसी प्रकार जो माया की सेवा न करके, भगवान् की सेवा करना अपनाते हैं, वे परमहंस कहलाते हैं। उनमें स्वभावतः सारे सद्गुण यथा निरभिमानता, अहंकार से मुक्ति, अहिंसा, धैर्य, सरलता, विनयशीलता, पूजा, भक्ति तथा निष्ठा पाये जाते हैं। ये सारे दैवी गुण भगवद्भक्त में सहज रूप से पाये जाते हैं। ऐसे परमहंस, जो भगवान् की सेवा में ही लगे रहते हैं, अत्यन्त दुर्लभ हैं। यहाँ तक कि मुक्तात्माओं में भी ये दुर्लभ हैं। वास्तविक अहिंसा का अर्थ है, द्वेष से मुक्त होना। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने सहभागी जीव से द्वेष रखता है। किन्तु एक पूर्ण-परमहंस भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण पूर्ण रूप से द्वेषरहित होता है। वह प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर से सम्बन्धित समझते हुए प्यार करता है। वास्तविक वैराग्य का अर्थ है, ईश्वर पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। प्रत्येक जीव किसी अन्य पर आश्रित है, क्योंकि उसे ऐसा ही बनाया गया है। वास्तव में हर कोई भगवान् की कृपा पर आश्रित है, किन्तु जब वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है, तो वह प्रकृति की दशाओं पर निर्भर रहने लगता है। वैराग्य का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर निर्भरता का परित्याग और इस प्रकार भगवान् की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ है, पदार्थ पर निर्भर न रहकर भगवान् की कृपा पर पूर्ण श्रद्धा। यह परमहंस अवस्था भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जो परमेश्वर के लिए की जाने वाली भक्तिमय सेवा की विधि है।

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
नभ: पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चित: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निश्चय ही; पृष्टः—आपके द्वारा पूछा गया; अर्यमणः—सूर्य के समान शक्तिशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा; आचक्षे—वर्णन करे; आत्म-अवगमः—जहाँ तक मेरी जानकारी है; अत्र—यहाँ पर; यावान्—जहाँ तक; नभः—आकाश; पतन्ति—उड़ते हैं; आत्म-समम्—जहाँ तक हो सकता है; पतत्त्रिणः—पक्षी; तथा—उसी प्रकार; समम्—वैसे ही; विष्णु-गतिम्—विष्णु का ज्ञान; विपश्चितः—विद्वानों के माध्यम से भी।

हे सूर्य के समान शक्तिशाली ऋषियों, मैं आपको अपने ज्ञान के अनुसार विष्णु की दिव्य लीलाओं के वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा। जिस प्रकार पक्षी आकाश में उतनी ही दूर तक उड़ते हैं, जितनी उनमें क्षमता होती है, उसी प्रकार विद्वान भक्त-गण भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार करते हैं।

तात्पर्य : परम पूर्ण सत्य अनन्त है। कोई भी जीव अपनी सीमित क्षमता से अनन्त को नहीं जान सकता। भगवान् निराकार, साकार तथा अन्तर्यामी हैं। अपने निराकार पक्ष से वे सर्वव्यापी ब्रह्म हैं, तो अपने अन्तर्यामी स्वरूप से वे परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदय में विराजमान रहते हैं और अपने परम साकार रूप से वे अपने शुद्ध भक्त रूप में भाग्यशाली पार्षदों द्वारा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा के विषय बनते हैं। इन विभिन्न स्वरूपों में भगवान् की लीलाओं का आंशिक अनुमान बड़े-बड़े विद्वान भक्त ही लगा पाते हैं। अतएव श्रील सूत गोस्वामी ने अपनी अनुभूति के अनुसार भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने का जो कार्यभार अपने ऊपर लिया है, वह उचित ही है। वास्तव में स्वयं भगवान् ही अपना वर्णन कर सकते हैं और उनके विद्वान भक्त भी उनका उतना ही वर्णन कर सकते हैं, जितने के लिए वे उन्हें शक्ति प्रदान करते हैं।

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
मृगाननुगत: श्रान्त: क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥ २४ ॥
जलाशयमचक्षाण: प्रविवेश तमाश्रमम् ।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; धनुः—धनुष तथा बाण; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक धारण करके; विचरन्—घूमते हुए; मृगयाम्—शिकार के लिए; वने—जंगल में; मृगान्—हिरनों को; अनुगतः—पीछा करते; श्रान्तः—थका हुआ; क्षुधितः—भूखे; तृषितः—प्यासे होकर; भृशम्—अत्यधिक; जल-आशयम्—जल के आगार को, तालाब को; अचक्षाणः—खोज करते हुए; प्रविवेश—प्रवेश किया; तम्—उस प्रसिद्ध; आश्रमम्—शमीक ऋषि की कुटिया में; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—आसन लगाये; शान्तम्—चुप, शान्त; मीलित—बन्द किये; लोचनम्—आँखें।

एक बार महाराज परीक्षित वन में धनुष-बाण से शिकार करते हुए, हिरणों का पीछा करते-करते अत्यन्त थक गये और उन्हें अत्यधिक भूख तथा प्यास लग आई। जलाशय की खोज करते हुए वे सुविख्यात शमीक ऋषि के आश्रम में प्रविष्ट हुए, जहाँ उन्होंने आँखें बन्द किये, शान्त भाव से बैठे मुनि को देखा।

तात्पर्य : परमेश्वर अपने शुद्ध भक्तों पर इतने कृपालु हैं कि वे उचित समय पर ऐसे भक्तों को अपने पास बुलाकर भक्त के लिए शुभ स्थिति का निर्माण करते हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव उनके अत्यधिक थकने, भूखे तथा प्यासे होने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि भगवद्भक्त कभी ऐसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित नहीं होता। लेकिन भगवान् की इच्छा से ऐसा भक्त भी सांसारिक कार्यकलापों से वैराग्य लेने के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए, ऊपरी तौर से थका एवं प्यासा लग सकता है। मनुष्य को भगवद्धाम जाने के पूर्व सारे सांसारिक सम्बन्धों के प्रति आसक्ति का त्याग करना होता है, अतएव जब भक्त सांसारिक मामलों में अधिक तल्लीन रहने लगता है, तो भगवान् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं कि उसमें उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। परमेश्वर अपने शुद्ध भक्त को कभी भूलते नहीं, भले ही वह तथाकथित सांसारिकता में व्यस्त क्यों न हो। कभी-कभी वे विषम परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं और भक्त को सारी सांसारिकता से वैराग्य लेने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। भक्त भगवान् के संकेत को समझ लेता है, लेकिन अन्य लोग इसे प्रतिकूल एवं निराशाजनक मानते हैं। महाराज परीक्षित को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा *श्रीमद्भागवत* के उद्घाटन का निमित्त बनना था, जिस प्रकार उनके पितामह अर्जुन *भगवद्गीता* के लिए माध्यम बने थे। यदि भगवान् की इच्छा से अर्जुन में परिवार के प्रति स्नेह के फलस्वरूप मोह न उत्पन्न होता, तो भगवान् द्वारा सर्वजन हितार्थ *भगवद्गीता* का प्रवचन न हुआ होता। इसी प्रकार यदि इस समय परीक्षित महाराज थके, भूखे तथा प्यासे न होते, तो भागवत के प्रमुख अधिकारी श्रील शुकेदव गोस्वामी द्वारा

श्रीमद्भागवत न कहा गया होता। अतएव यह उन परिस्थितियों का उपक्रम है, जिनके अन्तर्गत सर्व जनहिताय *श्रीमद्भागवत* कहा गया। अतएव यह उपक्रम *एकदा* अर्थात् 'एक बार' से प्रारम्भ होता है।

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।
स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

प्रतिरुद्ध—रुका हुआ; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणवायु; मनः—मन; बुद्धिम्—बुद्धि; उपारतम्—निश्चेष्ट; स्थान—जगह; त्रयात्—तीनों से; परम्—दिव्य; प्राप्तम्—प्राप्त किया गया; ब्रह्म-भूतम्—परब्रह्म के समान; अविक्रियम्—अप्रभावित।

मुनि की इन्द्रियाँ, श्वास, मन तथा बुद्धि सभी ने भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये थे और वे तीनों (जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्ति) स्थितियों से अलग होकर, परम पूर्ण के समान गुणात्मक दृष्टि से दिव्य पद प्राप्त करके, समाधि में स्थित थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वे मुनि, जिनके आश्रम में राजा ने प्रवेश किया था, योग समाधि में थे, यह दिव्य पद तीन विधियों से प्राप्त किया जाता है : ज्ञान अर्थात् सैद्धान्तिक अध्यात्म ज्ञान से, योग अर्थात् शरीर के क्रियात्मक तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों को वश में करके समाधि की वास्तविक अनुभूति से तथा भक्ति योग की अत्यन्त स्वीकृत विधि अर्थात् इन्द्रियों को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाने से। *भगवद्गीता* से भी हमें पदार्थ से जीव तक की अनुभूति के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। हमारे भौतिक मन तथा शरीर, जीव अर्थात् आत्मा से विकसित होते हैं और हम पदार्थ के तीन गुणों के प्रभाव में आकर अपनी असली पहचान (स्वरूप) को भूल जाते हैं। ज्ञानयोग सैद्धान्तिक रूप से आत्मा की वास्तविकता के विषय में चिन्तन है। लेकिन भक्तियोग आत्मा को सचमुच कर्म में लगाता है। पदार्थ की अनुभूति की अवस्था को पार करने के बाद इन्द्रियों की अधिक सूक्ष्म अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों की अवस्था को सूक्ष्मतर मन द्वारा, और मन को प्राण की गतिविधियाँ द्वारा और फिर उसे क्रमशः बुद्धि द्वारा पार कर दिया जाता है। बुद्धि से आगे, जीवंत आत्मा को योग पद्धति की यांत्रिक क्रियाओं के द्वारा अथवा इन्द्रियों को वश में करके ध्यान का अभ्यास, प्राणायाम साधना तथा दिव्य पद तक उठने के लिए बुद्धि के प्रयोग के द्वारा अनुभव किया जाता है। यह समाधि शरीर की

सारी भौतिक क्रियाओं को रोक देती है। राजा ने मुनि को इसी अवस्था में देखा। उन्होंने मुनि को निम्न प्रकार से भी देखा।

विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च ।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

विप्रकीर्ण—बिखरे हुए; जट-आच्छन्नम्—लम्बी-लम्बी जटाओं से ढँका; रौरवेण—मृगछाला से; अजिनेन—चर्म से; च—भी; विशुष्यत्—सूखा हुआ; तालुः—तालू; उदकम्—जल; तथा-भूतम्—उस अवस्था में; अयाचत—माँगा।.

ध्यान-मग्न मुनि मृग-चर्म लपेटे थे और इनकी लम्बी जटाएँ उनके सारे शरीर पर बिखरी हुई थीं। प्यास के मारे सूखे तालू वाले राजा ने उनसे जल माँगा।

तात्पर्य : प्यासे होने के कारण राजा ने मुनि से जल माँगा। ऐसे महान् भक्त राजा ने समाधि में लीन मुनि से जल माँगा यह निश्चय ही दैवकृत था। अन्यथा ऐसी विलक्षण घटना की कोई सम्भावना न थी। इस तरह महाराज परीक्षित विषम परीस्थिति में रखे गये, जिससे आगे चलकर *श्रीमद्भागवत* का प्राकट्य हो सका।

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध—न प्राप्त कर सकने से; तृण—दर्भासन; भूमि—स्थान; आदिः—इत्यादि; असम्प्राप्त—ठीक से स्वागत न होकर; अर्घ्य—जल दान; सूनृतः—मधुर वचन; अवज्ञातम्—इस प्रकार उपेक्षित; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं को; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; चुकोप—क्रुद्ध हए; ह—इस तरह।.

आसन, बैठने का स्थान, जल तथा मधुर वचनों के द्वारा किसी प्रकार से स्वागत न किये जाने पर, राजा ने अपने आपको उपेक्षित समझा और इस तरह सोचते हुए वे क्रुद्ध हो गये।

तात्पर्य : वैदिक नियमों की संहिता में स्वागत करने का नियम यह है कि यदि घर पर शत्रु भी आये जाये, तो उसका सभी प्रकार से सम्मान किया जाना चाहिए। उसे यह सोचने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए कि वह अपने शत्रु के घर आया है। जब भगवान् कृष्ण, अर्जुन तथा भीमसेन के साथ मगध के राजा जरासन्ध के यहाँ पहुँचे, तो उसने सम्माननीय शत्रुओं का राजकीय स्वागत किया।

अतिथि शत्रु भीम को जरासन्ध से लड़ना था, फिर भी उसका शानदार सत्कार किया गया। रात्रि में वे मित्रों तथा अतिथियों के रूप में परस्पर बातें करते और दिन में जान की बाजी लगाकर मल्लयुद्ध करते। यह था सत्कार का नियम। सत्कार नियमों में यह आदेश है कि जिस निर्धन व्यक्ति के पास अतिथि को देने के लिए कुछ भी न हो, उसे चाहिए कि बैठने के लिए चटाई दे, पीने के लिए एक गिलास जल दे तथा कुछ मधुर वचन कहे। अतएव अतिथि के सत्कार में, चाहे वह मित्र हो या शत्रु, कोई खर्च नहीं लगता। यह तो शिष्टाचार की बात है।

जब महाराज परीक्षित शमीक ऋषि के द्वार में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने ऋषि द्वारा राजोचित सत्कार की आशा नहीं की थी, क्योंकि वे जानते थे कि ऋषि-मुनि भौतिक दृष्टि से धन सम्पन्न नहीं होते। लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि उन्हें बैठने का आसन, एक गिलास जल तथा कुछ मीठे वचन भी नहीं मिल पायेंगे। वे, न तो सामान्य अतिथि थे, न ही ऋषि के शत्रु थे, अतएव ऋषि के इस शुष्क सत्कार से राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वस्तुत: जब राजा को जल की अत्यन्त आवश्यकता थी, तो उनका क्रुद्ध होना उचित था। ऐसी विकट स्थिति में क्रुद्ध होना राजा के लिए अस्वाभाविक न था, लेकिन चूँकि राजा स्वयं किसी महान् सन्त से कम न थे, अतएव उनका क्रुद्ध होना और फिर कार्यवाही करना आश्चर्यजनक था। अत: यह स्वीकार करना चाहिए कि भगवान् की सर्वोपरि इच्छा से ऐसा होना ही था। राजा भगवान् के महान् भक्त थे और ऋषि भी राजा के ही समान थे। लेकिन भगवान् की इच्छा थी कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों कि जिनसे राजा को अपने पारिवारिक तथा सरकारी कार्यों से अनासक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में पूर्ण रूप से आत्म-समर्पित होना पड़े। कभी-कभी कृपामय भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के लिए ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिससे वे उन्हें भौतिक संसाररूपी दलदल से अपने पास खींच सकें। लेकिन ऊपर से सारी परिस्थितियाँ भक्तों के लिए अत्यन्त निराशाजनक सी लगती हैं। भगवान् के भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहते हैं और किसी भी दशा में, चाहे निराशा हो या सफलता, भगवान् भक्तों के परम पथ-प्रदर्शक रहते हैं। अतएव शुद्ध भक्त, निराशा की, सारी परिस्थितियों को भगवान् के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं।

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अभूत-पूर्वः—जो पहले कभी न हुआ हो, (पहला); सहसा—एकाएक; क्षुत्—भूख; तृड्भ्याम्—तथा प्यास से; अर्दित—पीड़ित होकर; आत्मनः—अपने आप; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण; प्रति—के प्रति; अभूत्—हो गये; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; मत्सरः—ईर्ष्यालु; मन्युः—क्रुद्ध; एव—इस प्रकार; च—तथा।

हे ब्राह्मणों, ब्राह्मण मुनि के प्रति राजा का क्रोध तथा द्वेष अभूतपूर्व था, क्योंकि परिस्थितियों ने उन्हें भूखे तथा प्यासे बना दिये थे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए एक मुनि तथा ब्राह्मण पर इस तरह क्रुद्ध तथा द्वेषपूर्ण होना निस्संदेह अभूतपूर्व था। राजा भलीभाँति जानते थे कि ब्राह्मण, साधु, बालक, स्त्रियाँ तथा वृद्ध पुरुष दण्ड के दायरे के बाहर होते हैं। इसी प्रकार, राजा भले ही भंयकर भूल क्यों न करे, कभी गुनहगार नहीं माना जाता। लेकिन यहाँ पर महाराज परीक्षित, भगवान् की इच्छा से, अपनी भूख तथा प्यास के कारण मुनि पर क्रुद्ध हो गये। राजा का अपनी प्रजा को अपना सत्कार न होने या अपनी उपेक्षा करने के लिए दण्ड देना ठीक था, लेकिन चूँकि दोषी एक मुनि तथा ब्राह्मण थे, अतएव यह अभूतपूर्व घटना थी। जिस तरह भगवान् किसी से ईर्ष्या नहीं करते, उसी तरह भगवद्भक्त भी कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता। महाराज परीक्षित के इस आचरण की एकमात्र सफाई यही है कि भगवान् द्वारा ऐसा पूर्वनियोजित था।

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा ।
विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—राजा; तु—किसी; ब्रह्म-ऋषेः—ब्राह्मण ऋषि के; अंसे—कंधे पर; गत-असुम्—निर्जीव; उरगम्—सर्प; रुषा—क्रोध में; विनिर्गच्छन्—जाते हुए; धनुः-कोट्या—धनुष के अग्रभाग से; निधाय—रखकर; पुरम्—महल को; आगतः—वापस आये।

इस प्रकार अपमानित होकर, राजा ने लौटते समय अपने धनुष से एक मृत सर्प उठाया और उसे क्रोधवश मुनि के कंधे पर रख दिया; तब वे अपने राजमहल को लौट आये।

तात्पर्य : राजा ने मुनि के साथ 'जैसे को तैसा' का व्यवहार किया; यद्यपि वे इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण कार्यवाही के अभ्यस्त न थे। भगवद् इच्छा से, राजा ने लौटते समय, अपने समक्ष एक मरा

हुआ सर्प देखा और सोचा कि जिस मुनि ने उन्हें इस प्रकार उपेक्षित समझा है, यदि उनके गले में मृत सर्प की माला पहना दी जाय, तो वे भी इसी प्रकार उपेक्षित हो जाय। सामान्य व्यवहार में, यह अधिक अस्वाभाविक न था, लेकिन एक ब्राह्मण मुनि के साथ महाराज परीक्षित का यह व्यवहार निश्चित रूप से अभूतपूर्व था। यह भगवान् की इच्छा से ही हुआ।

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।
मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; किम्—क्या; निभृत-अशेष—ध्यानमग्न मुद्रा; करणः—इन्द्रियाँ; मीलित—बन्द, मुँदी; ईक्षणः—आँखें; मृषा—झूठी; समाधिः—समाधि; आहो—रहता है; स्वित्—यदि ऐसा है; किम्—या तो; नु—लेकिन; स्यात्—हो सकता है; क्षत्र-बन्धुभिः—निम्न क्षत्रिय के द्वारा।

लौटने पर वे सोचने लगे तथा मन ही मन तर्क करने लगे कि क्या मुनि इन्द्रियों को एकाग्र करके तथा आँखें बन्द किये सचमुच समाधि में थे, अथवा वे निम्न क्षत्रिय का सत्कार करने से बचने के लिए समाधि का स्वाँग रचा रहे थे?

तात्पर्य : भगवद्भक्त होने के कारण, राजा ने अपनी इस कार्यवाही को उचित नहीं समझा, अतएव वे सोचने लगे कि क्या मुनि सचमुच समाधि में थे, अथवा वे बहाना बना रहे थे, जिससे उन्हें राजा का स्वागत न करना पड़े, क्योंकि राजा क्षत्रिय था अतएव पद में उनसे निम्न था। उत्तम जीव जब कभी कोई त्रुटि करता है, तो उसके मन में तुरन्त पश्चात्ताप होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी यह नहीं मानते कि राजा का यह कार्य उनके विगत दुष्कर्मों के कारण था। यह योजना तो भगवान् ने राजा को अपने घर, भगवद्धाम में वापस बुलाने के लिए बनाई थी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, यह योजना भगवान् की इच्छा से बनी थी और भगवान् की इच्छा से निराशा की स्थिति उत्पन्न हुई थी। योजना यह थी कि राजा के इस तथाकथित दुष्कर्म के लिए कलि के प्रभाव से दूषित हो चुका एक अनुभव-विहीन ब्राह्मण बालक शाप देगा। इस तरह यह अच्छा ही होगा कि राजा अपने घर-बार को छोड़ सकेगा और श्रील शुकदेव गोस्वामी के साथ सम्बन्ध होने से, *श्रीमद्भागवत* प्रस्तुत होगा, जिसे भगवान् का ग्रंथावतार समझा जाता है। इस ग्रंथावतार से भगवान् की दिव्य लीलाओं के बारे में, विशेष रूप से व्रजभूमि की दिव्य गोपिकाओं के साथ उनकी रासलीला

की अत्यन्त मनोहारी जानकारी प्राप्त होती है। भगवान् की इस विशिष्ट लीला का विशेष महत्त्व है, क्योंकि जो भी भगवान् की इस लीला को ठीक तरह से समझता है, वह निश्चय ही संसारी कामवासना से विरत हो जाता है और भगवान् की भक्तिमय सेवा के भव्य मार्ग पर प्रतिष्ठित हो जाता है। शुद्ध भक्त की संसारी निराशा उसे उच्चतर दिव्य स्थान प्रदान कराने के निमित्त होती है। अर्जुन तथा पाण्डवों को उनके चचेरे बन्धुओं से षड्यंत्र कराकर, भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध की भूमिका का निर्माण किया। यह सब भगवान् की वाणी की प्रतिनिधि *भगवद्गीता* का अवतार कराने के लिए था। इसी प्रकार राजा परिक्षित को विषम परिस्थिति में डालकर, भगवान् की इच्छा से *श्रीमद्भागवत* का अवतार कराया गया। भूख तथा प्यास से क्षुब्ध होना तो मात्र दिखावा था, क्योंकि राजा ने माता के गर्भ में रहते हुए भी बहुत सहन किया था। वे अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र के जाज्वल्यमान ताप से कभी विचलित नहीं हुए। राजा की यह व्यथापूर्ण स्थिति निश्चय ही अभूतपूर्व थी। महाराज परीक्षित जैसे भक्त भगवान् की कृपा से ऐसी आपदाओं को सहन करने के लिए काफी शक्तिशाली होते हैं और वे कभी विचलित नहीं होते। अतएव इस प्रसंग में सारी परिस्थिति भगवान् द्वारा नियोजित थी।

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (मुनि का); पुत्रः—पुत्र; अति—अत्यधिक; तेजस्वी—शक्तिमान; विहरन्—खेलते हुए; बालकः—बालकों के साथ; अर्भकैः—जो अभी बचकाना थे; राज्ञा—राजा द्वारा; अघम्—विपत्ति; प्रापितम्—दिया गया; तातम्—पिता को; श्रुत्वा—सुनकर; तत्र—वहीं पर; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोला।

उस मुनि का एक पुत्र था, जो ब्राह्मण-पुत्र होने के कारण अत्यन्त शक्तिमान था। जब वह अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, तभी उसने अपने पिता की विपत्ति सुनी, जो राजा द्वारा लाई गई थी। वह बालक वहीं पर इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के उत्तम शासन के कारण अल्पवय-बालक, जो अभी अन्य अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, योग्य ब्राह्मण के समान तेजस्वी हो सकता था। यह बालक शृंगी नाम से जाना जाता था और उसे अपने पिता से ब्रह्मचर्य की अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी, जिससे वह इसी आयु में एक ब्राह्मण के समान शक्तिशाली (तेजस्वी) हो गया था। लेकिन, चूँकि कलियुग

जीवन के चार आश्रमों की सांस्कृतिक धरोहर को विनष्ट करने के अवसर की ताक में था, अतएव इस अनुभवशून्य बालक ने कलियुग को अवसर प्रदान किया कि वह वैदिक संस्कृति के क्षेत्र में प्रविष्ट हो सके। कलि के प्रभाव से, जीवन के निम्नतर आश्रमों के प्रति घृणा के भाव का प्रारम्भ इस ब्राह्मण बालक से हुआ और इस तरह दिन-प्रति-दिन सांस्कृतिक जीवन क्षीण होता गया। इस तरह ब्राह्मण-अन्याय के पहले शिकार महाराज परीक्षित हुए और इस प्रकार कलि के आघात के प्रति राजा द्वारा दिया जाने वाला संरक्षण शिथिल पड़ गया।

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव ।
स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपानां शुनामिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहो—जरा देखो तो; अधर्मः—अधर्म; पालानाम्—शासकों का; पीव्नाम्—पाले गये का; बलि-भुजाम्—कौवों की तरह; इव—सदृश; स्वामिनि—स्वामी को; अघम्—पाप; यत्—जो है; दासानाम्—नौकरों का; द्वार-पानाम्—दरवाजे की रखवाली करनेवाले; शुनाम्—कुत्ते के; इव—सदृश।

[ब्राह्मण बालक शृंगी ने कहा:] अरे! शासकों के पापों को तो देखो, जो अधिशासी-दास-सिद्धान्तों के विरुद्ध, कौवों तथा द्वार के रखवाले कुत्तों की तरह अपने स्वामियों पर पाप ढाते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मणों को समाज-रूपी शरीर का शिर तथा मस्तिष्क माना जाता है और क्षत्रियों को बाहु। बाहुओं की आवश्यकता शरीर को सभी प्रकार की क्षतियों से बचाने के लिए पड़ती है, लेकिन बाहुओं को सिर तथा मस्तिष्क के निर्देशों के अनुसार कार्य करना होता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है, जो परमेश्वर द्वारा की गई है, क्योंकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि चारों वर्ण, जिनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं, मनुष्यों के गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। स्वाभाविक है कि ब्राह्मण के पुत्र के लिए अपने योग्य पिता के निर्देशन में ब्राह्मण बनने के अच्छे अवसर प्राप्त रहते हैं, जिस प्रकार एक चिकित्सक के पुत्र के लिए योग्य चिकित्सक बनने का अच्छा अवसर रहता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है। पुत्र को पिता की योग्यता का लाभ उठाना चाहिए और एक ब्राह्मण या चिकित्सक बनना चाहिए, अन्य कुछ नहीं। योग्य हुए बिना कोई न तो ब्राह्मण बन सकता है, न चिकित्सक और यही समस्त शास्त्रों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का

अभिमत है। यहाँ पर महान् ब्राह्मण के योग्य पुत्र शृंगी ने, जन्म से तथा प्रशिक्षण दोनों से अपेक्षित ब्राह्मणशक्ति प्राप्त कर ली थी, किन्तु उसमें संस्कृति का अभाव था, क्योंकि वह अनुभव-हीन बालक था। कलि के प्रभाव से, यह ब्राह्मण बालक अपनी ब्राह्मणशक्ति से गर्वित हो उठा और गलत ढंग से महाराज परीक्षित की तुलना कौवों तथा रखवाले कुत्तों से कर बैठा। राजा निश्चय ही इस अर्थ में राज्य के रखवाले कुत्ते की भाँति ही होता है, क्योंकि उसे सीमा की सुरक्षा के लिए उस पर कड़ी निगरानी रखनी पड़ती है तथापि उसे कुत्ता कहकर सम्बोधित करना अल्प-सभ्य बालक का द्योतक है। इस प्रकार ब्राह्मणशक्ति का पतन तब से प्रारम्भ हुआ, जब वे संस्कृति के बिना जन्म-सिद्ध अधिकार पर बल देने लगे। ब्राह्मण जाति का पतन कलियुग में शुरू हुआ। चूँकि ब्राह्मण समाज-व्यवस्था के प्रमुख होते हैं, अतएव समाज के अन्य वर्ण भी पतित होने लगे। ब्राह्मणों के पतन का यह सूत्रपात शृंगी के पिता के लिए अत्यधिक पश्चात्ताप का कारण बना, जैसाकि हम आगे देखेंगे।

ब्राह्मणै: क्षत्रबन्धुर्हि गृहपालो निरूपित: ।
स कथं तद्गृहे द्वा:स्थ: सभाण्डं भोक्तुमर्हति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों के पुत्र; हि—निश्चय ही; गृह-पालः—रक्षक कुत्ते; निरूपितः—नामधारी; सः—वह; कथम्—किस बल पर; तत्-गृहे—अपने (स्वामी) के घर में; द्वाः-स्थः—द्वार पर बैठा; स-भाण्डम्—उसी भांडे में; भोक्तुम्—खाने के लिए; अर्हति—योग्य है।

राजाओं की सन्तानें निश्चित रूप से द्वाररक्षक कुत्ते नियुक्त हुई हैं और उन्हें द्वार पर ही रहना चाहिए। तो किस आधार पर ये कुत्ते घर में घुसकर अपने स्वामी की ही थाली में खाने का दावा करते हैं?

तात्पर्य : अनुभव-हीन ब्राह्मण बालक अच्छी तरह जानता था कि राजा ने उसके पिता से पानी माँगा था और उसके पिता ने कुछ जवाब नहीं दिया। उसने एक असभ्य बालक के लिए उपयुक्त अशिष्ट ढंग से अपने पिता की असत्कारशीलता की सफाई देने का प्रयत्न किया। उसे राजा का ठीक से सत्कार न किये जाने का तनिक भी दुख न था। इसके विपरीत, वह गलत काम को कलियुग के ब्राह्मणों की भाँति, लाक्षणिक ढंग से, वैध ठहरा रहा था। उसने राजा की तुलना दरवाजे के कुत्ते से की, अतएव राजा के लिए ब्राह्मण के घर में घुसकर उसी पात्र से जल माँगना अनुचित था। कुत्ते को स्वामी ही

पालता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह स्वामी की ही थाली में खायेगा और पियेगा। यह झूठी प्रतिष्ठा की मानसिकता ही पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के पतन का कारण है और हम यह देख सकते हैं कि इसका सूत्रपात एक अनुभव-शून्य ब्राह्मण बालक ने किया था। जिस प्रकार कुत्तों को कमरे तथा चूल्हे-चौके में नहीं घुसने दिया जाता, भले स्वामी ने ही कुत्ता पाल रखा हो, उसी प्रकार शृंगी के अनुसार राजा को कोई अधिकार नहीं था कि वह शमीक ऋषि के घर में घुसता। बालक के मत से राजा ही गलती पर था, उसका अपना पिता नहीं और इस तरह उसने अपने शान्त रहने वाले पिता को न्यायपूर्ण ठहराया।

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।
तद्भिन्नसेतूनद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—भगवान् कृष्ण के; गते—इस संसार से प्रयाण करके जाने पर; भगवति—भगवान्; शास्तरि—परम शासक; उत्पथ-गामिनाम्—उत्पातियों को; तत् भिन्न—विलग होने से; सेतून्—रक्षक; अद्य—आज; अहम्—मैं; शास्मि—दण्ड दूँगा; पश्यत—जरा देखना; मे—मेरा; बलम्—पराक्रम।

सबों के परम शासक भगवान् श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पश्चात्, हमारे रक्षक तो चले गये, लेकिन ये उपद्रवी फल-फूल रहे हैं। अतएव इस मामले को मैं अपने हाथ में लेकर उन्हें दण्ड दूँगा। अब मेरे पराक्रम को देखो।

तात्पर्य : वह अनुभवहीन ब्राह्मण, अल्प *ब्रह्म-तेज* से गर्वित होकर, कलियुग के जादू से प्रभावित हो उठा। महाराज परीक्षित ने कलियुग को चार स्थानों में रहने की छूट दे दी थी, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, किन्तु राजा के अत्यन्त दक्ष शासन में कलि को इन नियत स्थानों में कहीं भी रहने को स्थान न मिल पाया। अतएव कलियुग अपनी सत्ता जताने की ताक में था और भगवान् की कृपा से उसे इस गर्वित अनुभवहीन ब्राह्मण बालक रूप में छिद्र मिल ही गया। यह छोटा सा ब्राह्मण विनाश के लिए अपना तेज दिखाना चाह रहा था और उसने महाराज परीक्षित जैसे महान् राजा को दण्ड देने की घृष्टता की। वह भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद उनका स्थान ग्रहण करना चाह रहा था। ये उन उपद्रवियों के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, जो कलि के प्रभाव से श्रीकृष्ण का स्थान लेना चाहते हैं। थोड़ी सी शक्ति से सम्पन्न होकर, एक उपद्रवी भगवान् का अवतार बनना चाहता है। इस संसार से भगवान् कृष्ण के प्रयाण

के बाद, कई मिथ्या अवतार हुए हैं और वे भोली-भाली जनता की आध्यात्मिक आज्ञाकारिता का स्वीकार करके अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए जनता को गुमराह कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, कलि को इस ब्राह्मण पुत्र शृंगी के माध्यम से अपना शासन जताने का अवसर प्राप्त हो सका।

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः ।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; रोष-ताम्र-अक्षः—क्रुद्ध होने के कारण लाल-लाल आँखें किये; वयस्यान्—संगियों को; ऋषि-बालकः—ऋषि का पुत्र; कौशिकी—कौशिक नदी का; आपः—जल; उपस्पृश्य—स्पर्श करके; वाक्—शब्द; वज्रम्—वज्र; विससर्ज—फेंका; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।.

क्रोध से लाल-लाल आँखें किये, अपने संगियों से कहकर, उस ऋषिपुत्र ने कौशिक नदी के जल का स्पर्श किया और निम्नलिखित शब्दरूपी वज्र छोड़ा।

तात्पर्य : जैसाकि इन श्लोक से प्रकट होता है कि जिन परिस्थितियों में महाराज परीक्षित को शाप दिया गया, वे अत्यन्त बचकानी थीं। शृंगी अपने अबोध संगियों के बीच अपना अविवेक दिखा रहा था। कोई भी समझदार व्यक्ति उसे सारे मानव समाज के प्रति इतनी भारी क्षति करने से रोक लेता। किन्तु उस अनुभव-हीन ब्राह्मण-पुत्र ने अपनी अर्जित ब्रह्मशक्ति का दिखावा करने के उद्देश्य से, महाराज परीक्षित जैसे राजा का वध करके बहुत बड़ी भूल की।

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।
दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लङ्घित—पार करते हुए; मर्यादम्—शिष्टाचार; तक्षकः—तक्षक सर्प; सप्तमे—सातवें; अहनि—दिन; दङ्क्ष्यति—काटेगा; स्म—निश्चय ही; कुल-अङ्गारम्—वंश के दुष्ट को; चोदितः—करके; मे—मेरे; तत-द्रुहम्—पिता के प्रति शत्रुता।.

उस ब्राह्मण-पुत्र ने राजा को इस प्रकार शाप दिया : आज से सातवें दिन अपने वंश के इस सर्वाधिक नीच (महाराज परीक्षित) को तक्षक सर्प डस लेगा, क्योंकि इसने मेरे पिता को अपमानित करके शिष्टाचार के नियमों को तोड़ा है।

तात्पर्य : इस प्रकार ब्राह्मण शक्ति का दुरुपयोग करना आरम्भ हो गया और धीरे-धीरे कलियुग में सारे ब्राह्मण, अपने ब्रह्मतेज तथा संस्कृति, दोनों से विहीन हो गये। ब्राह्मण बालक ने महाराज परीक्षित को *कुलाङ्गार* अर्थात् वंश का निकृष्ट व्यक्ति समझा, लेकिन वास्तव में ब्राह्मण बालक ही स्वयं ऐसा था, क्योंकि उसी के कारण ब्राह्मण जाति उसी तरह तेजरहित हो गई, जिस तरह विषदंत तोड़ा गया सर्प। जब तक साँप के विषदंत होते हैं, तब तक वह भयावह होता है, अन्यथा वह सिर्फ बालकों के लिए ही भयावना होता है। कलि ने सर्वप्रथम ब्राह्मण बालक को और धीरे-धीरे अन्य जातियों को जीत लिया। इस प्रकार इस युग में समाज की सारी वैज्ञानिक व्यवस्था ने दूषित जाति प्रथा का रूप धारण कर लिया, जो ऐसी ही दूसरी जाति के लोगों द्वारा उन्मूलन की जा रही है, जो कलियुग के वश में है। मनुष्य को चाहिए कि वह दूषण के मूल कारण को देखे और इस व्यवस्था के वैज्ञानिक महत्त्व को जाने बिना उसकी अवमानना करने का प्रयास न करे।

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् ।
पितरं वीक्ष्य दु:खार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभ्येत्य—प्रवेश करके; आश्रमम्—आश्रम में; बालः—बालक; गले सर्प—गले में साँप; कलेवरम्—शरीर; पितरम्—पिता को; वीक्ष्य—देखकर; दुःख-आर्तः—दुखित अवस्था में; मुक्त-कण्ठः—जोर से; रुरोद—चिल्लाया; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

तत्पश्चात् जब वह बालक आश्रम को लौट आया, तो उसने अपने पिता के गले में सर्प देखा और उद्विग्नता के कारण वह जोर से चिल्ला पड़ा।

तात्पर्य : वह बालक प्रसन्न तो नहीं हुआ था, क्योंकि उसने बहुत बड़ी भूल की थी और वह रोकर मन को हल्का करना चाह रहा था। अतएव आश्रम में प्रवेश करके जब उसने अपने पिता की दशा देखी तो वह जोर से चिल्लाया, जिससे उसे राहत मिल सके। लेकिन बहुत देर हो चुकी थी। पिता ने पूरी घटना पर खेद प्रकट किया।

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् ।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांसे मृतोरगम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; आङ्गिरसः—अंगिरा वंश में उत्पन्न ऋषि; ब्रह्मन्—हे शौनक; श्रुत्वा—सुनकर; सुत—अपने पुत्र का; विलापनम्—दुख में रोदन; उन्मील्य—खोलकर; शनकैः—धीरे-धीरे; नेत्रे—आँखों से; दृष्ट्वा—देखकर; च—भी; अंसे—कंधे पर; मृत—मरा हुआ; उरगम्—साँप को।

हे ब्राह्मणो, अंगिरा मुनि के वंश में उत्पन्न उस ऋषि ने अपने पुत्र का चिल्लाना सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं और अपनी गर्दन के चारों ओर मरा हुआ सर्प देखा।

विसृज्य तं च पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।
केन वा तेऽपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—एक ओर फेंककर; तम्—उसको; च—भी; पप्रच्छ—पूछा; वत्स—प्रिय पुत्र; कस्मात्—किसलिए; हि—निश्चय ही; रोदिषि—रो रहे हो; केन—किसके द्वारा; वा—अथवा; ते—वे; अपकृतम्—दुर्व्यवहार किया; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; सः—उस लड़के ने; न्यवेदयत्—सब कुछ बता दिया।

उन्होंने मरा हुआ सर्प एक ओर फेंक दिया और अपने पुत्र से पूछा कि वह क्यों रो रहा है? क्या किसी ने उसे चोट पहुँचाई है? यह सुनकर बालक ने जो कुछ घटना घटी थी, उसे कह सुनाया।

तात्पर्य : पिता ने गले में पड़े हुए सर्प को अधिक गम्भीरता से नहीं लिया। उन्होंने उसे फेंक दिया। वास्तव में महाराज परीक्षित से कोई बहुत बड़ी भूल नहीं हुई थी, लेकिन मूर्ख पुत्र ने उसे गम्भीरता से लिया और कलि के वश में होने से उसने राजा को शाप दे दिया। इस तरह उसने एक सुखद इतिहास के अध्याय का अन्त कर दिया।

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।
अहो बतांहो महदद्य ते कृतमल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; शप्तम्—शापित; अतत्-अर्हम्—कभी भी तिरस्कृत नहीं; नर-इन्द्रम्—मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा को; सः—वह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ऋषि; न—नहीं; आत्म-जम्—अपने पुत्र को; अभ्यनन्दत्—बधाई दी; अहो—हाय; बत—दुखद; अंहः—पाप; महत्—बड़ा; अद्य—आज; ते—तुम्हारा; कृतम्—किया गया; अल्पीयसि—नगण्य, क्षुद्र; द्रोहे—अपराध; उरुः—बहुत बड़ा; दमः—दण्ड; धृतः—दिया गया।

पिता ने अपने पुत्र से सुना कि राजा को शाप दिया गया है, यद्यपि उसे इस तरह दण्डित नहीं किया जाना था, क्योंकि वह समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ था। ऋषि ने अपने पुत्र को शाबाशी नहीं दी,

अपितु उलटे वे यह कहकर पछताने लगे, हाय! मेरे पुत्र ने कितना बड़ा पाप-कर्म कर लिया। उसने एक तुच्छ अपराध के लिए इतना भारी दण्ड दे दिया है।

तात्पर्य : राजा सारे मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि होता है और उसे उसके किसी भी कार्य के लिए निन्दित नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता। राजा ब्राह्मण के अपराधी बालक को फाँसी की सजा का आदेश दे सकता है, तब भी वह ब्राह्मण-हत्या का पापी नहीं बन सकता। यदि राजा कभी कुछ त्रुटि कर भी बैठे, तो भी उसकी अवमानना नहीं होनी चाहिए। कोई चिकित्सक गलत उपचार से किसी रोगी को मार सकता है, लेकिन ऐसे मारनेवालों को कभी मृत्युदंड नहीं दिया जाता। अत: महाराज परीक्षित जैसे उत्तम एवं पुण्यात्मा राजा के विषय में क्या कहा जाय। जीवन की वैदिक शैली में राजा को राजर्षि बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, यद्यपि वह राजा के रूप में शासन कर रहा होता है। केवल राजा द्वारा चलाये जा रहे उत्तम शासन में प्रजा शान्तिपूर्वक तथा निर्भय रह सकती है। राजर्षिगण अपने राज्य की व्यवस्था इतने सुचारु रूप से तथा पवित्रता से करते थे कि प्रजा उनका वैसा ही आदर करती थी, मानो वे भगवान् हों। यही वेदों का आदेश है। राजा को *नरेन्द्र* या मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। तो फिर महाराज परीक्षित जैसे राजा को किस तरह एक अनुभवहीन गर्व से फूला ब्राह्मण बालक अपमानित कर सकता था, भले ही उसे योग्य ब्राह्मण का तेज क्यों न प्राप्त हो चुका हो?

चूँकि शमीक ऋषि एक अनुभवी श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, अतएव उन्होंने अपने इस अधम पुत्र के कार्यों का समर्थन नहीं किया, अपितु अपने पुत्र के किये हुए पर वे पश्चात्ताप करने लगे। सामान्य नियम के अनुसार, राजा श्राप की सीमा से परे होता है, तो फिर महाराज परीक्षित जैसे उत्तम राजा के विषय में क्या कहा जाय। राजा का अपराध अत्यन्त नगण्य था और उसे मृत्यु दण्ड देना सचमुच ही शृंगी के लिए बहुत बड़ा पाप था। इसीलिए शमीक ऋषि को पूरी घटना पर पश्चात्ताप किया।

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता

विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—सचमुच; नृभिः—किसी मनुष्य द्वारा; नर-देवम्—मनुष्यरूपी देवता को; पर-आख्यम्—दिव्य; सम्मातुम्—समान बताना; अर्हसि—तेज से; अविपक्व—अनुभवहीन, अप्रौढ़; बुद्धे—बुद्धि; यत्—जिसका; तेजसा—तेज से; दुर्विषहेण—अलंघ्य; गुप्ताः—सुरक्षित; विन्दन्ति—भोग करता है; भद्राणि—सारी समृद्धि; अकुतः-भयाः—पूर्ण रूप से सुरक्षित, निर्भय; प्रजाः—जनता।

हे बालक, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है, अतएव तुम्हें ज्ञान नहीं है कि राजा मनुष्यों में सर्वोत्तम और भगवान् के तुल्य होता है। उसकी तुलना कभी भी सामान्य लोगों के साथ नहीं की जा सकती। उसके राज्य के नागरिक उसके दुर्दम तेज से सुरक्षित रहकर समृद्धिमय जीवन व्यतीत करते हैं।

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अलक्ष्यमाणे—समाप्त किये जाने से; नर-देव—राजा का सा; नाम्नि—नामधारी; रथ-अङ्ग-पाणौ—भगवान् का प्रतिनिधि; अयम्—यह; अङ्ग—हे बालक; लोकः—यह संसार; तदा हि—तुरन्त; चौर—चोर; प्रचुरः—अत्यधिक; विनङ्क्ष्यति—परास्त किया; अरक्ष्यमाणः—सुरक्षित न रहकर; अविवरूथ-वत्—मेमने की भाँति; क्षणात्—तुरन्त।

हे बालक, एकछत्र राजसत्ता द्वारा रथचक्र धारण करनेवाले भगवान् का प्रतिनिधित्व किया जाता है और जब राजसत्ता ही मिट जाती है, तो सारा संसार चोरों से भर जाता है, जो तितर-बितर मेमनों की भाँति असुरक्षित प्रजा को तुरन्त परास्त कर देते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के अनुसार एकछत्र राजा परमेश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। राजा को भगवान् का प्रतिनिधि कहा जाता है, क्योंकि उसे जीवों की रक्षा करने के लिए दैवी-गुण अर्जित करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् ने अपने असली प्रतिनिधि महाराज युधिष्ठिर को प्रतिष्ठित कराने के लिए सुनियोजित किया था। यदि आदर्श राजा को, संस्कृति तथा भक्ति से, युद्ध-कौशल में प्रशिक्षित किया जाय, तो वह पूर्ण राजा बनता है। ऐसी व्यक्तिगत राजसत्ता तथाकथित प्रजातंत्र से श्रेष्ठ होती है, जिसमें कोई प्रशिक्षण तथा उत्तरदायित्व नहीं होता। आधुनिक प्रजातंत्र के चोर

तथा उचक्के जनमत (वोटों) के गोलमाल द्वारा चुनाव लड़ते हैं और विजयी होने पर जनता का भक्षण करते हैं। एक प्रशिक्षित राजा हजारों व्यर्थ के धूर्त मंत्रियों से श्रेष्ठ होता है और यहाँ पर संकेत दिया गया है कि महाराज परीक्षित के से एकछत्र राज्य के उखड़ने से, जनता पर कलियुग के प्रहारों के लिए द्वार खुल जाता है। जनता कभी भी प्रजातंत्र के अति-विज्ञापित रूप में सुखी नहीं रहती। अगले श्लोकों में राजा-विहीन प्रशासन के परिणामों का वर्णन हुआ है।

तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस कारण से; **अद्य**—आज से; **नः**—हम पर; **पापम्**—पाप का फल; **उपैति**—चढ़ेगा; **अनन्वयम्**—विघ्न; **यत्**—क्योंकि; **नष्ट**—नष्ट होने पर; **नाथस्य**—राजा का; **वसोः**—सम्पत्ति का; **विलुम्पकात्**—लूटा जाकर; **परस्परम्**—एक दूसरे से; **घ्नन्ति**—मारेगा; **शपन्ति**—हानि पहुँचायेगा; **वृञ्जते**—चुरायेगा; **पशून्**—पशुओं को; **स्त्रियः**—स्त्रियाँ; **अर्थान्**—धन को; **पुरु**—अत्यधिक; **दस्यवः**—चोर; **जनाः**—लोगों का समूह।

राजा की शासन-प्रणाली के समाप्त होने तथा धूर्तों एवं चोरों द्वारा लोगों की सम्पत्ति लुटने के कारण बड़े-बड़े सामाजिक विघ्न आयेंगे; लोग हताहत किये जायेंगे; पशु तथा स्त्रियाँ चुराई जायेंगी और इन सारे पापों के उत्तरदायी होंगे हम सब।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नः*(हम) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजतंत्रीय शासन का अन्त करने के लिए ब्राह्मणों को एक समुदाय के रूप में जिम्मेदार बताकर मुनि ठीक ही कर रहे हैं और इस प्रकार जो तथाकथित प्रजातंत्रियों को अवसर दिया जा रहा है, जो सामान्यतया राज्य की जनता की सम्पत्ति के लुटेरे होते हैं। ये तथाकथित प्रजातंत्री लोग जनता की सम्पन्नता का उत्तरदायित्व लिए बिना प्रशासनिक तंत्र को हथिया लेते हैं। सारे व्यक्ति निजी तृप्ति के लिए पद हथिया लेते हैं और इस तरह एक राजा के स्थान पर, जनता से कर वसूलने कई राजा बन जाते हैं। यहाँ यह भविष्यवाणी की गई है कि अच्छी राजकीय सरकार के न होने से, प्रत्येक व्यक्ति धन, पशु, स्त्रियों इत्यादि को लूट कर अन्यों के लिए विघ्न खड़े करता रहेगा।

तदार्यधर्मः प्रविलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; आर्य—प्रगतिशील सभ्यता; धर्मः—कार्य; प्रविलीयते—समाप्त हो जाती है; नृणाम्—मनुष्यों की; वर्ण—जाति; आश्रम—समाज की व्यवस्था; आचार-युतः—शिष्टाचार से युक्त; त्रयी-मयः—वैदिक आदेश के रूप में; ततः—तत्पश्चात्; अर्थ—आर्थिक विकास; काम-अभिनिवेशित—इन्द्रिय-तृप्ति में पूरी तरह लिप्त; आत्मनाम्—मनुष्यों का; शुनाम्—कुत्तों की तरह; कपीनाम्—बन्दरों की तरह; इव—सदृश; वर्ण-सङ्करः—अवांछित प्रजा।.

उस समय सामान्य लोग जाति (वर्ण) तथा समाज-व्यवस्था (आश्रम) के गुणात्मक कार्यों के रूप में प्रगतिशील सभ्यता के मार्ग से तथा वैदिक आदेशों से धीरे-धीरे गिर जायेंगे। इस प्रकार वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त आर्थिक विकास के प्रति अधिक आकृष्ट होंगे जिसके फलस्वरूप कुत्तों तथा बन्दरों के स्तर की अवांछित जनसंख्या को बढ़ावा मिलेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर भविष्यवाणी की गई है कि राजतन्त्र के न रहने पर सामान्य लोगों की कुत्तों तथा बन्दरों की तरह अवांछित आबादी हो जायेगी। जिस तरह बन्दर अत्यधिक कामुक और कुत्ते संभोग करने में निर्लज्ज होते हैं, उसी प्रकार अवैध सम्बन्धों से उत्पन्न हुए सामान्य लोग वैदिक सदाचार तथा वर्णाश्रम धर्म से दूर भटक जायेंगे।

वैदिक जीवन-शैली आर्यों की सभ्यता का प्रगतिशील अभियान है। आर्यगण वैदिक सभ्यता में प्रगतिशील होते हैं। वैदिक सभ्यता का गन्तव्य भगवान् के धाम को वापस जाना है, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न जरा और न रोग। वेद हर एक को भौतिक जगत के अंधेरे से दूर रहने, और भौतिक आकाश से अति दूर आध्यात्मिक जगत के प्रकाश की ओर बढ़ने का आदेश देते हैं। गुण के आधार पर वर्णो की प्रथा तथा आश्रमों का वैज्ञानिक विधि से आयोजन भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि रूप महर्षियों द्वारा किया गया है। जीवन की पूर्ण शैली, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों वस्तुओं के विषय में सभी प्रकार का उपदेश देती है। वैदिक जीवन-शैली किसी भी मनुष्य को बन्दरों तथा कुत्तों की तरह रहने की अनुमति नहीं देती। इन्द्रियतृप्ति तथा आर्थिक विकास की अधम सभ्यता, ईश्वरविहीन या राजा से रहित जनता के द्वारा, जनता के लिए कहे जाने वाले जनतंत्र का उप-उत्पाद है। अतएव लोगों को अपने ही द्वारा चुने गये अधम प्रशासन के लिए चूँ-चपड़ नहीं करनी चाहिए।

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः ।
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

धर्म-पालः—धर्म का रक्षक; नर-पतिः—राजा; सः—वह; तु—लेकिन; सम्राट्—सम्राट; बृहत्—अत्यधिक; श्रवाः—प्रसिद्ध; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; महा-भागवतः—उच्च-कोटि का भगवद्भक्त; राज-ऋषिः—राजाओं में साधु; हय-मेधयाट्—अश्वमेध यज्ञ करनेवाला; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; श्रम-युतः—थका-हारा; दीनः—विपत्ति का मारा; न—कभी नहीं; एव—इस प्रकार; अस्मत्—हमारे द्वारा; शापम्—श्राप; अर्हति—के योग्य है।

सम्राट परीक्षित एक पवित्र राजा हैं। वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उच्चकोटि के भगवद्भक्त हैं। वे राजाओं में सन्त (राजर्षि) हैं और उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये हैं। जब ऐसा राजा, भूख तथा प्यास का मारा, थका-हारा होता है, तो वह किसी भी तरह से शाप दिये जाने के योग्य नहीं होता।

तात्पर्य : राजपद-सम्बन्धी सामान्य आचार-संहिता बताने के बाद तथा यह जताने के बाद कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, अतएव कभी निन्दनीय नहीं है, मुनि शमीक राजा परीक्षित के विषय में विशेष रूप से कुछ कहना चाह रहे थे। महाराज परीक्षित के विशिष्ट गुणों को यहाँ पर संक्षेप में दिया गया है। यदि राजा परीक्षित की गणना केवल राजा के ही रूप में की जाय, तो वे अत्यन्त विख्यात शासक थे, जिन्होंने राजा के धार्मिक नियमों के अनुसार शासन चलाया। शास्त्रों में समस्त वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्य बताये गये हैं। *भगवद्गीता* (१८.४३) में क्षत्रिय के जिन गुणों का उल्लेख है, वे सारे के सारे सम्राट परीक्षित में विद्यमान थे। वे भगवान् के महान् भक्त भी थे और स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति भी। ऐसे राजा को शाप देना कदापि उचित नहीं है, जब वह भूख और प्यास से थका-माँदा हो। इस तरह शमीक ऋषि ने सब तरह से स्वीकार किया कि महाराज परीक्षित को अत्यन्त अन्यायपूर्वक शाप दिया गया। यद्यपि सारे ब्राह्मण इस घटना से दूर थे, फिर भी उस ब्राह्मण बालक के बचकाना कार्य ने सारे विश्व की स्थिति बदल दी थी। इस प्रकार ब्राह्मण ऋषि शमीक ने संसार की उत्तम व्यवस्था के अध:पतन का सारा उत्तरदायित्व ग्रहण किया।

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना ।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अपापेषु—समस्त पापों से रहित व्यक्ति को; स्व-भृत्येषु—अधीन व्यक्ति को, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए; बालेन—बालक द्वारा; अपक्व—अप्रौढ़; बुद्धिना—बुद्धि से; पापम्—पाप-पूर्ण कर्म; कृतम्—किया गया; तत् भगवान्—अतएव भगवान्; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; क्षन्तुम्—क्षमा के लिए; अर्हति—योग्य हैं ।

तब ऋषि ने सर्वव्यापी भगवान् से अपने अप्रौढ़ तथा बुद्धिहीन पुत्र को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की, जिसने ऐसे व्यक्ति को शाप देने का महान् पाप किया था, जो समस्त पापों से मुक्त था और पराश्रित एवं सभी प्रकार से रक्षा किये जाने के योग्य था।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने पवित्र या पापपूर्ण कार्य के लिए जिम्मेदार होता है। ऋषि शमीक को यह पहले से दिख गया कि उसके पुत्र ने महाराज परीक्षित को शाप देकर महान् पाप किया है, क्योंकि वे एक पवित्र शासक थे और *महाभागवत* होने के कारण समस्त पापों से मुक्त थे, अतएव वे ब्राह्मणों द्वारा रक्षणीय थे। जब भगवद्भक्त के प्रति अपराध किया जाता है, तो उसके फलों से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होता है। सामाजिक व्यवस्था के प्रधान पद पर होने के कारण, ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे अपने आश्रितों को सुरक्षा प्रदान करें, न कि शाप दें। ऐसे अवसर आये हैं, जब ब्राह्मण ने अपने अधीन क्षत्रिय या वैश्य को उग्र शाप दिया है, किन्तु महाराज परीक्षित के साथ कोई ऐसी बात न थी, जैसाकि कहा जा चुका है। मूर्ख बालक ने ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, निरे गर्व के कारण ऐसा किया था, अतएव वह ईश्वरी नियम द्वारा दण्ड का भागी था। भगवान् ऐसे व्यक्ति को कभी क्षमा नहीं करते, जो उनके शुद्ध भक्त की अवमानना करता है। अतएव राजा को शाप देकर, मूर्ख श्रृंगी ने न केवल पाप किया था, अपितु सबसे बड़ा अपराध किया था। अतएव ऋषि देख सके कि केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही उनके पुत्र को इस पाप से बचा सकते हैं। अतएव उन्होंने क्षमा याचना के लिए सीधे भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि भगवान् ही ऐसी बात को मिटा सकते हैं, जिसको बदलना असम्भव होता है। ऋषि ने उस मूर्ख बालक के नाम पर क्षमायाचना की, जिसमें तनिक भी बुद्धि का विकास नहीं हुआ था।

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि ऐसी भगवान् की इच्छा थी कि महाराज परीक्षित उस विषम परिस्थिति में पड़ें, जिससे इस जगत से उनका उद्धार हो सके, तो फिर क्यों एक ब्राह्मण बालक

को इस अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया? इसका उत्तर यह है कि यह अपराध एक बालक से ही हुआ था, अतएव उसे आसानी से क्षमा किया जा सकता था। इस तरह पिता की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। लेकिन यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि सारी ब्राह्मण जाति को सांसारिक मामलों में कलि को प्रवेश देने के लिए क्यों उत्तरदायी ठहराया गया, तो इसका उत्तर *वराह पुराण* में मिलेगा। इसके अनुसार, जो असुर भगवान् के शत्रु थे, किन्तु जो भगवान् द्वारा मारे नहीं गये थे, उन्हें कलियुग का लाभ उठाने के लिए ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने की अनुमति दी गई। परम दयालु भगवान् ने उन सबों को पवित्र ब्राह्मणों के परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया, जिससे वे मोक्ष-लाभ कर सकें। लेकिन असुरों ने, इस अवसर का लाभ न उठाकर, ब्राह्मण होने के गर्व से फूलकर, ब्राह्मण संस्कृति का दुरुपयोग किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण शमीक ऋषि का पुत्र है। इसके द्वारा ब्राह्मणों के सारे मूर्ख पुत्रों को आगाह किया जाता है कि वे शृंगी की तरह मूर्ख न बनें और उन आसुरी गुणों से सदैव बचते रहें, जो उनमें पूर्व जन्म में विद्यमान थे। निस्सन्देह, भगवान् ने इस मूर्ख बालक को क्षमा कर दिया, लेकिन अन्य लोग जिनके पिता शमीक ऋषि जैसे नहीं हैं, वे महान् कष्ट में पड़ते रहेंगे, यदि वे ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से प्राप्त होनेवाले लाभों का दुरुपयोग करते हैं।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तिरः-कृताः—अपमानित होकर; विप्रलब्धाः—ठगा जाकर; शप्ताः—शापित होकर; क्षिप्ताः—उपेक्षा के कारण विचलित; हताः—अथवा मारे जाने पर; अपि—भी; न—कभी नहीं; अस्य—इन कृत्यों के लिए; तत्—उनको; प्रतिकुर्वन्ति—प्रतीकार होते हैं; तत्—भगवान् को; भक्ताः—भक्तगण; प्रभवः—शक्तिमान; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही।

भगवान् के भक्त इतने सहिष्णु होते हैं कि अपमानित होने, ठगे जाने, शापित होने, विचलित किये जाने, उपेक्षित होने अथवा जान से मारे जाने पर भी कभी बदला लेने का विचार नहीं करते।

तात्पर्य : ऋषि शमीक यह भी जानते थे कि भगवान् उस व्यक्ति को क्षमा नहीं करते जो भक्त के चरणों पर अपराध करता है। भगवान् इतना ही आदेश दे सकते हैं कि भक्त की शरण ग्रहण करो। उन्होंने मन में सोचा कि यदि महाराज परीक्षित बदले में शाप दे दें, तो बालक को बचाया जा सकता

है। लेकिन वे यह भी जानते थे कि शुद्ध भक्त सांसारिक लाभों या हानियों के प्रति लापरवाह होता है। अतएव भक्तगण कभी भी निजी अपयश, शाप या उपेक्षा इत्यादि का बदला नहीं लेते। जहाँ तक ऐसी बातों का सम्बन्ध है, भक्तगण निजी मामलों में उनकी परवाह नहीं करते। किन्तु यदि ऐसी चीजें भगवान् तथा भगवद्भक्तों के विरुद्ध की जाती हैं, तो भक्तगण बहुत कठोर कार्यवाही करते हैं। चूँकि यह निजी मामला था, अतएव शमीक ऋषि को पता था कि राजा इसका बदला नहीं लेंगे। अतएव अप्रौढ़ बालक के लिए भगवान् से याचना करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प न था।

ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही अपने अधीनों को शाप देने या आशीर्वाद देने में सक्षम होते हैं; भगवद्भक्त, चाहे वह ब्राह्मण न भी हो, तो भी ब्राह्मण से अधिक शक्तिशाली होता है। लेकिन शक्तिशाली भक्त कभी अपने लाभ के लिए शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता। भक्त की जितनी भी शक्ति होती है, वह भगवान् तथा उसके भक्तों की सेवा में ही लगती है।

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; पुत्र—पुत्र; कृत—किया गया; अघेन—पाप से; सः—वे (मुनि); अनुतप्तः—पश्चात्ताप करते हुए; महा-मुनिः—ऋषि; स्वयम्—स्वयं; विप्रकृतः—इस तरह अपमानित होते हुए; राज्ञा—राजा द्वारा; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अघम्—पाप; तत्—वह; अचिन्तयत्—सोचा।

इस प्रकार मुनि ने अपने पुत्र द्वारा किये गये पाप के लिए पश्चात्ताप किया। उसने राजा द्वारा किये गये अपमान को गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया।

तात्पर्य : अब सारी घटना स्पष्ट हो गई है। महाराज परीक्षित द्वारा मुनि के गले में मृत सर्प लपेटना कोई गम्भीर अपराध न था, किन्तु शृंगी द्वारा राजा को शापित किया जाना गम्भीर अपराध था। यह गम्भीर अपराध एक मूर्ख बालक द्वारा ही हुआ था, अतएव वह परमेश्वर द्वारा क्षम्य था, यद्यपि पाप के फल से मुक्त होना सम्भव न था। महाराज परीक्षित ने भी मूर्ख ब्राह्मण द्वारा दिये गये शाप की ओर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने इस विषम स्थिति का लाभ उठाया और भगवान् की महद् इच्छा से, श्रील शुकदेव गोस्वामी की कृपा के माध्यम से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की। वास्तव में यह भगवदिच्छा थी और इस इच्छापूर्ति में महाराज परीक्षित, ऋषि शमीक तथा उनका पुत्र शृंगी ये तीनों

निमित्त मात्र थे। अतएव इनमें से किसी को कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि हर काम परम पुरुष के सम्बन्ध में किया गया था।

प्रायश: साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिता: ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रय: ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रायश:—सामान्यतया; साधव:—सन्त गण; लोके—इस संसार में; परै:—अन्यों द्वारा; द्वन्द्वेषु—द्वैत में; योजिता:—लगाये जाकर; न—कभी नहीं; व्यथन्ति—पीड़ित होते हैं; न—न तो; हृष्यन्ति—हर्ष मानते हैं; यत:—क्योंकि; आत्मा—स्वयं; अगुण-आश्रय:—दिव्य।.

सामान्यतया अध्यात्मवादी अन्यों द्वारा संसार के द्वन्द्वों में लगाये जाने पर भी व्यथित नहीं होते। न ही वे (सांसारिक वस्तुओं में) आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे अध्यात्म में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादी-जन ज्ञानी, योगी तथा भगवद्भक्त होते हैं। ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्म में तदाकार होने की सिद्धि प्राप्त करना होता है, योगी सर्वव्यापी परमात्मा की अनुभूति करना चाहते हैं और भक्तगण भगवान् के व्यक्तित्व की दिव्य प्रेममयी सेवा में लगे रहते हैं। चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् एक ही दिव्यता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, अतएव ये सारे अध्यात्मवादी प्रकृति के तीनों गुणों से परे होते हैं। भौतिक सुख-दुख तीनों गुणों के प्रतिफल हैं, अतएव ऐसे सुखों-दुखों के कारणों से अध्यात्मवादियों को कोई सरोकार नहीं रहता। राजा भक्त थे और ऋषि योगी थे। अतएव दोनों ही परमात्मा की इच्छा से उत्पन्न हुई इस दुर्घटना से अलिप्त थे। खेलने की उम्र वाला बालक भगवान् की इच्छापूर्ति में निमित्त मात्र था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

शुकदेव गोस्वामी का प्रकट होना

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; मही-पतिः—राजा; तु—लेकिन; अथ—इस प्रकार (घर वापस आते समय); तत्—उस; कर्म—कार्य; गर्ह्यम्—घृणित; विचिन्तयन्—इस प्रकार सोचते हुए; आत्म-कृतम्—अपने द्वारा किया हुआ; सु-दुर्मनाः—अत्यन्त अनमना, उदास; अहो—अहो; मया—मेरे द्वारा; नीचम्—जघन्य; अनार्य—असंस्कृत, असभ्य; वत्—सदृश; कृतम्—किया गया; निरागसि—निर्दोष; ब्रह्मणि—ब्राह्मण के प्रति; गूढ—गम्भीर; तेजसि—शक्तिमान।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : घर लौटाते हुए राजा (महाराज परीक्षित) ने अनुभव किया कि उन्होंने निर्दोष तथा शक्तिमान ब्राह्मण के प्रति अत्यन्त जघन्य तथा अशिष्ट व्यवहार किया है। फलस्वरूप वे अत्यन्त उद्विग्न थे।

तात्पर्य : शक्तिमान एवं निर्दोष ब्राह्मण के साथ अपने आकस्मिक अभद्र व्यवहार से पवित्र राजा अत्यन्त दुखी हुए। ऐसा पश्चात्ताप राजा जैसे उत्तम व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है और ऐसे पश्चात्ताप से भक्त आकस्मिक किए हुए पापों से उबर जाता है। भक्तगण स्वभावतः दोषरहित होते हैं। भक्त द्वारा होनेवाले आकस्मिक पापों के लिए खेद प्रकट किया जाता है और भगवत्कृपा से ऐसे अनिच्छित पाप पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं।

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवम्—निश्चित; ततः—अतएव; मे—मेरा; कृत-देव-हेलनात्—भगवान् की आज्ञाओं का उल्लंघन करने से; दुरत्ययम्—अत्यन्त कठिन; व्यसनम्—विपत्ति; न—नहीं; अति—अत्यधिक; दीर्घात्—दूर; तत्—वह; अस्तु—ऐसा हो; कामम्—बिना हिचक की इच्छा; हि—निश्चय ही; अघ—पाप; निष्कृताय—मुक्त होने के लिए; मे—मेरा; यथा—जिससे; न—कभी नहीं; कुर्याम्—करूँगा; पुनः—फिर; एवम्—जैसे मैंने किया है; अद्धा—प्रत्यक्ष रीति से।

[राजा परीक्षित ने सोचा :] भगवान् के आदेशों की अवहेलना करने से मुझे आशंका है कि निश्चित रूप से निकट भविष्य में मेरे ऊपर कोई संकट आनेवाला है। अब मैं बिना हिचक के

कामना करता हूँ कि वह संकट अभी आ जाय, क्योंकि इस तरह मैं पापपूर्ण कर्म से मुक्त हो जाऊँगा और फिर ऐसा अपराध नहीं करूँगा।

तात्पर्य : परमेश्वर का आदेश है कि ब्राह्मणों तथा गायों को सम्पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाय। भगवान् स्वयं ब्राह्मणों तथा गायों की भलाई करने के इच्छुक रहते हैं (*गो-ब्राह्मण-हिताय च*)। महाराज परीक्षित यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उनके द्वारा एक तेजस्वी ब्राह्मण का इस तरह अपमानित किया जाना निश्चित रूप से भगवान् के नियमों के विरुद्ध था और वे निकट के भविष्य में किसी घोर संकट की आशंका कर रहे थे। अतएव वे चाह रहे थे कि जो कुछ होना है, वह उन्हें तुरन्त हो ले, किन्तु उनके परिवारवालों को कुछ न हो। मनुष्य का दुर्व्यवहार उसके पूरे परिवार के सदस्यों को प्रभावित करता है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने कामना की कि विपत्ति अकेले उन्हीं पर आये। वे स्वयं कष्ट भोगकर भावी पापों से बच जायेंगे और साथ ही, उन्होंने जो पाप किया है, उसका निराकरण हो जायेगा जिससे उनके वंशजों को कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा। एक जिम्मेदार भक्त इसी प्रकार से सोचता है। भक्त के परिवार के सदस्य भी भक्त द्वारा भगवान् की सेवा के प्रभावों का लाभ उठाते हैं। महाराज प्रह्लाद ने अपनी भक्तिमय सेवा से अपने असुर पिता को बचाया था। परिवार में भक्त सन्तान का होना भगवान् का सबसे बड़ा वरदान है।

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्
पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; एव—ही; राज्यम्—राज्य; बलम् ऋद्ध—बल तथा धन; कोशम्—खजाना; प्रकोपित—प्रज्ज्वलित; ब्रह्म-कुल—ब्राह्मण कुल द्वारा; अनलः—अग्नि; मे दहतु—मुझे जला दे; अभद्रस्य—अशुभ; पुनः—फिर; न—नहीं; मे—मुझको; अभूत्—होए; पापीयसी—पापपूर्ण; धीः—बुद्धि; द्विज—ब्राह्मण; देव—भगवान्; गोभ्यः—तथा गायों के प्रति।

मैं ब्राह्मण सभ्यता, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के प्रति उपेक्षा करने के फलस्वरूप अशिष्ट तथा पापी हूँ। अतएव मैं चाहता हूँ कि मेरा राज्य, मेरा पराक्रम तथा मेरा धन ब्राह्मण की

क्रोधाग्नि से तुरन्त भस्म हो जाय, जिससे भविष्य में ऐसे अशुभ विचारों से मेरा मार्गदर्शन न होने पाए।

तात्पर्य : प्रगतिशील मानवीय सभ्यता ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वरीय चेतना तथा गोरक्षा पर आधारित है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही व्यापार, वाणिज्य, कृषि तथा उद्योगों के द्वारा राज्य के सारे आर्थिक विकास को पूरी तरह उपयोग में लाना चाहिए, अन्यथा सारे तथाकथित आर्थिक विकास अवनति के साधन बन जाते हैं। गो-रक्षा का अर्थ है ब्राह्मण संस्कृति को भोजन प्रदान करना, जिससे ईश्वर चेतना प्राप्त होती है और इस तरह मानवीय सभ्यता में पूर्णता आती है। कलियुग का लक्ष्य जीवन के उच्चआदर्शों को विनष्ट करना है और यद्यपि महाराज परीक्षित ने संसार के भीतर कलि के वर्चस्व का बलपूर्वक प्रतिरोध किया, किन्तु कलि का प्रभाव उपयुक्त समय में प्रकट हुआ, जिससे महाराज परीक्षित जैसे प्रबल राजा से भूख तथा प्यास की थोडी सी उत्तेजना के कारण ब्राह्मण संस्कृति की अवमानना हो गयी। महाराज परीक्षित ने इस आकस्मिक घटना के प्रति पश्चात्ताप किया और उन्होंने कामना की कि उनका सारा राज्य, उनका बल तथा उनका कोष, यदि वह ब्राह्मण संस्कृति के काम नहीं आता, तो जलकर भस्म हो जाय।

जहाँ कहीं सम्पत्ति तथा शक्ति का सदुपयोग ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के उन्नयन के लिए नहीं होता, वह राज्य तथा वह घर निश्चित रूप से विनष्ट हो जाता है। यदि हम विश्व में शान्ति तथा सम्पन्नता चाहते हैं, तो हमें इस श्लोक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। प्रत्येक राज्य तथा प्रत्येक घर को आत्म-शुद्धि के लिए ब्राह्मण संस्कृति को, आत्म-साक्षात्कार के लिए ईश्वर चेतना को तथा पूर्ण सभ्यता को चालू रखने के लिए पर्याप्त दूध तथा उत्तम भोजन प्राप्त करने के लिए गोरक्षा को प्रश्रय देने का प्रयास करना चाहिए।

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद् यथा
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः ।
स साधु मेने न चिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—उन्होंने (राजा ने); चिन्तयन्—सोचते हुए; इत्थम्—इस प्रकार; अथ—अब; अशृणोत्—सुना; यथा—जिस तरह; मुनेः—मुनि के; सुत-उक्तः—पुत्र द्वारा कहा गया; निर्ऋतिः—मृत्यु; तक्षक-आख्यः—सर्प-पक्षी के विषय में; सः—उन्होंने (राजा ने); साधु—अच्छा तथा शुभ; मेने—स्वीकार किया; न—नहीं; चिरेण—दीर्घकाल तक; तक्षक—तक्षक सर्प; अनलम्—अग्नि; प्रसक्तस्य—लिप्त रहनेवालों के; विरक्ति—उदासी का; कारणम्—कारण।.

जब राजा इस तरह पश्चात्ताप कर रहे थे, तो उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ, जो मुनि पुत्र द्वारा दिये गये शाप के अनुसार सर्प-पक्षी के काटने से होनी थी। राजा ने इसे शुभ समाचार के रूप में ग्रहण किया, क्योंकि इससे उन्हें सांसारिकता के प्रति विराग उत्पन्न होगा।

तात्पर्य : सच्चा सुख आध्यात्मिक तत्त्व या जन्म-मृत्यु के चक्र के बन्द होने पर ही प्राप्त होता है। जन्म-मृत्यु के चक्र को भगवद्धाम वापस जाकर ही तोड़ा जा सकता है। भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करने पर भी जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छूटा जा सकता; तो भी हम सिद्धि प्राप्त करने के पथ को ग्रहण नहीं करते। यह सिद्धि-पथ मनुष्य को सारी भौतिक आसक्तियों से मुक्त करनेवाला है और इस तरह वह आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने के योग्य बनता है। अतएव जो दीन-हीन हैं, वे सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छे उम्मीदवार हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के महान् भक्त थे और भगवान् के धाम जाने के लिए प्रामाणिक उम्मीदवार थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी, उनके साथ सबसे बड़ी बाधा चक्रवर्ती सम्राट के रूप में उनकी भौतिक सम्पत्ति थी, जिससे वे दिव्य आकाश में भगवान् के पार्षद के रूप में अपना असली पद प्राप्त नहीं कर पा रहे थे। भगवद्भक्त के रूप में वे यह समझ सके कि यद्यपि ब्राह्मण बालक का शाप मूर्खतापूर्ण था, फिर भी वह उनके लिए आशीर्वाद था, क्योंकि यह सांसारिकता से—राजनीतिक या सामाजिक दोनो से, विरक्ति का कारण था। शमीक मुनि ने भी घटना पर शोक प्रकट करने के बाद अपना कर्तव्य समझकर राजा को यह सूचना भेज दी थी ताकि वे भगवद्धाम जाने के लिए तैयार रहें। शमीक मुनि ने राजा को सन्देश भेजा कि यद्यपि उनका पुत्र शृंगी तेजस्वी ब्राह्मण बालक था, किन्तु मूर्ख होने के कारण उसने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग राजा को व्यर्थ में शापित करने में किया। राजा द्वारा मुनि के गले में सर्प डालना मृत्यु का शाप देने के लिए पर्याप्त कारण न था। लेकिन चूँकि शाप वापस लेने का कोई उपाय नहीं था, अतएव राजा को सूचित कर दिया गया था कि एक सप्ताह के भीतर मृत्यु के लिए तैयार रहें। शमीक मुनि तथा राजा

दोनों ही स्वरूपसिद्ध आत्मा थे। शमीक मुनि योगी थे और महाराज परीक्षित भक्त थे, अतएव उन दोनों में आत्म-साक्षात्कार के विषय में कोई अन्तर नहीं था। दोनों में से कोई भी मरने से भयभीत न था। महाराज परीक्षित को क्षमा याचना के लिए मुनि के पास जाना चाहिए था, किन्तु राजा को उनकी आसन्न मृत्यु की सूचना मुनि ने इतने खेद सहित भेजी थी कि राजा अब अपनी उपस्थिति से मुनि को अधिक शर्मिन्दा नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपनी आसन्न मृत्यु के लिए तैयारी करने तथा भगवद्धाम जाने का मार्ग खोजने का निश्चय किया।

यह मनुष्य जीवन भगवद्धाम वापस जाने या जन्म-मृत्यु के चक्र से—भवसागर से छूटने के लिए अपने को तैयार करने का सुअवसर है। इस प्रकार *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली में प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को इस कार्य के लिए शिक्षा दी जाती है। दूसरे शब्दों में, *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली *सनातन-धर्म* भी कहलाती है। वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयार करती है। इस तरह गृहस्थ को वानप्रस्थ बनकर जंगल में जाकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तथा अपनी अपरिहार्य मृत्यु के पूर्व संन्यास ग्रहण करने का आदेश रहता है। महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे कि उन्हें मृत्यु के पूर्व सात दिन की पूर्व सूचना प्राप्त हो सकी। लेकिन सामान्यजनों को ऐसी कोई निश्चित पूर्वसूचना नहीं मिल पाती, यद्यपि मृत्यु सबों के लिए अवश्यम्भावी है। मूर्ख लोग मृत्यु के इस निश्चित तथ्य को भूल जाते हैं और भगवद्धाम जाने की तैयारी करने के अपने कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं। वे खाने, पीने तथा आनन्द मनाने की पाशविक वृत्तियों में ही अपना जीवन व्यर्थ कर देते हैं। ऐसा अनुत्तरदायित्व-पूर्ण जीवन कलियुग के लोगों द्वारा अपनाया जाता है, क्योंकि उनमें ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के तिरस्कार की पापपूर्ण इच्छा घर किये रहती है और इसके लिए राजसत्ता उत्तरदायी है। राज्य को चाहिए कि इन तीनों बातों की उन्नति के लिए धन खर्च करे और लोगों को मृत्यु की तैयारी करने की शिक्षा दे। जो राज्य ऐसा करता है, वह असली कल्याणप्रद राज्य है। अच्छा हो कि भारत राज्य आदर्श प्रशासकाध्यक्ष महाराज परीक्षित के आदर्शों का पालन करे; वह अन्य भौतिकतावादी राज्यों का अनुकरण न करे जिनके पास भगवद्धाम की कोई जानकारी नहीं है, जो मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। भारतीय सभ्यता के आदर्शों में गिरावट आने से, न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी नागरिक जीवन में गिरावट आई है।

अथो विहायेमममुं च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अथो—इस तरह; विहाय—छोड़कर; इमम्—यह; अमुम्—तथा अगला; च—भी; लोकम्—लोक; विमर्शितौ—निर्णय होने पर भी वे सब; हेयतया—निम्नता के कारण; पुरस्तात्—इसके पूर्व; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् कृष्ण के चरणकमल की; सेवाम्—दिव्य प्रेमाभक्ति; अधिमन्यमानः—सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि के विषय में सोचनेवाला; उपाविशत्—दृढ़ता से बैठ गया; प्रायम्—उपवास के लिए; अमर्त्य-नद्याम्—दिव्य नदी (गंगा या यमुना) के तट पर।

महाराज परीक्षित आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को छोड़कर अपने मन को कृष्णभावनामृत में एकाग्र करने के लिए गंगा नदी के तट पर दृढ़तापूर्वक बैठ गये, क्योंकि कृष्ण की दिव्य प्रेममयी सेवा सर्वोच्च उपलब्धि है और अन्य समस्त विधियों को मात करनेवाली है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे भक्त के लिए कोई भी भौतिक लोक, यहाँ तक कि सर्वोच्च ब्रह्मलोक भी, उतना वांछनीय नहीं जितना कि आदि पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का धाम गोलोक वृन्दावन है। यह पृथ्वीलोक ब्रह्माण्ड के असंख्य ग्रहों में से एक है और महत् तत्त्व की परिधि में ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड होते हैं। भक्तों को भगवान् द्वारा तथा भगवान् के प्रतिनिधि गुरुओं या आचार्यों द्वारा बतलाया जाता है कि असंख्य ब्रह्मांडों में से कोई भी ग्रह भक्तों के रहने योग्य नहीं है। भक्त सदैव अपने घर भगवद्धाम वापस जाने के इच्छुक रहते हैं जहाँ वे सेवक, मित्र, माता-पिता या भगवान् के प्रेमी के रूप में, उनके पार्षदों में से एक बनकर किसी एक वैकुण्ठलोक में या भगवान् श्रीकृष्ण के धाम गोलोक वृन्दावन में रह सकें। ये सारे लोक *पर-व्योम* में सनातन रूप से स्थित हैं, जो महत् तत्त्व के अन्दर कारणार्णव की दूसरी ओर है। महाराज परीक्षित वैष्णव भक्तों के उच्च कुल में जन्म लेने तथा अपनी संचित धर्मनिष्ठा के कारण पहले से ही इन सारी जानकारी से अवगत थे, अतएव वे कोई भौतिक ग्रह में जाने के लिए जरा भी इच्छुक न थे। आधुनिक विज्ञानी भौतिक व्यवस्था द्वारा चन्द्रमा तक पहुँचने के अत्यन्त उत्सुक हैं, लेकिन वे इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन महाराज परीक्षित जैसा भक्त, चन्द्रमा या इस प्रकार के किसी भी भौतिक लोक की, रंच भी परवाह नहीं

करता। अतएव जब उन्हें एक निश्चित तिथि पर मृत्यु का आश्वासन दे दिया गया तो वे दिव्य यमुना नदी के तट पर, जो हस्तिनापुर की राजधानी (अब दिल्ली प्रान्त में) के पास से होकर बहती है, पूर्ण उपवास द्वारा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़-प्रतिज्ञ हो गये। गंगा तथा यमुना दोनों ही *अमर्त्या* (दिव्य) नदियाँ हैं और यमुना अब भी निम्नलिखित कारणों से अधिक पवित्र है।

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

या—जो नदी; **वै**—सदा; **लसत्**—प्रवाहित; **श्री-तुलसी**—तुलसी-दलों से; **विमिश्र**—मिश्रित; **कृष्ण-अङ्घ्रि**—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; **रेणु**—धूल; **अभ्यधिक**—शुभ; **अम्बु**—जल; **नेत्री**—ले जानेवाली; **पुनाति**—पवित्र करता है; **लोकान्**—लोकों को; **उभयत्र**—ऊपर-नीचे अथवा भीतर-बाहर दोनों; **स-ईशान्**—शिवजी समेत; **कः**—अन्य कौन; **ताम्**—उस नदी को; **न**—नहीं; **सेवेत**—पूजा करते हैं; **मरिष्यमाणः**—आसन्न मृत्युवाला।

यह नदी (गंगा, जिसके किनारे राजा उपवास करने बैठे थे) अत्यन्त शुभ जल धारण करती है, जिसमें भगवान् के चरण-कमलों की धूल तथा तुलसीदल मिश्रित रहते हैं। अतएव यह जल तीनों लोकों को भीतर-बाहर से पवित्र बनाता है और शिवजी तथा अन्य देवताओं को भी पवित्र करता है। अतएव जिसकी मृत्यु निश्चित हो, उसे इस नदी की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित सात दिनों के भीतर अपनी मृत्यु की सूचना पाते ही तत्काल गृहस्थ जीवन से निवृत्त हो लिए और यमुना नदी के पवित्र तट पर चले गये। सामान्यतया यह कहा जाता है कि राजा ने गंगा नदी के किनारे शरण ली थी, लेकिन श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार राजा ने यमुना-तट पर शरण ली थी। भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से श्रील जीव गोस्वामी का कथन अधिक सटीक प्रतीत होता है। महाराज परीक्षित अपनी राजधानी हस्तिनापुर में वास करते थे, जो वर्तमान दिल्ली के निकट स्थित है और यमुना नदी इस नगर के पास से होकर बहती है। स्वाभाविक है कि राजा यमुना नदी के तट पर शरण ग्रहण करेंगे, क्योंकि यह नदी उनके महल के द्वार से होकर बह रही थी। और जहाँ तक पवित्रता की बात है, यमुना नदी गंगा नदी की अपेक्षा भगवान् कृष्ण से अधिक प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। भगवान् ने इस जगत में अपनी दिव्य लीलाओं के प्रारम्भ से ही यमुना नदी को पवित्र

बनाया। जब उनके पिता वसुदेव बालक कृष्ण को लेकर यमुना पार करके मथुरा से गोकुल ले जा रहे थे, तो भगवान् इस नदी में गिर पड़े थे और भगवान् के चरणकमलों की धूलि का स्पर्श पाकर वह तुरन्त ही पवित्र हो गई थी। यहाँ पर विशेष उल्लेख है कि महाराज परीक्षित ने उस विशेष नदी की शरण ग्रहण की, जो सुन्दर ढंग से बह रही थी और तुलसीदल से मिश्रित भगवान् के चरणकमलों की धूलि लिये जा रही थी। भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर सदैव तुलसीदल चढ़े रहते हैं, अतएव ज्योंही उनके चरणकमल गंगा तथा यमुना-नदी के जल को स्पर्श करते हैं, त्योंही नदियाँ पवित्र हो जाती हैं। लेकिन भगवान् ने गंगा की अपेक्षा यमुना का ही अधिक स्पर्श किया। *वराह पुराण* के अनुसार, जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने उद्धृत किया है, गंगा तथा यमुना नदियों के जल में कोई अन्तर नहीं है, *किन्तु जब गंगा का जल एक सौ गुना पवित्र हो जाता है, तो वह यमुना कहलाती है।* इसी तरह शास्त्रों में कहा गया है कि विष्णु के एक हजार नाम राम के एक नाम के बराबर हैं और राम के तीन नाम कृष्ण के एक नाम के तुल्य हैं।

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दधौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥ ७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवच्छिद्य—निश्चय करके; सः—राजा; पाण्डवेयः—पाण्डवों की योग्य सन्तान; प्राय-उपवेशम्—आमरण उपवास के लिए; प्रति—की ओर; विष्णु-पद्याम्—गंगा नदी के तट पर (भगवान् विष्णु के चरणों से निकल कर); दधौ—त्याग दिया; मुकुन्द-अङ्घ्रिम्—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर; अनन्य—अविचलित; भावः—आत्मा, भाव; मुनि-व्रतः—मुनि का व्रत लेकर; मुक्त—मुक्त; समस्त—सभी प्रकार की; सङ्गः—संगति से।

इस प्रकार, पाण्डवों की सुयोग्य सन्तान, राजा ने दृढ़ संकल्प किया और आमरण उपवास करने तथा भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में अपने आप को समर्पित करने के लिए, वे गंगा नदी के तट पर बैठ गये, क्योंकि एकमात्र कृष्ण ही मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने आपको समस्त संगतियों तथा आसक्तियों से मुक्त करके मुनि का व्रत स्वीकार किया।

तात्पर्य : गंगा का जल देवों समेत तीनों लोकों को पवित्र करता है, क्योंकि यह भगवान् विष्णु के चरणकमलों से निकलता है। भगवान् कृष्ण विष्णु तत्त्व के स्रोत हैं, अतएव उनके चरणकमलों की

शरण मनुष्य को ब्राह्मण के प्रति राजा द्वारा किये गये अपराध सहित समस्त पापों से उबार सकती है। अतएव महाराज परीक्षित ने मुकुन्द अथवा मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने का निश्चय किया। गंगा या यमुना नदी के तट मनुष्य को भगवान् का निरन्तर स्मरण करने का एक अवसर प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित ने अपने आपको सभी प्रकार की भौतिक संगति से विलग कर लिया और भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का ध्यान किया और यही मुक्ति का मार्ग है। समस्त प्रकार की भौतिक संगति से मुक्त होने का अर्थ है, आगे और कोई पाप न करना। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने का अर्थ है, समस्त पूर्व-पापों के प्रभावों से मुक्त होना। भौतिक जगत में ऐसी परस्थितियाँ बन जाती हैं कि मनुष्यों से, जाने या अनजाने, पाप हो जाता है और इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं स्वयं महाराज परीक्षित, जो माने हुए एक निष्पाप-पवित्र राजा थे। किन्तु वे कोई त्रुटि करना न चाहते हुए भी, अपराध के शिकार हो गये। उन्हें शाप भी दिया गया, किन्तु चूँकि वे भगवान् के बहुत बड़े भक्त थे, अतएव जीवन की ऐसी प्रतिकूलताएँ भी अनुकूल हो गईं। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को जानबूझ कर अपने जीवन में कोई पाप नहीं करना चाहिए और अविचल भाव से भगवान् के चरणकमलों को स्मरण रखना चाहिए। ऐसी ही दशाओं में भक्त को मुक्ति-मार्ग में नियमित प्रगति करने में भगवान् सहायक होंगें और इस तरह भक्त को भगवान् के चरणकमल प्राप्त हो सकेंगे। यदि भक्त से कोई आकस्मिक पाप हो भी जाता है, तो भगवान् इस शरणागत को सभी पापों से बचा लेते हैं, जिसकी पुष्टि सभी शास्त्रों में हुई है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

(*भागवत* ११.५.४२)

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपजग्मुः—पहुँचा; भुवनम्—ब्रह्माण्ड को; पुनानाः—पवित्र करनेवाले; महा-अनुभावाः—बड़े-बड़े मेधावी; मुनयः—विचारक; स-शिष्याः—अपने शिष्यों समेत; प्रायेण—प्रायः; तीर्थ—तीर्थस्थान; अभिगम—यात्रा; अपदेशैः—के बहाने से; स्वयम्—स्वयं; हि—निश्चय ही; तीर्थानि—तीर्थयात्रा से सारे स्थान; पुनन्ति—पवित्र बनाते हैं; सन्तः—मुनिगण।

उस अवसर पर बड़े-बड़े मेधावी विचारक, अपने शिष्यों के संग एवं अपनी उपस्थिति के द्वारा तीर्थ-स्थानों को निश्चय ही पवित्र करनेवाले मुनिगण तीर्थयात्रा के बहाने वहाँ आ पहुँचे।

तात्पर्य : जब महाराज परीक्षित गंगा के तट पर बैठ गये, तो यह समाचार ब्रह्माण्ड में चारों दिशाओं में फैल गया और अत्यन्त मेधावी मुनिगण, जो इस अवसर के महत्त्व को समझ सकते थे, तीर्थयात्रा का बहाना करके वहाँ आ पहुँचे। वास्तव में वे महाराज परीक्षित से भेंट करने आये थे, स्नान-यात्रा करने नहीं आये थे, क्योंकि वे सभी तीर्थों को पवित्र करने में सक्षम थे। सामान्य लोग अपने समस्त पापों को धोने के लिए तीर्थस्थानों में जाते हैं। इस तरह तीर्थस्थल अन्यों के पापों से बोझिल हो उठते हैं। किन्तु जब ऐसे मुनि बोझिल तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हैं, तो वे अपनी उपस्थिति से उन स्थानों को पवित्र बनाते हैं। अतएव जो मुनि महाराज परीक्षित से भेंट करने आये, उन्हें सामान्य व्यक्तियों की भाँति अपने को शुद्ध करने की परवाह नहीं थी, अपितु वे उस स्थान में स्नान करने के बहाने महाराज परीक्षित से भेंट करने आये थे, क्योंकि उन्होंने यह पूर्वानुमान लगा लिया था कि शुकदेव गोस्वामी द्वारा *श्रीमद्भागवत* का प्रवचन होगा। वे सभी इस महान् अवसर का लाभ उठाना चाहते थे।

अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥ ९ ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-

द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥ १० ॥

अत्रि से नारद—ये सभी विभिन्न साधु पुरुषों के नाम हैं, जो ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से यहाँ आये थे।

ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से बड़े-बड़े मुनि वहाँ आये—यथा अत्रि, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, वसिष्ठ, पराशर, विश्वामित्र, अङ्गिरा, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाहु, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, कुम्भयोनि, द्वैपायन तथा महापुरुष नारद।

तात्पर्य : *च्यवन*—ये महामुनि थे तथा भृगुमुनि के पुत्रों में से एक थे। उनका जन्म समय से पूर्व हुआ था, जब इनकी गर्भिणी माता का अपहरण हुआ था। च्यवन अपने पिता के छ: पुत्रों में से एक थे।

भृगु—जब ब्रह्माजी वरुण की ओर से महान् यज्ञ कर रहे थे, तब महर्षि भृगु यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न हुए थे। वे महर्षि थे और उनकी प्रिय पत्नी पुलोमा थीं। वे दुर्वासा, नारद तथा अन्यों की भाँति अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते थे और वे ब्रह्माण्ड के सारे ग्रहों में विचरने जाया करते थे। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व उन्होंने युद्ध रोकने का प्रयास किया। कभी उन्होंने भारद्वाज मुनि को खगोलशास्त्र की शिक्षा दी थी और वे महान् ज्योतिषशास्त्र *बृहद् भृगुसंहिता* के रचियता हैं। उन्होंने बताया कि किस प्रकार आकाश से वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। उन्होंने बताया कि उदर में वायु किस प्रकार कार्य करती है और आँतों को व्यवस्थित करती है। महान् दार्शनिक के रूप में उन्होंने जीव की शाश्वतता को तर्क से स्थापित किया (*महाभारत*)। वे महान् नृतत्त्वशास्त्री थे। उन्होंने बहुत काल पूर्व विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के वैज्ञानिक प्रतिपादकों में थे। उन्होंने क्षत्रिय राजा वीतहव्य को ब्राह्मण बनाया।

वसिष्ठ—देखिये *श्रीमद्भागवत* (१.९.६)।

पराशर—ये वसिष्ठ मुनि के पौत्र तथा व्यासदेव के पिता हैं। ये महर्षि शक्ति के पुत्र थे और इनकी माता का नाम अदृश्यती था। जब वे अपनी माता के गर्भ में थे, तब उनकी माता केवल बारह वर्ष की थीं और माता के गर्भ में ही उन्होंने वेद सीखे थे। उनके पिता का वध कल्माषपाद नामक असुर ने किया था, अतएव इसका बदला लेने के लिए उन्होंने सम्पूर्ण संसार को विनष्ट करना चाहा, किन्तु उनके पितामह वसिष्ठ ने उन्हें रोका। तब उन्होंने राक्षस-वध-यज्ञ सम्पन्न किया, लेकिन महर्षि पुलत्स्य ने उन्हें रोका। सत्यवती से आकर्षित होने पर उन्हें व्यासदेव की प्राप्ति हुई। सत्यवती बाद में महाराज शान्तनु

की पत्नी बनीं। पराशर के आशीर्वाद से ही सत्यवती मीलों तक सुगन्ध फैलाती थीं। वे भीष्म की मृत्यु के समय भी उपस्थित थे। वे महाराज जनक के गुरु थे और शिवजी के महान् भक्त थे। वे अनेक वैदिक शास्त्रों तथा समाजशास्त्रीय निर्देशों के कृतिकार हैं।

गाधिसुत या विश्वामित्र—ये तपस्या तथा योगशक्ति के महान ऋषि थे। ये गाधिसुत के नाम से विख्यात हैं, क्योंकि इनके पिता गाधि कान्यकुब्ज प्रान्त (उत्तर प्रदेश का अंग) के शक्तिशाली राजा थे। यद्यपि ये जन्म से क्षत्रिय थे, लेकिन वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के बल पर उसी शरीर से ब्राह्मण बने। इन्होंने वसिष्ठ मुनि से झगड़ा मोल ले लिया, जब वे क्षत्रिय राजा थे। मतंग मुनि के सहयोग से इन्होंने एक महान् यज्ञ किया। इस प्रकार ये वसिष्ठ के पुत्रों का नाश कर सके। ये महान् योगी बने, किन्तु इन्द्रियों को वश में न रख सकने के कारण इन्हें शकुन्तला का पिता बनना पड़ा जो विश्व इतिहास की परम सुन्दरी है। एक बार जब वे क्षत्रिय राजा थे, तो वे वसिष्ठ मुनि के आश्रम में गये, जहाँ इनका भव्य स्वागत हुआ। विश्वामित्र वसिष्ठ से नन्दिनी नामक गाय चाहते थे, किन्तु मुनि ने उसे देने से इनकार कर दिया। तब विश्वामित्र ने गाय चुरा ली और मुनि तथा राजा के बीच युद्ध छिड़ गया। विश्वामित्र वसिष्ठ की आध्यात्मिक शक्ति से परास्त हुए, अतएव राजा ने ब्राह्मण बनने का निश्चय किया। ब्राह्मण बनने के पूर्व इन्होंने कौशिक नदी के तट पर कठिन तपस्या की। ये उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध को रोकना चाहा था।

अङ्गिरा—ये ब्रह्मा के छह मानसपुत्रों में से एक तथा स्वर्ग के देवताओं के अत्यन्त विद्वान पुरोहित बृहस्पति के पिता थे। ये ब्रह्मा के वीर्य से उत्पन्न हुए जिसे उन्होंने अग्नि के एक सुलगते अंगारे को दिया था। उतथ्य तथा संवर्त उनके पुत्र हैं। कहा जाता है कि वे आज भी गंगा के तट पर अलोकानन्दा नामक स्थान पर भगवान् के नाम का कीर्तन करते हैं और तपस्या कर रहे हैं।

परशुराम—देखें *श्रीमद्भागवत* १.९.६।

उतथ्य—ये महर्षि अंगिरा के तीन पुत्रों में से एक तथा महाराज मन्धाता के गुरु थे। उन्होंने सोम (चन्द्रमा) की पुत्री भद्रा से विवाह किया था। जब वरुण ने इनकी पत्नी भद्रा का अपहरण कर लिया, तो जलदेवता वरुण के अपराध का बदला लेने के लिए ये संसार भर का पानी पी गये।

मेधातिथि—प्राचीनकाल के एक वृद्ध मुनि, राजा इन्द्रदेव के सभासद। उनके पुत्र कण्व मुनि थे, जिन्होंने वन में शकुन्तला का पालन किया था। वानप्रस्थ आश्रम का दृढ़ता से पालन करते हुए इन्होंने स्वर्गलोक की प्राप्ति की।

देवल—ये नारद मुनि तथा व्यासदेव की भाँति महान् विशेषज्ञ थे। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया, तो *भगवद्गीता* में उल्लिखित महापुरुषों की सूची में इनका नाम है। ये कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर से मिले थे। ये पाण्डव-परिवार के पुरोहित धौम्य के बड़े भाई थे। क्षत्रियों की भाँति इन्होंने भी अपनी पुत्री को स्वयंवर सभा में अपना पति स्वयं चुनने की अनुमति दी और इस उत्सव में ऋषियों के सभी कुमार पुत्रों को आमंत्रित किया गया था। कुछ लोगों के अनुसार ये असित देवल नहीं हैं।

भारद्वाज—देखें *श्रीमद्भागवत* १.९.६।

गौतम—ये ब्रह्माण्ड के सात महर्षियों में से एक थे। इनके एक पुत्र का नाम शरद्वान गौतम था। आज के गौतम गोत्र के लोग या तो इनके वंशज हैं अथवा इनकी शिष्य-परम्परा के हैं। जो ब्राह्मण अपना गौतम गोत्र बताते हैं, वे इनके वंशज हैं और जितने गौतम गोत्र वाले क्षत्रिय तथा वैश्य हैं, वे उनकी शिष्य-परम्परा के हैं। वे विख्यात अहल्या के पति थे। अहल्या इन्द्रदेव के द्वारा छेड़े जाने पर पत्थर बन गई थी, किन्तु भगवान् रामचन्द्र द्वारा इसका उद्धार हुआ। गौतम कुरुक्षेत्र युद्ध के वीरों में से एक कृपाचार्य के पितामह थे।

मैत्रेय—ये एक प्राचीन ऋषि हैं। ये विदुर के गुरु थे और एक महान् धर्माचार्य थे। इन्होंने धृतराष्ट्र को सलाह दी थी कि वे पाण्डवों से अच्छे मधुर सम्बन्ध बनाये रखें। किन्तु दुर्योधन राजी नहीं हुआ, तो इन्होंने उसे शाप दे दिया। ये व्यासदेव से मिले और उनके साथ इन्होंने धार्मिक चर्चाएँ कीं।

अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।
नानार्षेयप्रवरान् समेता-
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; देवर्षि—देवताओं में ऋषि; ब्रह्मर्षि—ऋषितुल्य ब्राह्मण; वर्याः—सर्वश्रेष्ठ; राजर्षि-वर्याः—राजर्षियों में श्रेष्ठ; अरुण-आदयः—राजर्षियों में विशिष्ट पद; च—तथा; नाना—अन्य अनेक; आर्षेय-प्रवरान्—ऋषिवंशों में श्रेष्ठ; समेतान्—एकसाथ, समूहित; अभ्यर्च्य—पूजा करके; राजा—सम्राट ने; शिरसा—भूमि पर सिर झुकाकर; ववन्दे—प्रणाम किया।

इनके अतिरिक्त वहाँ अन्य अनेक देवर्षि, राजा तथा विभिन्न मुनियों के वंशज विशिष्ट राजा आये थे, जिन्हें अरुणादय कहा जाता है। जब वे सब सम्राट (परीक्षित) से मिलने के लिए एकत्र हुए, तो राजा ने सबको शीश नमाकर प्रणाम करते हुए समुचित ढंग से उनका स्वागत किया।

तात्पर्य : गुरुजनों को आदर करने के लिए सिर को भूमि तक झुकाने की प्रथा अत्यन्त उत्तम शिष्टाचार है, जिससे अतिथि अपने को अत्यधिक सम्मानित समझते हैं। यहाँ तक कि उच्च-कोटि के अपराधी के ऐसा करने पर उसे क्षमा कर दिया जाता है और महाराज परीक्षित तो समस्त ऋषियों तथा राजाओं द्वारा अत्यधिक सम्मानित थे। उन्होंने इन समस्त महापुरुषों का विनीत भाव से स्वागत किया, जिससे वे अपने अपराधों के लिए क्षमा किये जा सकें। सामान्यतया जीवन की अन्तिम अवस्था में यह विनीत विधि प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति द्वारा अपनाई जाती है, जिससे प्रयाण के पूर्व उसे क्षमा किया जा सके। इस प्रकार से महाराज परीक्षित ने भगवद्धाम वापस जाने के लिए सबों की शुभ कामनाएँ प्राप्त कीं।

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सुख—सुखपूर्वक; उपविष्टेषु—सभी बैठे हुए; अथ—तत्पश्चात्; तेषु—उनको (आगन्तुकों को); भूयः—फिर; कृत-प्रणामः—प्रणाम करके; स्व—अपना; चिकीर्षितम्—उपवास का निर्णय; यत्—जो; विज्ञापयाम् आस—प्रस्तुत किया; विविक्त-चेताः—सांसारिक मामलों से जिसका मन विरक्त है; उपस्थितः—उपस्थित होकर; अग्रे—उनके सामने; अभिगृहीत-पाणिः—विनीतभाव से हाथ जोड़े।

जब सारे ऋषियों तथा अन्य लोगों ने सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर लिया, तो उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हुए राजा ने आमरण व्रत करने का अपना संकल्प बतलाया।

तात्पर्य : यद्यपि राजा ने पहले ही गंगा तट पर उपवास करने का निश्चय कर लिया था, किन्तु वहाँ पर उपस्थित महापुरुषों का अभिमत जानने के लिए नियमपूर्वक अपना निर्णय व्यक्त किया। कोई भी निर्णय कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किसी न किसी अधिकारी द्वारा पुष्ट होना चाहिए। इससे बात पक्की हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उन दिनों जो राजा पृथ्वी पर शासन करते थे, वे गैर-जिम्मेदार तानाशाह नहीं होते थे। वे वैदिक आदेशों के अनुसार सन्तों तथा मुनियों के प्रामाणिक निर्णयों का पालन करते थे। एक पूर्ण राजा के रूप में महाराज परीक्षित ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक आचार्यों की सलाह लेकर नियमों का पालन किया।

राजोवाच
अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद्
दूराद् विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—सौभाग्यशाली राजा ने कहा; अहो—ओह; वयम्—हम सब; धन्य-तमाः—अत्यन्त धन्य या कृतज्ञ; नृपाणाम्—समस्त राजाओं का; महत्-तम—महापुरुषों का; अनुग्रहणीय-शीलाः—कृपा प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित; राज्ञाम् कुलम्—राजाओं के समूह; ब्राह्मण-पाद—ब्राह्मणों के चरण; शौचात्—प्रक्षालन से बचा; दूरात्—दूर से; विसृष्टम्—सदा बचा हुआ; बत—के कारण; गर्ह्य—घृणित; कर्म—कार्य।

भाग्यशाली राजा ने कहा : निस्संदेह, मैं समस्त राजाओं में अत्यन्त धन्य हूँ, जो आप जैसे महापुरुषों का अनुग्रह प्राप्त करने के अभ्यस्त हैं। सामान्यतया, आप (ऋषि) लोग राजाओं को किसी दूर स्थान में फेंका जाने योग्य कूड़ा समझते हैं।

तात्पर्य : धार्मिक नियमों के अनुसार मल-मूत्र, धोवन इत्यादि को काफी दूर ले जाकर डालना चाहिए। भले ही घर से लगे स्नानागार, मूत्रालय इत्यादि आधुनिक सभ्यता की सुविधाएँ हों, लेकिन उन्हें रिहायशी मकानों से दूर बनाये जाने का आदेश है। यही उदाहरण यहाँ पर उन राजाओं पर लागू किया गया है, जो भगवद्धाम के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जो लोग भगवद्धाम जाना चाहते हैं, उनके लिए करोड़पतियों के या राजाओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रहना आत्म-हत्या से भी निकृष्ट है। दूसरे शब्दों में, अध्यात्मवादी लोग सामान्यतया ऐसे लोगों की संगति

नहीं करते, जो भगवान् की सृष्टि की बाह्य सुन्दरता द्वारा अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति में उच्च ज्ञान होने से अध्यात्मवादी जानता है कि यह सुन्दर भौतिक जगत वास्तविकता का अर्थात् भगवद्धाम का छायारूप प्रतिबिम्ब मात्र है। अतएव वे राजसी ऐश्वर्य या इसी तरह की अन्य वस्तु से अधिक मोहित नहीं होते। किन्तु महाराज परीक्षित की बात ही कुछ और थी। ऊपरी तौर पर देखने में राजा को एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक द्वारा मृत्यु का शाप मिला था, किन्तु वास्तव में उन्हें भगवान् ने अपने पास बुलाया था। महाराज परीक्षित के आमरण व्रत का समाचार पाकर जितने अध्यात्मवादी, महर्षि तथा योगी वहाँ एकत्र हुए थे, वे उनका दर्शन पाने के लिए उत्सुक थे, क्योंकि वे भगवद्धाम वापस जा रहे थे। महाराज परीक्षित भी इस बात को समझते थे कि वहाँ पर जितने ऋषि एकत्र हुए हैं, वे उनके पूर्वज पाण्डवों की भगवद्भक्ति के कारण उन पर अत्यन्त कृपालु थे। अतएव परीक्षित महाराज अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में समस्त मुनियों को वहाँ उपस्थित पाकर अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे और उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि यह सब उनके पूर्वजों तथा पितामहों के प्रताप के कारण था। अतएव उन्हें गर्व हुआ कि वे ऐसे महान् भक्तों के वंशज हैं। भगवान् के भक्तों का ऐसा गर्व भौतिक समृद्धि से उत्पन्न दर्प के तुल्य नहीं होता। इनमें पहला तो वास्तविक है और दूसरा झूठा तथा व्यर्थ है।

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; अघस्य—पापी का; परा—दिव्य; अवर—संसारी; ईशः—नियन्ता, भगवान्; व्यासक्त—अत्यधिक आसक्त; चित्तस्य—मन का; गृहेषु—घेरलू मामलों में; अभीक्ष्णम्—सदैव; निर्वेद-मूलः—वैराग्य का कारण; द्विज-शाप—ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप; रूपः—के रूप में; यत्र—जहाँ; प्रसक्तः—प्रभावित; भयम्—भय; आशु—शीघ्र; धत्ते—घटित होते हैं।

आध्यात्मिक तथा प्राकृत जगतों के नियन्ता भगवान् ने ब्राह्मण-शाप के रूप में मुझ पर अत्यन्त कृपा की है। गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण, मुझे बचाने के लिए भगवान् मेरे समक्ष इस तरह प्रकट हुए हैं कि मैं भयवश अपने आपको संसार से विरक्त कर लूँ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित यद्यपि महान् भक्त पाण्डवों के परिवार में उत्पन्न हुए थे और यद्यपि उन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दिव्य आसक्ति की शिक्षा प्राप्त थी, तो भी उन्हें संसारी गृहस्थ जीवन का आकर्षण इतना प्रबल लग रहा था कि उन्हें भगवान् की योजना द्वारा विलग किया जाना पड़ा। भगवान् विशिष्ट भक्त के लिए ही ऐसी प्रत्यक्ष कार्यवाही करते हैं। महाराज परीक्षित, ब्रह्माण्ड भर से आये श्रेष्ठ अध्यात्मवादियों की उपस्थिति से इसे समझ सके। भगवान् अपने भक्तों के साथ निवास करते हैं, अतएव बड़े-बड़े सन्तों की उपस्थिति भगवान् की उपस्थिति की सूचक थी। अतएव राजा ने महर्षियों की उपस्थिति को परमेश्वर के अनुग्रह का संकेत मानकर उनका स्वागत किया।

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—इस कारण; मा—मुझको; उपयातम्—शरणागत को; प्रतियन्तु—स्वीकार करें; विप्राः—हे ब्राह्मणों; गङ्गा—गंगा माता; च—भी; देवी—भगवान् की प्रत्यक्ष प्रतिनिधि; धृत—धारण किया; चित्तम्—हृदय; ईशे—भगवान् में; द्विज-उपसृष्टः—ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न; कुहकः—चमत्कार; तक्षकः—तक्षक नाग; वा—या; दशतु—काटे; अलम्—अविलम्ब; गायत—कृपया गाते रहें; विष्णु-गाथाः—विष्णु के कार्यों की कथा।

हे ब्राह्मणों, आप मुझे पूर्ण रूप से शरणागत के रूप में स्वीकार करें और भगवान् की प्रतिनिधि-स्वरूपा माँ गंगा भी मुझे इसी रूप में स्वीकार करें, क्योंकि मैं पहले से अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को धारण किये हूँ। अब चाहे तक्षक नाग, या ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न कोई भी चमत्कारी वस्तु, मुझे तुरन्त डस ले। मेरी एकमात्र इच्छा यह है कि आप सब भगवान् विष्णु की लीलाओं का गायन करते रहें।

तात्पर्य : ज्योंही कोई परमेश्वर के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है, तो वह मृत्यु से तनिक भी भयभीत नहीं होता। गंगा नदी के तट पर भगवद्भक्तों की उपस्थिति से तथा महाराज परीक्षित द्वारा भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण शरणागति से उत्पन्न वातावरण इस बात की गारंटी थी कि राजा भगवद्धाम वापस जा रहे हैं। इस तरह वे मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो गये।

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—तथा; भूयात्—ऐसा हो; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अनन्ते—अनन्त शक्तिमान; रतिः—आकर्षण; प्रसङ्गः—संगति; च—भी; तत्—उसका; आश्रयेषु—उनके भक्तों से; महत्सु—भौतिक सृष्टि में; याम् याम्—जो जो; उपयामि—मैं ले सकता हूँ; सृष्टिम्—जन्म; मैत्री—मित्रता; अस्तु—हो; सर्वत्र—सभी जगह; नमः—मेरा नमस्कार है; द्विजेभ्यः—ब्राह्मणों को।

मैं आप समस्त ब्राह्मणों को पुनः नमस्कार करके यही प्रार्थना करता हूँ कि यदि मैं इस भौतिक जगत में फिर से जन्म लूँ, तो अनन्त भगवान् कृष्ण के प्रति मेरी पूर्ण आसक्ति हो, उनके भक्तों की संगति प्राप्त हो और समस्त जीवों के साथ मैत्री-भाव रहे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने यहाँ पर यह बताया है कि भगवद्भक्त ही एकमात्र परिपूर्ण जीव होता है। भगवद्भक्त किसी का शत्रु नहीं होता, भले ही उसके अनेक शत्रु हों। भगवद्भक्त अभक्तों की संगति में नहीं रहना चाहता, यद्यपि उनसे उसकी शत्रुता नहीं होती। वह भगवद्भक्तों की ही संगति चाहता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि समान विचारकों में ही मैत्री सम्भव है। और भक्त का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, समस्त जीवों के पिता भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण अनुरक्ति। जिस प्रकार एक पिता का अच्छा बेटा अपने समस्त भाइयों से मित्रवत् आचरण करता है, उसी तरह भगवद्भक्त, परम पिता भगवान् श्रीकृष्ण का अच्छा बेटा होने के कारण, अन्य समस्त जीवों को अपने परम पिता से सम्बन्धित देखता है। वह अपने पिता के उद्दंड पुत्रों को सभ्य बनाकर उनसे ईश्वर के परम पितृत्व को स्वीकार कराने का प्रयास करता है। महाराज परीक्षित निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जा रहे थे, किन्तु यदि उन्हें न भी जाना होता, तो भी उन्होंने जिस तरह के जीवन के लिए प्रार्थना की, वह भौतिक जगत के लिए परम पूर्ण विधि है। शुद्ध भक्त कभी ब्रह्मा जैसे महापुरुषों का साथ भी नहीं चाहता है, उसे तो क्षुद्र जीव की भी संगति पसन्द है, बशर्ते कि वह भगवद्भक्त हो।

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः

प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्म—भूतकाल के लिए प्रयुक्त; राजा—राजा; अध्यवसाय—धीरज; युक्तः—लगे हुए; प्राचीन—पूर्वी; मूलेषु—जड़ के समेत; कुशेषु—कुश घास से बने आसन पर; धीरः—आत्म-संयमी; उदङ्-मुखः—उत्तराभिमुख; दक्षिण—दक्षिणी; कूले—किनारे पर; आस्ते—स्थित; समुद्र—समुद्र की; पत्न्याः—पत्नी (गंगा); स्व—अपना; सुत—पुत्र; न्यस्त—त्यागा हुआ; भारः—प्रशासन का भार।

पूर्ण आत्म-संयम से, महाराज परीक्षित पूर्वाभिमुख जड़ोंवाले कुशों के बने हुए, गंगा के दक्षिणी तट पर रखे, आसन पर बैठ गये और उन्होंने अपना मुख उत्तर की ओर कर लिया। इसके पूर्व उन्होंने अपने साम्राज्य का सारा भार अपने पुत्र को सौंप दिया था।

तात्पर्य : गंगा नदी समुद्र पत्नी के रूप में विख्यात है। कुश का बना आसन पवित्र माना जाता है, यदि उसे जड़ समेत भूमि से उखाड़ा गया हो और यदि उसकी जड़ें पूर्व की ओर हों तो उसे शुभ माना जाता है। आध्यात्मिक सफलता के लिए उत्तराभिमुख होना और भी अनुकूल होता है। महाराज परीक्षित ने घर छोड़ने के पूर्व प्रशासन का भार अपने पुत्र को सौंप दिया था। इस तरह समस्त परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थीं।

एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; नर-देव-देवे—राजा में; प्राय-उपविष्टे—आमरण उपवास में लगा; दिवि—आकाश में; देव—देवता; सङ्घाः—सबके सब; प्रशस्य—कार्य की प्रशंसा करके; भूमौ—पृथ्वी पर; व्यकिरन्—बरसाया; प्रसूनैः—फूलों से; मुदा—प्रसन्न होकर; मुहुः—निरन्तर; दुन्दुभयः—दैवी ढोल; च—भी; नेदुः—बजाये गये।

इस प्रकार महाराज परीक्षित आमरण उपवास करने के लिए बैठ गये। स्वर्गलोक के सारे देवता राजा के इस कार्य की प्रशंसा करने लगे और हर्ष-विभोर होकर पृथ्वी पर निरन्तर पुष्प-वर्षा करने लगे तथा दैवी नगाड़े बजाने लगे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के काल तक भी अन्तर्ग्रहीय यातायात था और महाराज परीक्षित के मोक्ष-प्राप्ति हेतु किए जाने वाले आमरण उपवास की खबर आकाश में उच्च लोकों तक फैल गई, जहाँ बुद्धिमान देवता रहते हैं। देवतागण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक समृद्धशाली होते हैं, लेकिन वे सभी परमेश्वर की आज्ञाओं के पालक हैं। स्वर्गलोक में एक भी नास्तिक नहीं है। इस तरह पृथ्वी के किसी भगवद्भक्त की वे प्रशंसा करते हैं और महाराज परीक्षित से तो वे अत्यधिक हर्षित थे, अतएव उन्होंने पुष्पों की वृष्टि करके तथा दैवी नगाड़े बजाकर उनका सम्मान किया। कोई भी देवता किसी भक्त को भगवद्धाम जाते देखकर हर्षित होता है। वह भगवद्भक्त से सदा प्रसन्न रहता है, यहाँ तक कि वह अपनी आधिदैविक शक्ति से भक्तों की सभी प्रकार से सहायता करता है और उनके कार्यों से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्, देवता तथा पृथ्वी पर स्थित भगवद्भक्त के बीच पूर्ण सहयोग की अदृश्य शृंखला बनी हुई है।

महर्षयो वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

महर्षयः—महर्षिगण; वै—सचमुच; समुपागताः—वहाँ एकत्रित; ये—जो; प्रशस्य—प्रशंसा करके; साधु—बहुत अच्छा; इति—इस प्रकार; अनुमोदमानाः—अनुमोदित करते हुए; ऊचुः—कहा; प्रजा-अनुग्रह—जीवों का कल्याण करने; शील-साराः—गुणात्मक रूप से शक्तिमान; यत्—क्योंकि; उत्तम-श्लोक—चुने हुए श्लोकों से प्रशंसित; गुण-अभिरूपम्—दैवी गुणों के समान सुन्दर।

वहाँ पर एकत्र हुए सारे ऋषियों ने भी महाराज परीक्षित के निर्णय को सराहा और ''बहुत अच्छा (साधु-साधु)'' कहकर उन्होंने अपना अनुमोदन व्यक्त किया। स्वभावतः मुनिगण सामान्य लोगों का कल्याण करने के लिए उन्मुख रहते हैं, क्योंकि उनमें परमेश्वर के सारे गुण पाये जाते हैं। अतएव वे भगवान् के भक्त महाराज परीक्षित को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भक्ति मय सेवा का पद प्राप्त करने पर जीव का प्राकृतिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। महाराज परीक्षित भगवान् कृष्ण की आसक्ति में लीन थे। यह देखकर वहाँ पर एकत्र सारे ऋषि अत्यन्त प्रसन्न

थे। उन्होंने 'साधु-साधु' कहकर अपनी ओर से अनुमोदन किया। ऐसे ऋषि सामान्य लोगों का कल्याण चाहते रहते हैं और जब वे महाराज परीक्षित जैसे महानुभाव को भक्ति-पथ पर अग्रसर होते देखते हैं, तो उनके हर्ष की सीमा नहीं रहती और वे अपनी शक्ति में जो हैं, वे सब आशीर्वाद देते हैं। भगवद्भक्ति इतनी शुभ है कि सारे देवता तथा ऋषि, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् भी भक्त से प्रसन्न हो जाते हैं, इसीलिए भक्त को प्रत्येक वस्तु शुभ दिखती है। प्रगतिशील भक्त के मार्ग से सारी अशुभ बातें हटा ली जाती हैं। मृत्यु के समय महर्षियों से भेंट निश्चय ही महाराज परीक्षित के लिए शुभ थी और इस तरह वे ब्राह्मण बालक के तथाकथित शाप से धन्य हो गये।

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; वा—इस प्रकार; इदम्—यह; राजर्षि—राजाओं के ऋषि; वर्य—प्रधान; चित्रम्—आश्चर्यजनक; भवत्सु—आप सबों को; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण; समनुव्रतेषु—उस पथ पर दृढ़ रहनेवालों को; ये—जो; अध्यासनम्—सिंहासनारूढ़; राज-किरीट—राजमुकुट; जुष्टम्—अलंकृत; सद्यः—शीघ्र; जहुः—त्याग दिया; भगवत्—भगवान्; पार्श्व-कामाः—संगति प्राप्त करने का इच्छुक।

(मुनियों ने कहा :) हे भगवान् श्रीकृष्ण की परम्परा का पालन करनेवाले पाण्डुवंशी राजर्षियों के प्रमुख! यह तनिक भी आश्चर्यप्रद नहीं कि आप अपना वह सिंहासन, जो अनेक राजाओं के मुकुटों से सुसज्जित है, भगवान् का नित्य सान्निध्य प्राप्त करने के लिए त्याग रहे हैं।

तात्पर्य : मूर्ख राजनीतिज्ञ जो प्रशासनिक पदों पर डटे हुए होते हैं, सोचते हैं कि वे जिन अस्थायी पदों पर हैं, वे जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि हैं। अतएव वे उन पदों पर जीवन के अन्तिम क्षणों तक चिपके रहते हैं, उन्हें इसका ध्यान कहाँ कि मुक्ति प्राप्त करके भगवद्धाम में भगवान् के पार्षदों में से एक पद प्राप्त करना जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है। मनुष्य जन्म इसी के लिए मिला है। भगवान् ने *भगवद्गीता* में हमें कई बार आश्वस्त किया है कि सनातन भगवद्धाम वापस जाना सर्वोच्च उपलब्धि है। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंह से प्रार्थना करते हुए कहा, "हे प्रभु! मैं जीवन की भौतिकतावादी शैली से अत्यधिक भयभीत हूँ। मैं आपके इस भयावने नृसिंहदेव रूप से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ।

यह भौतिकतावादी जीवन शैली चक्की के पाट के समान है, जिसके द्वारा हम कुचले जा रहे हैं। हम जीवन की उत्ताल तरंगों के भयावह भँवर में गिर गये हैं। अतएव हे भगवान्! मैं आपके चरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे सेवक के रूप में अपने नित्य धाम में वापस बुला लें। यही इस भौतिकतावादी जीवनशैली की सर्वोच्च मुक्ति है। मुझे इस भौतिकतावादी जीवन का अत्यन्त कटु अनुभव है। मैंने अपने कर्मों के वशीभूत होकर जिस-जिस योनि में जन्म लिया है, मुझे दो बातों का पीड़ादायक अनुभव हुआ है—अपने प्रिय से विछोह तथा अवांछित से भेंट। इनके प्रतिकार के लिए मैंने जो उपचार अपनाये, वे खुद रोग से अधिक भयावह निकले। अत: मैं जन्म-जन्मांतर एक स्थान से दूसरे स्थान में फिरता रहा, और मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे अपने चरणकमलों में शरण दें।''

पाण्डव राजा, जो संसार के अनेक सन्तों से बढ़कर हैं, जीवन की भौतिकतावादी शैली के कटु परिणामों से अवगत थे। वे कभी उस राजसिंहासन की चकाचौंध से मोहित न थे, जिस पर वे बैठे। वे सदैव भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के हेतु, उनके द्वारा पुकारे जाने के लिए उत्सुक रहते थे। महाराज परीक्षित महाराज युधिष्ठिर के सुयोग्य पौत्र थे। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र के लिए सिंहासन छोड़ दिया और इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित ने अपने पुत्र जनमेजय के लिए सिंहासन छोड़ दिया। इस वंश में सारे राजाओं का ऐसा ही रिवाज था, क्योंकि वे सभी कृष्ण की परम्परा का पालन करनेवाले थे। इस तरह भगवद्भक्त कभी भी भौतिकतावादी जीवन की चकाचौंध से मोहित नहीं होते और वे निष्पक्ष भाव से झूठे भ्रामक भौतिकतावादी जीवन के विषयों से अनासक्त रहते हैं।

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ
कलेवरं यावदसौ विहाय ।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधान: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; वयम्—हमारा; तावत्—तब तक; इह—इस स्थान पर; आस्महे—रुकेंगे; अथ—तत्पश्चात्; कलेवरम्—शरीर; यावत्—जब तक; असौ—राजा; विहाय—त्यागकर; लोकम्—लोक को; परम्—परम; विरजस्कम्—संसारी कल्मष से सर्वथा मुक्त; विशोकम्—सभी प्रकार के शोक से पूर्ण रूप से मुक्त; यास्यति—लौटता है; अयम्—यह; भागवत—भक्त; प्रधानः—प्रमुख।

हम सभी यहाँ पर तब तक प्रतीक्षा करेंगे, जब तक भगवान् के प्रमुख भक्त महाराज परीक्षित परम लोक को लौट नहीं जाते, जो समस्त संसारी कल्मष तथा समस्त प्रकार के शोक से पूर्ण रूप से मुक्त है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि, जिसकी तुलना आकाश के बादल से की गई है, उसकी सीमा से परे परव्योम अर्थात् आध्यात्मिक आकाश है, जो वैकुण्ठ नामक ग्रहों से भरा हुआ है। ऐसे वैकुण्ठ ग्रह भी भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं यथा पुरुषोत्तमलोक, अच्युतलोक, त्रिविक्रमलोक, हृषीकेशलोक, केशवलोक, अनिरुद्धलोक, माधवलोक, प्रद्युम्नलोक, संकर्षणलोक, श्रीधरलोक, वासुदेवलोक, अयोध्यालोक, द्वारकालोक तथा अन्य अनेकानेक लाखों आध्यात्मिक लोक जहाँ भगवान् अधिष्ठाता हैं। वहाँ के सारे जीव मुक्त आत्मा हैं और उनके शरीर भगवान् के ही समान आध्यात्मिक हैं। वहाँ भौतिक कल्मष नहीं है, हर वस्तु आध्यात्मिक है। अतएव वहाँ कुछ भी शोक करने योग्य नहीं है। ये लोक दिव्य आनन्द से पूर्ण हैं। वहाँ न जन्म है, न जरा, न मृत्यु और न रोग है। उपर्युक्त समस्त वैकुण्ठलोकों में एक परम लोक है, जो गोलोक वृन्दावन कहलाता है, जो भगवान् श्रीकृष्ण तथा विशिष्ट पार्षदों का धाम है। महाराज परीक्षित के लिए यह विशिष्ट धाम पूर्वनिश्चित था और वहाँ पर एकत्र हुए सारे ऋषि इसे पहले से देख सकते थे। वे सभी महान् राजा के महाप्रस्थान के विषय में परस्पर बातें कर रहे थे और वे उन्हें अन्तिम क्षण तक देखना चाह रहे थे, क्योंकि उन्हें फिर ऐसा महान् भगवद्भक्त देखने को नहीं मिलेगा। जब भगवान् का कोई बड़ा भक्त दिवंगत होता है, तो इसमें शोक करने के लिए कुछ नहीं होता, क्योंकि भक्त का भगवद्धाम में प्रवेश पूर्वनिश्चित है। लेकिन दुख की बात तो यह है कि ऐसा महान् भक्त हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। अतएव दुखी होने की बात तो है ही। जिस तरह भगवान् विरले ही हमारी इन आँखों से दिखते हैं, उसी तरह महान् भक्त भी। अत: महर्षियों ने ठीक ही अपने-अपने स्थानों पर अन्तिम क्षण तक रहने का निश्चय किया।

आश्रुत्य तद्दृषिगणवचः परीक्षित्
समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम् ।
आभाषतैनानभिनन्द्य युक्तान्
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आश्रुत्य—सुनकर; तत्—वह; ऋषि-गण—एकत्रित मुनि; वचः—बोलते हुए; परीक्षित्—महाराज परीक्षित; समम्—निष्पक्ष; मधु-च्युत्—सुनने में मधुर; गुरु—गम्भीर; च—भी; अव्यलीकम्—सर्वथा सत्य; आभाषत—कहा; एनान्—वे सब; अभिनन्द्य—स्वागत किया; युक्तान्—ढंग से प्रस्तुत; शुश्रूषमाणः—सुनने के लिए उत्सुक; चरितानि—कार्यकलापों को; विष्णोः—भगवान् के।

महान् ऋषियों ने जो कुछ कहा, वह सुनने में अति सुमधुर, सार्थक तथा यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया पूर्ण सत्य था। अतएव उन्हें सुनने के बाद महाराज परीक्षित ने भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में सुनने की इच्छा से महर्षियों को अभिनन्दन दिया।

समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे ।
नेहाथ नामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

समागताः—एकत्रित; सर्वतः—सभी दिशाओं से; एव—निश्चय ही; सर्वे—आप सब; वेदाः—परम ज्ञान; यथा—जैसे; मूर्ति-धराः—मूर्तिमंत; त्रि-पृष्ठे—ब्रह्मा के लोक में (जो उर्ध्व, मध्य तथा अधो तीनों लोकों के ऊपर स्थित है); न—नहीं; इह—इस संसार में; अथ—तत्पश्चात्; न—न तो; अमुत्र—अन्य जगत में; च—भी; कश्चन—अन्य कोई; अर्थः—हित, स्वार्थ; ऋते—के अतिरिक्त; पर—अन्य; अनुग्रहम्—कृपा; आत्म-शीलम्—अपना स्वभाव।

राजा ने कहा : हे महर्षियों, आप ब्रह्माण्ड के कोने-कोने से आकर यहाँ पर कृपापूर्वक एकत्र हुए हैं। आप सभी परम ज्ञान के मूर्तिमंत स्वरूप हैं, जो तीनों लोकों के ऊपर के लोक (सत्यलोक) का वासी है। फलस्वरूप आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अन्यों का कल्याण करने की है और इसके अतिरिक्त इस जीवन में या अगले जीवन में आपकी अन्य कोई रूचि नहीं है।

तात्पर्य : छह प्रकार के ऐश्वर्य हैं—सम्पत्ति, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य। ये सब मूलतः भगवान् के गुण हैं। परम पुरुष के अंश रूप जीवों में ये सारे गुण आंशिक रूप से, अधिक से अधिक अठहत्तर प्रतिशत पाये जाते हैं। भौतिक जगत में ये गुण (भगवान् के गुणों के १८% तक) भौतिक

शक्ति द्वारा उसी प्रकार ढके रहते हैं, जिस प्रकार सूर्य बादल से ढका रहता है। मेघों से आच्छन्न सूर्य की शक्ति मूल तेज की तुलना में मन्द रहती है। इसी प्रकार ऐसे गुणों से युक्त जीवों का मूल रंग प्राय: लुप्त रहता है। ब्रह्माण्ड में लोकों के तीन वर्ग हैं, जिनके नाम हैं—अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक। पृथ्वी के मनुष्य मध्यलोकों के प्रारम्भ में रहते हैं, लेकिन ब्रह्मा जैसे जीव तथा उनके समकालीन जीव ऊर्ध्वलोकों में रहते हैं, जिनमें से सत्यलोक सबसे ऊपर है। सत्यलोक के सारे निवासी वैदिक विद्या में पूर्ण रूप से निष्णात् होते हैं और इस तरह मायारूपी बादल साफ हो जाते हैं। फलस्वरूप वे साक्षात् वेद कहलाते हैं। ऐसे पुरुष संसारी तथा दिव्य दोनों प्रकार के ज्ञान से पूर्ण अवगत होने से संसारी या दिव्य लोकों में कोई रुचि नहीं रखते। वे एक तरह से इच्छारहित भक्त हैं। संसारी जगत में उन्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता और दिव्य जगत में वे स्वयं में पूर्ण रहते हैं। तो फिर वे संसारी जगत में क्यों आते हैं? वे भगवान् के आदेश से विभिन्न लोकों में पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए मसीहा (उद्धारकर्ता) के रूप में आते हैं। वे पृथ्वीलोक में आते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में लोगों का कल्याण करते हैं। उन्हें इस संसार में भौतिक शक्ति द्वारा प्रवंचित सड़ रहे पतित आत्माओं का उद्धार करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं होता।

ततश्च व: पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इति कृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ता: ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत:—इस तरह; च—तथा; व:—आपको; पृच्छ्यम्—पूछा जाने योग्य; इमम्—यह; विपृच्छे—पूछता हूँ; विश्रभ्य—विश्वसनीय; विप्रा:—ब्राह्मणों; इति—इस प्रकार; कृत्यतायाम्—विभिन्न कर्तव्यों में से; सर्व-आत्मना—प्रत्येक के द्वारा; म्रियमाणै:—विशेषरूप से मरणासन्नों के द्वारा; च—तथा; कृत्यम्—आज्ञाकारी; शुद्धम्—एकदम सही; च—तथा; तत्र—वहाँ पर; आमृशत—पूर्ण विचार-विमर्श से; अभियुक्ता:—सर्वथा उपयुक्त।

हे विश्वासपात्र ब्राह्मणों, अब मैं अपने वर्तमान कर्तव्य के विषय में पूछ रहा हूँ। कृपया पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात्, मुझे सभी परिस्थितियों में हर एक के कर्तव्य के विषय में और विशेष रूप से जो तुरन्त मरनेवाला हो (मरणासन्न), उसके कर्तव्य के विषय में बतलाइये।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा ने विद्वान मुनियों के समक्ष दो प्रश्न रखे हैं। पहला प्रश्न है कि सभी परिस्थितियों में हर एक का कर्तव्य क्या है? तथा दूसरा प्रश्न है कि मरणासन्न व्यक्ति का विशिष्ट कर्तव्य क्या है? इन दोनों में से मरणासन्न व्यक्ति विषयक प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हर व्यक्ति मर रहा व्यक्ति है—चाहे वह तुरन्त मरे या सौ वर्ष बाद। आयु अवधि निरर्थक है, किन्तु मरनेवाले व्यक्ति का कर्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाराज परीक्षित ने इन दोनों प्रश्नों को शुकदेव गोस्वामी के आने पर उनके समक्ष भी रखा। एक तरह से सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत,* द्वितीय स्कन्ध से लेकर बारहवें स्कंध तक, इन्हीं दोनों प्रश्नों से सम्बन्धित है। इनसे जो निष्कर्ष निकला है वह यह कि भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति मय सेवा ही जीवन में हर एक का स्थायी कर्तव्य है, जिसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के अन्तिम अंशों में की है। महाराज परीक्षित पहले से इस तथ्य से अवगत थे, लेकिन वे चाहते थे कि समागत महर्षिगण इस विषय में अपना निर्णय एक स्वर से दें, जिससे वे किसी मतभेद के बिना अपना कर्तव्य सुनिश्चित कर सकें। उन्होंने *शुद्ध* शब्द का विशेष उल्लेख किया है। दिव्य अनुभूति या आत्म-साक्षात्कार के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने अनेक विधियाँ बताई हैं। इनमें से कुछ प्रथम कोटि की हैं, कुछ द्वितीय कोटि की और कुछ तृतीय कोटि की हैं। सर्वोत्तम विधि में अपेक्षा की गई है कि मनुष्य अन्य सारी विधियों को त्याग कर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करे और इस तरह सम्पूर्ण पापों एवं उनके फलों से बच जाय।

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अभवत्—प्रकट हुए; भगवान्—शक्तिशाली; व्यास-पुत्रः—व्यासदेव के पुत्र; यदृच्छया—अपनी इच्छानुसार; गाम्—पृथ्वी में; अटमानः—निरन्तर विचरण करते; अनपेक्षः—उदासीन; अलक्ष्य—अव्यक्त; लिङ्गः—लक्षण; निज-लाभ—स्वरूपसिद्ध; तुष्टः—संतुष्ट; वृतः—घिरे हुए; च—तथा; बालैः—बालकों से; अवधूत—अन्यों द्वारा उपेक्षित; वेषः—वेशभूषा में।.

उसी समय व्यासदेव के शक्तिसम्पन्न पुत्र वहाँ प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर उदासीन तथा आत्म-तुष्ट होकर विचरण करते रहते थे। उनमें किसी सामाजिक व्यवस्था या जीवन-स्तर

(वर्णाश्रम-धर्म) का कोई लक्षण प्रकट नहीं होता था। वे स्त्रियों तथा बच्चों से घिरे थे और इस प्रकार का वेश धारण किये थे, मानों सभी लोगों ने उन्हें उपेक्षित (अवधूत) समझ रखा हो।

तात्पर्य : *भगवान्* शब्द कभी-कभी शुकदेव गोस्वामी जैसे परमेश्वर के महान् भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसे मुक्त जीव इस भौतिक जगत के कार्य-व्यापार में उदासीन रहते हैं, क्योंकि वे भक्तिमय सेवा की महान् उपलब्धियों से ही आत्म-तुष्ट रहते हैं। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, शुकदेव गोस्वामी ने न तो कोई औपचारिक गुरु का स्वीकार किया, न ही कोई औपचारिक संस्कार सम्पन्न किये। उनके पिता व्यासदेव उनके नैसर्गिक गुरु थे, क्योंकि शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* इन्हीं से सुना। इसके बाद वे पूर्ण रूप से आत्मतुष्ट बन गये। इस प्रकार वे किसी औपचारिक विधि पर निर्भर न थे। औपचारिक विधियाँ तो उनके लिए आवश्यक हैं, जो पूर्ण मोक्ष अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन श्रीशुकदेव गोस्वामी तो अपने पिता की कृपा से पहले से उस अवस्था में ही थे। तरुण बालक होने के नाते, उनसे समुचित वेश में रहने की आशा की जाती थी, लेकिन वे नग्न रहते और किसी सामाजिक परिपारी में रुचि न दिखाते। सामान्य जन उनकी उपेक्षा करते थे, किन्तु वे जिज्ञासु बालकों तथा स्त्रियों से ऐसे घिरे रहते जैसे की वे कोई पागल हों। इस प्रकार वे यहाँ पर तब प्रगट हुए, जब वे स्वेच्छा से पृथ्वी पर विचरण कर रहे थे। महाराज परीक्षित की जिज्ञासा से ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षिगण एकमत नहीं हो पा रहे थे कि क्या किया जाय। आध्यात्मिक मोक्ष के लिए विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की युक्तियाँ बताते हैं। किन्तु जीवन का चरम लक्ष्य भक्ति की चरम सिद्ध अवस्था प्राप्त करना है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न डॉक्टर भिन्न-भिन्न नुस्खे लिखते हैं, उसी प्रकार मुनियों में भी मत-भिन्नता होती है। जब ये सारी बातें चल रही थीं, तभी व्यासदेव के शक्तिसम्पन्न (तेजस्वी) पुत्र वहाँ पर प्रकट हुए।

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण-
सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; द्वि-अष्ट—सोलह; वर्षम्—वर्ष; सु-कुमार—कोमल; पाद—पाँव; कर—हाथ; ऊरु—जाँघें; बाहु—भुजाएँ; अंस—कंधे; कपोल—मस्तक; गात्रम्—शरीर; चारु—सुन्दर; आयत—चौड़ा; अक्ष—आँखें; उन्नस—ऊँची नाक; तुल्य—एक-से; कर्ण—कान; सुभ्रु—अच्छी भौंहे; आननम्—चेहरा, मुखमंडल; कम्बु—शंख; सुजात—अच्छी तरह बना; कण्ठम्—कण्ठ, गर्दन।

श्री व्यासदेव के इस पुत्र की आयु केवल सोलह वर्ष थी। उनके पाँव, हाथ, जाँघें, भुजाएँ, कंधे, ललाट तथा शरीर के अन्य भाग अत्यन्त सुकोमल तथा सुगठित बने थे। उनकी आँखें सुन्दर, बड़ी-बड़ी तथा नाक और कान उठे हुए थे। उनका मुखमण्डल अत्यन्त आकर्षक था और उनकी गर्दन सुगठित एवं शंख जैसी सुन्दर थी।

तात्पर्य : सम्मानित व्यक्ति का वर्णन पाँवों से शुरू किया जाता है और यह सम्मानित प्रणाली शुकदेव गोस्वामी पर भी लागू की गई है। वे केवल सोलह वर्ष के थे। व्यक्ति का सम्मान उसकी उपलब्धियों के लिए किया जाता है, न कि उसकी बड़ी आयु के लिए। व्यक्ति अनुभव के आधार पर अधिक सयाना हो सकता है, आयु से नहीं। श्री शुकदेव गोस्वामी, जिन्हें यहाँ पर व्यासदेव के पुत्र के रूप में बताया गया है, अपने ज्ञान के आधार पर वहाँ उपस्थित समस्त मुनियों से अधिक अनुभवी थे, यद्यपि अभी वे केवल सोलह वर्ष के थे।

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

निगूढ—आवृत; जत्रुम्—हँसली, कंधे की हड्डी; पृथु—चौड़ी; तुङ्ग—उठी हुई; वक्षसम्—छाती, सीना; आवर्त—भँवरदार, लहरदार; नाभिम्—नाभि; वलि-वल्गु—धारीदार; उदरम्—उदर, पेट; च—भी; दिक्-अम्बरम्—दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हों (नग्न); वक्त्र—कुंचित, घुँघराले; विकीर्ण—छितरे, बिखरे; केशम्—बाल; प्रलम्ब—काफी लम्बे; बाहुम्—हाथ; सु-अमर-उत्तम—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ (कृष्ण); आभम्—कान्ति।

उनकी हँसली मांसल थी, छाती चौड़ी तथा मोटी, नाभि गहरी तथा उदर सुन्दर धारियों से युक्त था। उनकी भुजाएँ लम्बी थीं तथा उनके घुँघराले बाल उनके सुन्दर मुखमंडल पर बिखरे हुए थे। वे नग्न थे और उनके शरीर की कान्ति भगवान् कृष्ण जैसी प्रतिबिम्बित हो रही थी।

तात्पर्य : उनकी शारीरिक संरचना उन्हें सामान्य व्यक्तियों से भिन्न बतानेवाली थी। शुकदेव गोस्वामी की शारीरिक संरचना के सम्बन्ध में जितने चिह्नों का वर्णन हुआ है, वे असामान्य लक्षण हैं और रूपाकृति विज्ञान के अनुसार महापुरुषों के लक्षण हैं। उनकी शारीरिक कान्ति भगवान् कृष्ण जैसी थी, जो देवों, देवताओं तथा समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्यामं सदापीव्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्यामम्—श्यामल; सदा—सदैव; अपीव्य—अत्यधिक; वयः—आयु; अङ्ग—लक्षण; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य से; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; मनः-ज्ञम्—आकर्षक; रुचिर—सुन्दर; स्मितेन—हँसी से; प्रत्युत्थिताः—खड़े हो गये; ते—वे सब; मुनयः—मुनिगण; स्व—अपने; आसनेभ्यः—आसनों से; तत्—वे; लक्षण-ज्ञाः—शरीरलक्षणों के जानने में पटु; अपि—भी; गूढ-वर्चसम्—छिपी हुई महिमा।.

वे श्यामल वर्ण के तथा अपनी युवावस्था के कारण अत्यन्त सुन्दर थे। अपने शरीर की कान्ति तथा आकर्षक मुसकान के कारण, वे स्त्रियों के लिए मोहक थे। यद्यपि वे अपनी प्राकृतिक महिमा को छिपाने का प्रयत्न कर रहे थे, तो भी वहाँ पर उपस्थित सारे महर्षि रूपाकृति शास्त्र में पटु थे, अतएव सबों ने अपने-अपने आसन से उठकर उनका सम्मान किया।

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; विष्णु-रातः—महाराज परीक्षित (जिनकी रक्षा सदा भगवान् विष्णु करते हैं); अतिथये—अतिथि बनने के लिए; आगताय—वहाँ आये हुए; तस्मै—उन्हें; सपर्याम्—सम्पूर्ण शरीर से; शिरसा—झुके सिर से; आजहार—प्रणाम किया; ततः—तत्पश्चात्; निवृत्ताः—रुक गये; हि—निश्चय ही; अबुधाः—अल्पज्ञ; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अर्भकाः—लड़के; महा-आसने—श्रेष्ठ आसन पर; सः—वे; उपविवेश—बैठ गये; पूजितः—पूजा किये गये।.

महाराज परीक्षित जिन्हें विष्णुरात (अर्थात् सदैव विष्णु द्वारा रक्षित) के नाम से भी जाना जाता है, उन्होंने मुख्य अतिथि शुकदेव गोस्वामी का स्वागत करने के लिए अपना मस्तक झुकाया। उस समय सारी अल्पज्ञ स्त्रियाँ तथा बालकों ने श्री शुकदेव गोस्वामी का पीछा करना छोड़ दिया। सबों से सम्मान प्राप्त करके, शुकदेव गोस्वामी अपने श्रेष्ठ आसन पर विराजमान हुए।

तात्पर्य : उस सभा में शुकदेव गोस्वामी के आगमन पर श्रील व्यासदेव, नारद तथा कुछ अन्य ऋषियों के अतिरिक्त सभी लोग खड़े हो गये और महाराज परीक्षित ने इस महान् भगवद्भक्त के समक्ष साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया। शुकेदव गोस्वामी ने भी सभी से, विशेषकर अपने पिता तथा नारदमुनि के समक्ष, गले मिलते हुए, हाथ मिलाकर, सिर हिलाकर तथा झुककर स्वागत का उत्तर दिया। तब उन्हें सभा का मुख्य आसन प्रदान किया गया। जब राजा तथा मुनि इस प्रकार से उनका स्वागत कर रहे थे, तो गलियों के छोकरे तथा अल्पज्ञ स्त्रियाँ जो उनके पीछे-पीछे चले आ रहे थे, आश्चर्य तथा भय से स्तम्मित रह गये। उन्होंने अपनी छिछोरी हरकतें बन्द कर दों और सब कुछ शान्त तथा गम्भीर हो गया।

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
र्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—श्री शुकदेव गोस्वामी; संवृतः—घिरे हुए; तत्र—वहाँ; महान्—महान्; महीयसाम्—सबसे महान् से; ब्रह्मर्षि—ब्राह्मणों में ऋषि; राजर्षि—राजाओं में साधु; देवर्षि—देवताओं में साधु; सङ्घैः—के समूह द्वारा; व्यरोचत—भलीभाँति योग्य; अलम्—समर्थ; भगवान्—शक्तिमान; यथा—जिस तरह; इन्दुः—चन्द्रमा; ग्रह—लोक; ऋक्ष—स्वर्ग-लोक; तारा—तारे; निकरैः—समूह द्वारा; परीतः—घिरे हुए।

तब शुकदेव गोस्वामी साधु, मुनियों तथा देवताओं से इस तरह घिरे हुए थे जिस तरह चन्द्रमा तारों, नक्षत्रों तथा अन्य आकाशीय पिण्डों से घिरा रहता है। उनकी उपस्थिति अत्यन्त भव्य थी और वे सबों द्वारा सम्मानित हुए।

तात्पर्य : साधु पुरुषों की महासभा में ब्रह्मर्षि व्यासदेव, देवर्षि नारद और क्षत्रिय राजाओं के महान् शासक परशुराम इत्यादि थे। इनमें से कुछ भगवान् के शक्तिसम्पन्न अवतार थे। शुकदेव गोस्वामी न तो

ब्रह्मर्षि थे, न राजर्षि या देवर्षि, न ही वे नारद, व्यास या परशुराम के समान कोई अवतार थे। फिर भी उनका जो स्वागत किया गया, वह उनसे बढ़कर था। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में भगवान् की अपेक्षा भगवान् के भक्त का अधिक सम्मान होता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी जैसे भक्त की महत्ता को कभी कम करके नहीं आँकना चाहिए।

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रशान्तम्—पूर्ण रूप से शान्त; आसीनम्—बैठे हुए; अकुण्ठ—निःसंकोच भाव से; मेधसम्—पर्याप्त बुद्धि-सम्पन्न; मुनिम्—महर्षि को; नृपः—राजा (महाराज परीक्षित) ने; भागवतः—महान् भक्त; अभ्युपेत्य—निकट जाकर; प्रणम्य—प्रणाम करके; मूर्ध्ना—शिर से; अवहितः—ठीक से; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; नत्वा—विनम्रतापूर्वक; गिरा—शब्दों से; सूनृतया—मीठी वाणी से; अन्वपृच्छत्—पूछा।

तब प्रखर मुनि श्री शुकदेव गोस्वामी पूर्ण शान्त भाव से बैठ गये। वे किसी भी प्रश्न का निःसंकोच होकर, बुद्धिमत्ता से उत्तर देने के लिए तैयार थे। तब महान् भक्त महाराज परीक्षित उनके पास पहुँचे और उन्होंने उनके समक्ष सिर झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर मधुर वाणी से विनीत होकर पूछा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित द्वारा गुरु से प्रश्न की जो मुद्रा अपनाई गई, वह शास्त्र के आदेशों के सर्वथा उपयुक्त है। शास्त्रीय आदेश यह है कि दिव्य विज्ञान समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि गुरु के पास विनीत होकर जाये। महाराज परीक्षित अब मृत्यु को प्राप्त होने के लिए उद्यत थे और सात दिनों की अल्प अवधि के पश्चात् वे भगवद्-धाम में प्रवेश करने की विधि जाननेवाले थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण मामलों में मनुष्य को गुरु के पास पहुँचना पड़ता है। जब तक जीवन की समस्याओं का हल खोजने की आवश्यकता न हो, तब तक गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती है। जिसे गुरु के समक्ष प्रश्न पूछने की समझ न हो, उसे गुरु के पास नहीं जाना चाहिए। गुरु की सारी योग्यताएँ शुकदेव गोस्वामी में पूर्ण रूप से प्रकट थीं। गुरु तथा शिष्य अर्थात् श्री शुकदेव एवं महाराज परीक्षित दोनों ने *श्रीमद्भागवत* के माध्यम से पूर्णता प्राप्त की। शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता व्यासदेव से

श्रीमद्भागवत सीखा, लेकिन उन्हें उसे सुनाने का अवसर नहीं मिला था। अतएव उन्होंने महाराज परीक्षित के समक्ष *भागवत* का पाठ किया और बिना हिचक के महाराज परीक्षित के प्रश्नों के उत्तर दिये। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य दोनों को मुक्ति प्राप्त हुई।

परीक्षिदुवाच
अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः ।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

परीक्षित् उवाच—भाग्यशाली महाराज परीक्षित ने कहा; अहो—अहो; अद्य—आज; वयम्—हम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सत्-सेव्याः—भक्तों की सेवा करने योग्य; क्षत्र—शासक-वर्ग; बन्धवः—मित्र; कृपया—आपकी कृपा से; अतिथि-रूपेण—अतिथि के रूप में; भवद्भिः—आपके द्वारा; तीर्थकाः—तीर्थ-स्थल होने के योग्य; कृताः—किया गया।

भाग्यशाली राजा परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, आपने कृपा करके यहाँ पर मेरे अतिथि के रूप में उपस्थित होकर, हम सबों के लिए तीर्थस्थल बनाकर हमें पवित्र बना दिया है। आपकी कृपा से हम अयोग्य राजा भक्त की सेवा करने के सुपात्र बनते हैं।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी जैसे सन्त भक्त सामान्यतया किन्हीं भौतिक भोक्ताओं, विशेष रूप से राजाओं के पास नहीं आते। महाराज प्रतापरुद्र भगवान् चैतन्य के अनुयायी थे, किन्तु जब उन्होंने भगवान् का दर्शन करना चाहा, तो भगवान् ने उससे भेंट करने से इनकार कर दिया, क्योंकि वे राजा थे। जो भक्त भगवान् के धाम वापस जाना चाहते हैं, उनके लिए दो बातें वर्जित हैं—सांसारिक भोक्ता तथा स्त्रियाँ। अतएव शुकदेव गोस्वामी के स्तर के भक्त राजाओं से भेंट करने में कभी रुचि नहीं रखते। निस्सन्देह, महाराज परीक्षित की बात दूसरी थी। वे राजा होते हुए भी महान् भक्त थे, अतएव शुकदेव गोस्वामी उन्हें उनके जीवन के अन्तिम क्षणों में मिलने आये। महाराज परीक्षित, अपनी भक्तिमयी विनयशीलता के कारण, अपने को अपने महान् क्षत्रिय पूर्वजों का अयोग्य वंशज अनुभव कर रहे थे, यद्यपि वे अपने पूर्वगामियों के ही समान महान् थे। राजाओं की अयोग्य सन्तानें *क्षत-बन्धव* कहलाती हैं, जिस तरह ब्राह्मणों की अयोग्य सन्तानें *द्विज-बन्धु* या *ब्रह्मबन्धु* कहलाती हैं। महाराज परीक्षित शुकदेव गोस्वामी की उपस्थिति से अत्यन्त प्रोत्साहित थे। वे महान् सन्त की उपस्थिति से अपने को

पवित्र हुआ मान रहे थे, क्योंकि ऐसे सन्त की उपस्थिति किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल देती है।

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—जिसके; संस्मरणात्—स्मृति से; पुंसाम्—पुरुष का; सद्यः—तुरन्त; शुद्ध्यन्ति—स्वच्छ हो जाते हैं; वै—निश्चय ही; गृहाः—सारे घर; किम्—क्या; पुनः—तब; दर्शन—भेंट; स्पर्श—छूना; पाद—पाँव; शौच—धोना; आसन-आदिभिः—आसन प्रदान करने आदि से।

आपके स्मरण मात्र से हमारे घर तुरन्त पवित्र हो जाते हैं। तो आपको देखने, स्पर्श करने, आपके पवित्र चरणों को धोने तथा अपने घर में आपको आसन प्रदान करने के विषय में तो कहना ही क्या?

तात्पर्य : पवित्र तीर्थ स्थानों का महत्त्व बड़े-बड़े मुनियों तथा सन्तों की उपस्थिति के कारण है। कहा जाता है कि पापी लोग पवित्र स्थानों में जाते हैं और अपने पापों को वहाँ छोड़ आते हैं जिससे वे वहाँ संचित हों। लेकिन बड़े-बड़े सन्तों की उपस्थिति से वह स्थान संचित पापों के संदूषण से मुक्त हो जाते हैं और इस तरह वहाँ पर उपस्थित भक्तों तथा सन्तों की कृपा से वे पवित्र स्थान पवित्र बने रहते हैं। यदि ऐसे सन्त सांसारिक लोगों के घरों में प्रकट हों, तो निश्चय ही सांसारिक भोक्ताओं के संचित पाप शमित होते जाते हैं। अतएव पवित्र सन्तों का गृहस्थों से कोई स्वार्थ नहीं रहता; उनका एकमात्र उद्देश्य गृहस्थों के घरों को पवित्र बनाना है। अतएव जब ऐसे सन्त-महात्मा द्वार पर आयें तो गृहस्थों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। जो गृहस्थ ऐसे पवित्र आदेशों का निरादर करता है, वह महान् अपराधी है। अतएव ऐसा आदेश है कि जो गृहस्थ सन्त को देखकर सिर नहीं झुकाता, उसे अपने महान् अपराध को निष्प्रभावित करने के लिए उस दिन उपवास करना चाहिए।

सान्निध्यात्ते महायोगिन्पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सान्निध्यात्—उपस्थिति के कारण; ते—आपकी; महा-योगिन्—हे महान् योगी; पातकानि—सारे पाप; महान्ति—अभेद्य; अपि—के बावजूद; सद्यः—तुरन्त; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—व्यक्ति; विष्णोः—भगवान् की उपस्थिति; इव—सदृश; सुर-इतराः—देवताओं के अतिरिक्त।

जिस प्रकार भगवान् की उपस्थिति में नास्तिक नहीं टिक सकता, उसी तरह हे सन्त, हे महान् योगी, मनुष्य के अभेद्य पाप भी आपकी उपस्थिति में तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं—नास्तिक तथा भगवद्भक्त। चूँकि भगवद्भक्त दैवी गुणों को प्रकट करता है, अतः वह देवता कहलाता है, जबकि नास्तिक असुर कहलाता है। भगवान् विष्णु की उपस्थिति में असुर (राक्षस) टिक नहीं सकता। असुरगण सदा ही भगवान् को नष्ट करने में जुटे रहते हैं, लेकिन तथ्य यह है कि भगवान् ज्योंही अपने नाम, रूप, गुण, लीला, साज-समान, या विविधता के माध्यम से प्रकट होते हैं, त्योंही असुर तत्काल नष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि भगवान् के नाम का कीर्तन करते ही भूत भाग जाता है। बड़े-बड़े सन्त तथा भक्त भगवान् की साज-सामग्री की सूची में सम्मिलित होते हैं और इस प्रकार ज्योंही सन्त-रूपी भक्त उपस्थित होता है कि भूत-सदृश सारे पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। यह सारे वैदिक ग्रन्थों का निर्णय है। अतएव मनुष्य के लिए सन्त भक्तों की ही संगति करने की संस्तुति की जाती है, जिससे सांसारिक असुर तथा भूतप्रेत अपना दुष्प्रभाव न डाल सकें।

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चित रूप से; मे—मुझको; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न; कृष्णः—भगवान्; पाण्डु-सुत—राजा पाण्डु के पुत्र; प्रियः—प्रिय; पैतृ—पिता से सम्बन्धित; स्वसेय—बहन के बेटे; प्रीति—सन्तोष; अर्थम्—के सम्बन्ध में; तत्—उनका; गोत्रस्य—वंशज; आत्त—स्वीकृत; बान्धवः—मित्र के रूप में।

भगवान् कृष्ण जो राजा पाण्डु के पुत्रों को अत्यन्त प्रिय हैं, उन्होंने अपने महान् भाँजों तथा भाइयों को प्रसन्न करने के लिए मुझे भी सम्बन्धी की तरह स्वीकार किया है।

तात्पर्य : एक विशुद्ध अनन्य भगवद्भक्त अपने परिवार की सेवा, झूठे पारिवारिक मामलों में आसक्तों की अपेक्षा, अधिक अच्छे ढंग से करता है। सामान्यतया लोग पारिवारिक मामलों में आसक्त

रहते हैं और मानव समाज का सारा आर्थिक प्रेरक बल पारिवारिक मोह के वशीभूत होकर चलता है। ऐसे मोहग्रस्त लोगों को इतनी जानकारी नहीं रहती कि वे भगवद्भक्त बनकर परिवार की अधिक अच्छी सेवा कर सकते हैं। भगवान् अपने भक्त के पारिवारिक सदस्यों तथा वंशजों को विशेष सुरक्षा प्रदान करते हैं, भले ही ये सदस्य स्वयं अभक्त क्यों न हों! महाराज प्रह्लाद भगवान् के महान् भक्त थे, लेकिन उनका पिता हिरण्यकशिपु घोर नास्तिक तथा घोषित रूप से भगवान् का शत्रु था। किन्तु इतना सारा होते हुए भी, हिरण्यकशिपु को मोक्ष प्रदान किया गया, क्योंकि वह महाराज प्रह्लाद का पिता था। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्त के परिवारजनों को सारी सुरक्षा प्रदान करते हैं, जिससे भक्त को अपने परिवार के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यहाँ तक कि चाहे भक्ति करने के लिए वह ऐसे सदस्यों को छोड़ भी दे। महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाई कुन्ती के पुत्र थे और कुन्ती कृष्ण की बुआ थीं। महाराज परीक्षित महान् पाण्डवों के एकमात्र पौत्र होने के कारण, भगवान् कृष्ण का संरक्षण स्वीकार करते हैं।

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—अन्यथा; ते—आपका; अव्यक्त-गतेः—अदृश्य गतिविधियों वाले का; दर्शनम्—मिलाप, भेंट; नः—हमारे लिए; कथम्—कैसे; नृणाम्—लोगों का; नितराम्—विशेष रूप से; म्रियमाणानाम्—मरणासन्नों का; संसिद्धस्य—परम पूर्ण का; वनीयसः—स्वेच्छा से प्राकट्य।

अन्यथा (भगवान् कृष्ण की प्रेरणा के बिना) यह कैसे सम्भव है कि आप स्वेच्छा से यहाँ प्रकट हुए, जबकि आप सामान्य लोगों से ओझल रहकर विचरण करते हैं और हम मरणासन्नों को दृष्टिगोचर नहीं होते।

तात्पर्य : निश्चित ही महर्षि शुकदेव गोस्वामी भगवान् कृष्ण द्वारा प्रेरित होकर महान् भगवद्भक्त महाराज परीक्षित के समक्ष स्वेच्छा से प्रकट हुए थे, जिससे उन्हें *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा दे सकें। मनुष्य अपने गुरु तथा भगवान् की कृपा से ही भगवान् की भक्ति के सार को प्राप्त कर सकता है। गुरु भगवान् के व्यक्त प्रतिनिधि होते हैं, जो उसे अन्तिम सफलता प्राप्त करने में सहायता करते हैं। जिसे भगवान् अधिकार नहीं देते, वह गुरु नहीं बन सकता। श्रील शुकदेव गोस्वामी प्रधिकृत गुरु थे, अतएव

भगवान् ने उन्हें प्रेरणा दी कि वे महाराज परीक्षित के समक्ष प्रकट हों तथा उन्हें *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाएँ दें। मनुष्य यदि भगवान् के भेजे गये प्रधिकृत प्रतिनिधि का कृपापात्र होता है, तो वह भगवद्धाम जाने की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्योंही भगवद्भक्त की भेंट भगवान् के असली प्रतिनिधि से होती है, त्योंही वह इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने की गारंटी पा जाता है। किन्तु यह भक्त की खुद की निष्ठा पर निर्भर करता है। भगवान् सभी जीवों के हृदयों में विद्यमान हैं, अतएव वे हर व्यक्ति की गतिविधियों से अवगत रहते हैं। ज्योंही भगवान् देखते हैं कि कोई जीव भगवद्धाम जाने के लिए अत्यधिक उत्सुक है, तो भगवान् तुरन्त ही अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार निष्ठावान भक्त का भगवद्धाम जाना सुनिश्चित हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि प्रामाणिक गुरु की सहायता प्राप्त करने का अर्थ है, *साक्षात् भगवान् से प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करना।*

अत: पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अत:—अतएव; **पृच्छामि**—पूछता हूँ; **संसिद्धिम्**—पूर्णता का मार्ग; **योगिनाम्**—सन्तों का; **परमम्**—परम; **गुरुम्**—गुरु; **पुरुषस्य**—पुरुष का; **इह**—इस जीवन में; **यत्**—जो भी; **कार्यम्**—कर्तव्य; **म्रियमाणस्य**—मरणासन्न का; **सर्वथा**—सब प्रकार से।.

आप महान् सन्तों तथा भक्तों के गुरु हैं। अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप सारे व्यक्तियों के लिए और विशेष रूप से जो मरणासन्न हैं, उनके लिए पूर्णता का मार्ग दिखलाइये।

तात्पर्य : जब तक कोई पूर्णता के मार्ग के विषय में पूछने के लिए पूरी तरह उत्सुक न हो, तब तक गुरु के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। गुरु, गृहस्थ के लिए अलंकरण स्वरूप नहीं होते। सामान्यतया फैशनपरस्त भौतिकतावादी बिना किसी लाभ के तथाकथित गुरु नियुक्त कर लेता है। ऐसा छद्म-रूप गुरु तथाकथित शिष्य की चापलूसी करता है और नि:सन्देह इस तरह गुरु तथा शिष्य दोनों ही नरक को जाते हैं। महाराज परीक्षित अच्छे शिष्य थे, क्योंकि वे सबों के लिए और विशेष रूप से मरणासन्न के लिए लाभप्रद प्रश्न पूछते हैं। महाराज परीक्षित द्वारा पूछा गया प्रश्न *श्रीमद्भागवत* के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का मूल सिद्धान्त है। अब हमें देखना है कि महान् गुरु कितनी बुद्धिमत्तापूर्वक इसका उत्तर देते हैं।

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; श्रोतव्यम्—सुनने योग्य; अथो—इससे; जप्यम्—उच्चरित; यत्—जो भी; कर्तव्यम्—किया गया; नृभिः—सामान्यजनों द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; स्मर्तव्यम्—स्मरण करने योग्य; भजनीयम्—पूजा के योग्य; वा—अथवा; ब्रूहि—कृपया बताएँ; यद् वा—जो कुछ भी हो; विपर्ययम्—सिद्धान्त के विरुद्ध।

कृपया मुझे बतायें कि मनुष्य को क्या सुनना, जपना, स्मरण करना तथा पूजना चाहिए और यह भी बतायें कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए। कृपा करके मुझे यह सब बतलाइए।

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—क्योंकि; भगवतः—आपका, जो शक्तिमान हैं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गृहेषु—घरों में; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों का; न—नहीं; लक्ष्यते—देखे जाते हैं; हि—निश्चित ही; अवस्थानम्—ठहराव; अपि—भी; गो-दोहनम्—गाय की दुहाई; क्वचित्—विरले ही।

हे शक्तिसम्पन्न ब्राह्मण, कहा जाता है कि आप लोगों के घर में मुश्किल से उतनी देर भी नहीं रुकते हैं, जितनी देर में गाय दुही जाती है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम में, सन्त तथा मुनि, गृहस्थ के घर प्रात:काल गौवें दुहते समय जाते हैं और अपने उदर-पोषण के लिए कुछ दूध माँगते हैं। गाय का धारोष्ण एक सेर दूध एक प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर-पोषण के लिए पर्याप्त होता है। यह सभी विटामिनों से युक्त होता है, अतएव सन्त तथा मुनि केवल दूध पीकर जीवित रहते हैं। गरीब से गरीब गृहस्थ भी, कम से कम दस गौवें रखता है और प्रत्येक गाय कम से कम १२ से २० क्वार्ट दूध देती है, अतएव कोई भी साधुओं के लिए कुछ सेर दूध देने में हिचक नहीं दिखाता। यह गृहस्थों का कर्तव्य है कि बच्चों की भाँति वे संतों तथा मुनियों का पालन करें। इस तरह शुकदेव गोस्वामी जैसे सन्त को किसी गृहस्थ के द्वार पर प्रात:काल पाँच मिनट से अधिक नहीं रुकना होता। दूसरे शब्दों में, ऐसे सन्त गृहस्थों के घरों में विरले ही देखे जाते हैं, इसीलिए महाराज परीक्षित ने उनसे प्रार्थना की कि जितनी जल्दी हो सके वे उपदेश दें। गृहस्थों को भी इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वे द्वार पर आये हुए मुनि से कुछ दिव्य संदेश प्राप्त कर लें।

गृहस्थ को सन्त से यह नहीं कहना चाहिए कि वे उस चीज के विषय में उपदेश दें; जो बाजार में भी मिलता हो। सन्तों तथा गृहस्थों में पारस्परिक आदान-प्रदान का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए।

सूत उवाच
एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आभाषितः—बोले जाने पर; पृष्टः—तथा पूछे जाने पर; सः—वे; राज्ञा—राजा द्वारा; श्लक्ष्णया—मीठी; गिरा—भाषा से; प्रत्यभाषत—उत्तर देना प्रारम्भ किया; धर्म-ज्ञः—धर्म के सिद्धान्तों को जाननेवाले; भगवान्—शक्तिमान पुरुष; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र ने।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह मीठी भाषा का प्रयोग करते हुए राजा ने बातें कीं तथा प्रश्न किये। तब व्यासदेव के पुत्र जो महान् तथा शक्तिसम्पन्न पुरुष एवं धर्मवेत्ता थे, उन्होंने उत्तर देना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'शुकदेव गोस्वामी का प्रकट होना' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।